['चंड अशोक' के बाद का गुप्तकालीन उपन्यास]

लेखक

धूमकेतु

●

अनुवादक

श्यामू संन्यासी

वोरा एण्ड कंपनी, पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड,

३, राउण्ड बिल्डिंग, कालबादेवी रोड, बम्बई २

• मूल्य : रु. ४·५०

• प्रथम संस्करण
१९५९

• प्रकाशक :
के. के. वोरा,
वोरा एण्ड कम्पनी,
पब्लिशर्स प्रा० लिमिटेड,
३, राउण्ड बिल्डिंग,
कालबादेवी रोड,
बम्बई २.

• मुद्रक :
मुहम्मद शाकिर,
सहयोगी प्रेस,
१४१, मुट्ठीगंज,
इलाहाबाद ३.

प्रस्तावना

'प्रियदर्शी अशोक' नाम का यह उपन्यास गुजराती के लब्धप्रतिष्ठ उपन्यासकार 'धूमकेतु' की गुप्तकालीन उपन्यास-माला के अन्तर्गत 'चंड अशोक' के बाद, उसी के सातत्य में, आठवाँ उपन्यास है। कथानक की दृष्टि से बिलकुल स्वतंत्र होते हुए भी इसे 'चंड अशोक' का उत्तरार्द्ध कहा जा सकता है।

इस उपन्यास में देवानांप्रिय महाराज प्रियदर्शी अशोक के जीवन के अन्तिम वर्षों की घटनाओं का ताना-बाना लेकर कथावस्तु की बुनावट की गई है। अशोक की शान्ति नीति, भारत में ही नहीं, भारत के बाहर भी प्रचारित और सम्मानित हो चुकी थी। लेकिन शान्ति के अतिरेक ने विदेशी आक्रमण के भय को पहले से अधिक बढ़ा दिया था। मगध महाराज्य के प्रादेशिक भी स्वतंत्र होने के लिए प्रयत्नशील थे। महामात्य राधागुप्त की चिन्ता का मुख्य विषय यही था। महाराज अशोक धार्मिक मामलों में भिक्षु उपगुप्त से और घरेलू मामलों में अपनी ही युवती रानी तिष्यरक्षिता से प्रभावित थे। अपरूप सुन्दरी तिष्यरक्षिता के लिए अशोक केवल ओट की तरह थे। वह कामातुरा युवती कुणाल पर अनुरक्त थी और उसे पति या प्रियतम के रूप में पाना चाहती थी। परन्तु कुणाल अपने पिता का परम भक्त और शीलवान राजकुमार था। तिष्यरक्षिता की उत्कट प्रेम-लालसा

और कुणाल के वीरोचित संयम ने एक ऐसी मनोवैज्ञानिक गुत्थी का निर्माण कर डाला, जिसे सफलतापूर्वक निबाह ले जाना किसी भी कथाकार के लिए बड़ा ही दुष्कर साहित्यिक कर्म होता है। 'धूमकेतु' ने बड़ी ही कुशलता से इस स्थिति का निर्वाह किया है। तिष्यरक्षिता के स्वभावगत समस्त दोषों का उद्घाटन करते हुए भी लेखक ने इस सशक्त चरित्र को अपने हृदय की करुणा और स्नेह और सहानुभूति भी प्रदान की है। जालौक भी उपन्यास का एक ऐसा ही मनोवैज्ञानिक पात्र है। परन्तु कुणाल की सतह और क्षमा-शीलता तक कोई भी चरित्र पहुँच नही पाता। अपने अन्धेपन का कारण जानते हुए भी उसके मन में रोष नहीं है और न प्रतिहिंसा ही। 'प्रियदर्शी अशोक' का मूल सन्देश भी यही है—अवैर से वैर को, अहिंसा से हिंसा को, क्षमा से अपराध को जीतो और इस धरती को स्वर्ग में परिवर्तित कर दो। आज के मार-धाड़ के युग में समस्त मानवता को यह शान्ति-सन्देश सुखकर प्रतीत होगा।

'धूमकेतु' की गुप्तकालीन उपन्यास-माला में 'वैशाली', 'नगर-सुन्दरी', 'मगधपति', 'महामात्य चाणक्य', 'चन्द्रगुप्त मौर्य', 'सम्राट चन्द्रगुप्त', 'चंड अशोक' और 'प्रियदर्शी अशोक' प्रकाशित हो चुके हैं; और 'राज्य क्रान्ति', तथा 'सेनापति पुष्यमित्र' भी शीघ्र ही पाठकों के कर-कमलों में समर्पित किये जायेंगे।

सूची

प्रवेश

कलिंग की विजय के पश्चात् महाराज अशोक के विचारों और दृष्टिकोण में आमूल परिवर्तन हो गया था। युद्ध से वह घृणा करने लगे थे। शस्त्रास्त्रों के द्वारा विजय-लाभ उनके मन हीनकोटि का अकरणीय कार्य हो उठा था। अब वह हर समय मनुष्य के मन को जीतने के उपाय सोचने लगे थे।

सोचते-सोचते वह इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि मनुष्य को केवल प्रेम और मानवता से ही जीता जा सकता है। शस्त्रास्त्रों की विजय कभी स्थायी और सत्य नहीं हो सकती। सेना और हथियारों की सहायता से कलिंग जीता गया, परन्तु वहाँ के मनुष्य को तो जीता नहीं जा सका; वह बना रहा वैसा ही अजेय, और अविजित। कल प्रतिशोध से प्रेरित होकर वह पुनः चुनौती दे सकता था, युद्ध छेड़ सकता था। ऐसी विजय से लाभ ही क्या? मनुष्य के मन को जीतना ही वास्तविक विजय है; मनुष्य को जीते बिना देशों की विजय व्यर्थ होगी। और मनुष्य को जीतने का केवल एक ही मार्ग है—प्रेम और मानवता।

इस सत्य की प्रतीति होते ही महाराज का समस्त जीवन और जीवन के प्रति उनकी दृष्टि और विचारधारा भी बदल गयी। भोजनशाला में जहाँ प्रतिदिन सैकड़ों पशु आमिष भोजन के लिए मारे जाते थे, अब मांसाहार सर्वथा बन्द कर दिया गया था।

मथुरा के साधु उपगुप्त के उपदेशों का भी महाराज के जीवन पर बड़ा गहन प्रभाव पड़ा। उसने कहा—महाराज, विश्व-शान्ति का केवल एक ही मार्ग है—समस्त विश्व को अपना समझना; मानव की, उसके गौरव और गरिमा की पूर्ण प्रतिष्ठा करना। भगवान तथागत का यही उपदेश है।

महाराज अशोक भगवान बुद्ध के भिक्खु-पंथ की ओर प्रवृत्त हुए। उन्होंने

नियमानुसार प्रव्रज्या तो नहीं ग्रहण की, परन्तु भिक्खुओं के आचरण और वृत्ति को पूर्णरूपेण अपना लिया। भिक्खु जिस भाँति किसी को अप्रिय नहीं समझते, सभी को स्वजन और मित्र समझते हैं, प्रेम की भीख के लिए हर क्षण आतुर रहते हैं, उसी भाँति महाराज अशोक के मन भी अब कोई रिपु या शत्रु नहीं रह गया, न कोई ऐसा प्रदेश बचा जिसे प्रेम से जीता न जा सके।

विद्रोह, लूट-पाट और खून-खच्चर के लिए हर समय प्रस्तुत रहनेवाले आटविकों (जंगलियों) को भी महाराज अशोक ने प्रेम का सन्देशा भेजा और उन्होंने उसको सहर्ष स्वीकार कर लिया। जहाँ सेना और हथियारों की भाषा बार-बार असफल रही वहीं प्रेम की भाषा सफल हो गयी।

यह सफलता सामान्य नहीं थी। मनुष्यों के पारस्परिक प्रेम-सम्बन्धों की ही महान विजय थी। इससे प्रेरित होकर महाराज अशोक ने देश-देशान्तरों और समुद्रपार के देशों तक अपने प्रेम-सन्देश को प्रचारित करने का दृढ़ संकल्प कर लिया। उनके आध्यात्मिक साम्राज्य का विस्तार और क्षेत्रफल बढ़ता ही गया। इस पुनीत कार्य के लिए महाराज ने अपने पुत्र-पुत्री, भाई-भतीजे और बहिन-भांजे सभी को धर्म का सन्देशवाहक बना दिया। महेन्द्र ताम्रपर्णी गया। संघमित्रा भी उसके साथ गयी। तिष्यकुमार भिक्खु बन गया। महाराज के भाई सुमनकुमार के पुत्र ने भी प्रव्रज्या ग्रहण की। नगर-नगर, गाँव-गाँव, बस्ती-बस्ती प्रेम के अनेकों सन्देशवाहक निकल पड़े। रणभेरी की गूँज बन्द हो गयी। धर्मघोष गूँजने लगा। मृगया-विहार के स्थान पर अब महाराज अशोक जनपदों में अपने विचारों और आदर्शों का प्रचार करने के लिए धर्म-यात्राएँ करने लगे। उन्होंने भगवान तथागत के जीवन और कृतित्व से सम्बन्धित सभी स्थानों की पैदल यात्राएँ कीं और जहाँ भी गये अपने विचारों को शिला-लेखों पर उत्कीर्ण करवाया।

भारतवर्ष के एक कोने से दूसरे कोने तक ये स्वर गूँज उठे :

"जितने मनुष्य कलिंग-युद्ध में मारे गये उनका सहस्रांश भी यदि अब कहीं मनुष्यों अथवा प्रदेशों को जीतने के लिए मारा गया तो देवानांप्रिय राजा प्रियदर्शी को असीम दुःख होगा....

"हिंसा से विजय प्राप्त नहीं होती। हिंसा से कोई किसी को जीत नहीं

सकता। हिंसा केवल वैर की जननी है। और वैर की वह्नि युग-युगों तक मानव-मन में प्रज्वलित होती रहती है; इसलिए देवानांप्रिय राजा प्रियदर्शी अशोक प्रार्थना करते हैं कि सब सब को अभय प्रदान करें...."

अहिंसा और अमार के विचारों के आचरण और प्रचार के कारण भारतवर्ष स्वर्ग से समता करने लगा। राजमार्ग शीतल छायाओं से आच्छादित हो उठे। थोड़ी-थोड़ी दूरी पर पान्थशालाएँ निर्मित हो गयीं। जनपदों में औषधालयों एवं पशु-चिकित्सालयों का जाल बिछ गया। जन-समाज में निरर्थक विलास के स्थान पर मानव-सेवा का सार्थक उत्साह दृष्टिगोचर होने लगा।

महाराज के धर्म-महामात्य निरन्तर यात्राएँ करते रहते और जो भी दुःख-क्लेश, आपत्ति-विपत्ति और संकट में होता उसे बिना किसी भेदभाव के आश्वासन देने और उसका दुःख दूर करने पहुँच जाते थे।

राम-राज्य की पुनर्स्थापना का भगीरथ अनुष्ठान आरम्भ हो गया था। मानव की प्रतिष्ठा की जा रही थी। 'मनुष्य को समझो, और उसे समझाओ; मनुष्य की बेसुध आत्मा को जाग्रत करो, उसे प्रेम प्रदान करो, दिल को दिल से जीतो; क्योंकि मनुष्य से श्रेष्ठ और कोई नहीं है।' चारों ओर यही ध्वनि गूँजने लगी।

पड़ोसी राजा चाहे स्वतन्त्र हों, मित्र हो या अमित्र—महाराज अशोक उनके यहाँ भी चिकित्सालयों की स्थापना करवाते थे। मानव-कल्याण की पुनीत भावना से प्रेरित राजा के लिए कोई भी प्रदेश विदेश नहीं रह गया था। उनके राज्य की सभी सीमाएँ टूट चुकी थीं और केवल एक राज्य रह गया था, जिसका नाम था मानव-राज्य।

लेकिन मानव-प्रेम और लोक-कल्याण के इन महत् प्रयत्नों का दुरुपयोग भी प्रचुर परिमाण में हो रहा था। कई प्रदेशों ने इसे महाराज अशोक की दुर्बलता समझा। उनके मन में यह धारणा पुष्ट हुई की मगध की सेना निर्बल है, इसलिए अपनी सेना संगठित करो, उसे शक्तिशाली बनाओ। गांधार और योन-जैसे सीमावर्ती प्रदेशों में यह धारणा बहुप्रचलित हो गयी थी। अन्यत्र भी कहीं विद्रोह हुए, और कहीं अवसर की प्रतीक्षा की जाने लगी। परन्तु महाराज अशोक अपने धर्म-पथ से रंचमात्र भी विचलित नहीं हुए। काश्मीर में विद्रोह

का संगठन किया जा रहा था, लेकिन महाराज ने वहाँ पाँच सौ संघारामों का निर्माण करवाया और श्रीनगर-जैसा रम्य सुन्दर नगर बसाया।

कई विदेशी आक्रान्ता भी सेना संगठित कर आक्रमण के अवसर की प्रतीक्षा करने लगे थे, परन्तु महाराज अशोक ने तो उनके यहाँ भी—अपने साम्राज्य की सीमा से छह-छह सौ योजन दूर तक—अपने धर्म-प्रचारक भेजे और विश्व-शान्ति तथा अहिंसा का प्रचार करवाया।

अपने देश में उन्होंने स्थान-स्थान पर शिलालेख स्थापित करवाये। उनके समस्त परिजन उनके शुभ कार्यों में सहायक थे। तभी सहसा महारानी असंधिमित्रा का स्वर्गवास हो गया। महाराज अशोक तो इस आघात से संज्ञाशून्य ही हो गये। परन्तु महारानी असंधिमित्रा की दासी तिष्यरक्षिता ने अपने प्रेम, सहानुभूति और मृदुता से महाराज के विह्वल मन को सान्त्वना प्रदान की। तिष्यरक्षिता की अपार सेवा और प्रेम ने महाराज अशोक को विचलित होने से बचा लिया। तिष्यरक्षिता अशोक के अन्तःपुर की प्रमुख महिषी बन गयी।

महाराज अपने आदर्शों और विचारों का निरन्तर प्रचार और प्रसार करते जा रहे थे। लेकिन जहाँ प्रेम, अहिंसा और पारस्परिक सद्भावना के उत्कृष्ट मानवी गुण प्रचारित हो रहे थे, वहीं मानवी दुर्बलताएँ अभी तक बद्ध-मूल थीं और अपने घिनौने सिर उठाने का अवसर देख रही थीं। काश्मीर, गांधार और तक्षशिला में पूर्ण शान्ति नहीं थी और उस प्रदेश का प्रादेशिक महाप्रचंड सेनापति जालौक तो शान्ति और अहिंसा का कट्टर शत्रु ही था। उसे प्रेम की भाषा की अपेक्षा शस्त्रों की भाषा ही अधिक प्रिय थी।

महाराज अशोक के जीवन के अन्तिम वर्षों में इस स्थिति ने और भी विकट रूप धारण कर लिया था। ऊपर-ऊपर शान्ति थी, परन्तु भीतर-भीतर विरोध, विद्रोह और अशान्ति का लावा खौल रहा था।

महाराज अस्वस्थ रहने लगे थे। ऐसा प्रतीत हो रहा था कि अब वह अधिक समय जीवित नहीं रह सकेंगे। ऐसे समय राधागुप्त ने गांधार-तक्षशिला की वास्तविक स्थिति की जानकारी प्राप्त करने के लिए काश्मीर के प्रादेशिक जालौक को गुप्त रीति से पाटलिपुत्र बुलवाया।

वह पाटलिपुत्र आता है और वहीं से इस उपन्यास का आरम्भ होता है।

१ :: पाटलिपुत्र का नया यात्री

मगध-साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र में प्रतिदिन सैकड़ों और हजारों यात्री आते रहते थे। अंग, बंग, कलिंग और सौराष्ट्र से तथा ताम्रलिप्ति, विदिशा और अवन्ती-जैसे प्रमुख नगरों से भी यात्रियों के आने का ताँता लगा रहता था। कोई राज-कार्य से आता था तो कोई शिल्प-उद्योग के लिए। पाटलिपुत्र को देखने के शौकीन भी कई आते थे। व्यवसाय-वाणिज्य के लिए आनेवाले सार्थवाहों की तो कोई गिनती ही नहीं थी। भारत के कोने-कोने से ही नहीं, विदेशों से भी अनेक यात्री प्रतिदिन इस अनुपम नगर में आते रहते थे।

हिमवन्त प्रदेश के उस पार के देशों के लोग तो पाटलिपुत्र को ही भारतवर्ष समझते थे। उनकी यह मान्यता एक हद तक ठीक भी थी। पाटलिपुत्र समस्त भारतवर्ष का केन्द्रीय नगर बन चुका था। पाटलिपुत्र का दुर्ग, उसके प्रासाद, हर्म्य, पण्य-वीथिकाएँ सभी कुछ अनुपम था। विदेशी आक्रान्ता भी इस बात को समझते थे कि जब तक पाटलिपुत्र पर अधिकार नहीं हो जाता, भारतवर्ष को जीतना असम्भव ही है। इसलिए उनके गुप्तचर भी नाना वेशों और नाना रूपों में पाटलिपुत्र आते रहते थे। यह नगर उस समय की समस्त सभ्य दुनिया का मुख्य आकर्षण बन चुका था।

प्रतिदिन सवेरे पाटलिपुत्र के मुख्य प्रवेश-द्वार के आगे नवागन्तुकों का मेला ही लग जाता था; क्योंकि एक याम रात बीतते ही सभी प्रवेश-द्वार बन्द कर दिये जाते थे और देर में पहुँचनेवालों को रात बाहर ही बितानी पड़ती थी। और इसलिए सवेरा होते ही, नगर में शीघ्र प्रवेश पाने के लिए, सभी यात्री मुख्य प्रवेश-द्वार पर आ जुटते थे।

उन दिनों पाटलिपुत्र पहुँचने के दो मार्ग थे—एक स्थल-मार्ग और दूसरा जल-मार्ग। सिन्धु, गंगा, यमुना, हिरण्यवती, अचिरवती आदि सभी नदियों का उपयोग जल-मार्ग के रूप में प्रचुरता से किया जाता था। उत्तरापथ के अधिकांश यात्री जल-मार्ग से ही पाटलिपुत्र आते थे। इस जल-मार्ग की सुरक्षा के लिए स्थान-स्थान पर चौकियाँ बनी हुई थीं। चौकियों पर नियुक्त नौकापति आती-जाती सभी नौकाओं पर तीक्ष्ण दृष्टि रखते थे। वाणिज्य-पोतों की तो प्रत्येक चौकी पर तलाशी ली जाती थी। हिमवन्त के उस पार के विदेशी यात्रियों की सुरक्षा और जाँच-पड़ताल के लिए एक अलग अधिकारी नियुक्त था। इसका एक कारण तो यह था कि प्रत्येक विदेशी यात्री भारत में अतिथि माना जाता था और उसकी सुरक्षा एवं सुख-सुविधा का दायित्व उस समय की सरकार पर था। दूसरा कारण यह था कि इस तरह की व्यवस्था के कारण कोई भी विदेशी छिपकर पाटलिपुत्र में प्रवेश नहीं कर सकता था। भारतवर्ष की सीमा में प्रवेश करते ही स्थल और जल दोनो मार्गों की सभी रक्षा-चौकियों पर उसका नाम अंकित होता जाता था और पाटलिपुत्र पहुँचने के बहुत पहले ही प्रतिवेदक उसके आगमन की सूचना राजा को दे देते थे।

उत्तरापथ का यह जल-मार्ग उन दिनों बड़ा ही महत्वपूर्ण था। पुरुषपुर, तक्षशिला, कपिशा, काश्मीर, गांधार, कम्भोज, योन, पारस और ठेठ मिस्र देश के विदेशी यात्री इसी मार्ग से पाटलिपुत्र पहुँचते थे। निरापद और सुरक्षित होने के साथ ही इस मार्ग पर गर्मी का उतना कष्ट नहीं था और परिश्रम भी कम पड़ता था। नौकाओं के लिए थोड़ी-थोड़ी दूर पर विश्राम-स्थल बने हुए थे। इसलिए यह मार्ग रात-दिन चलता रहता था।

एक दिन इसी मार्ग पर एक नौका सर्राटे से पाटलिपुत्र की ओर बढ़ी जा रही थी। आकार-प्रकार में यह नौका अन्य सभी नौकाओं से भिन्न और छोटी थी। वाणिज्य-नौका तो नहीं ही थी, यात्री-नौका भी नहीं प्रतीत होती थी। इसमें मुश्किल से तीन-चार आदमियों के बैठने का स्थान था। इससे लगी हुई दूसरी नौका में अश्व थे, जिनसे पता चलता था कि यह किसी प्रादेशिक, अन्तपाल अथवा कुमारामात्य की नौका होनी चाहिए। नौका के अग्रभाग में ध्वज-दंड पर फरफराती मयूर-पताका इस धारणा की पुष्टि कर रही थी।

अन्य नौकाओं के नाविक और यात्री इस नौका को बड़े कुतूहल के साथ देख रहे थे। कई लोग तो मारे उत्सुकता के अपनी नौकाओं में खड़े भी हो जाते थे। विश्राम-स्थल और रक्षा-चौकी के आने पर लोगों का कुतूहल और भी बढ़ जाता था। लेकिन यह नौका कहीं रुकती नहीं थी। मानो किसी रोक-टोक और जाँच-पड़ताल की परवाह ही न हो इस प्रकार सपाटे से आगे बढ़ती चली जा रही थी। धीरे-धीरे वह अन्य सभी नौकाओं को पीछे छोड़कर बहुत आगे निकल आयी।

पवन अनुकूल था। पालें सब खुली हुई थीं। फिर भी नाविक तेजी से डाँड़ें चला रहे थे। ऐसा लगता था मानो नाव के मालिक को पाटलिपुत्र पहुँचने की बड़ी जल्दी हो। वह अँधेरा होने के पहले ही पाटलिपुत्र पहुँच जाना चाहता था और इसलिए पूरा जोर लगा रहा था और नाव भी क्षिप्रता से भागी जा रही थी। परन्तु शाम होने को थी और अभी बहुत-सा मार्ग शेष था।

दूर पर पाटलिपुत्र के सतमंजिले महलों के कलश चमक रहे थे। स्वर्ण कलशों और रत्नजटित मयूरों पर पड़ती सान्ध्य सूर्य की रक्तिम किरणें दर्शक के मन को मोह रही थीं। परन्तु देखते-ही-देखते यह स्वर्ण शोभा अदृश्य होने लगी और क्षितिज की कोर से अन्धकार की कज्जल रेखा उतरने लगी। थोड़ी ही देर में स्वर्ण मयूरों के रत्नों की शोभा मन्द पड़ती-पड़ती अन्धकार में विलीन हो गयी।

नौका के पृष्ठ भाग में सुखासन पर बैठा एक युवक बड़े व्यग्र भाव से इस दृश्य को देख रहा था। सहसा वह अपने स्थान से उठा और नौका के अग्र-भाग में बिलकुल सूच्याग्र पर खड़े होकर पाटलिपुत्र नगर की ओर अधीरता-पूर्वक देखने लगा। नगर के कोट, कंगूरे और कलश अब भी दिख रहे थे और प्रतिक्षण क्षितिज से उतरती अन्धकार रेखा उन्हें अपने अन्दर समेटती जा रही थी।

थोड़ी देर बाद उसने नाविक की ओर मुड़कर कहा—क्यों विचित्र, एक याम रात्रि बीतने से पहले पहुँचा जा सकेगा ? एक याम रात के बाद तो दुर्ग-द्वार बन्द हो जायेंगे; और फिर पहुँचना-न पहुँचना एक-जैसा होगा। रात-भर बाहर पड़े रहना होगा। कोई द्वार खोलेगा नहीं।

'पहुँच जायेंगे, प्रभु !' नाविक ने इतना ही कहा और वह तथा उसके साथी जोर-जोर से डाँड़ें चलाने लगे। क्योंकि पवन धीमा पड़ गया था और पाल काम नहीं दे रहे थे।

२ : : काश्मीर का प्रादेशिक

विचित्र का परिश्रम अन्त में सार्थक होता प्रतीत हुआ। पाटलिपुत्र का मुख्य-द्वार बन्द होने को ही था, काष्ठ-सेतु को समेटने का आदेश दिया ही जाने-वाला था कि एक अश्वारोही जल्दी-जल्दी घोड़ा दौड़ाता वहाँ आ पहुँचा। वह उसी समय नगर में प्रवेश करना चाहता था। कमर में किसी वस्तु को टटोलते हुए उसने उच्च स्वर में द्वारपाल से कहा—द्वारपाल, दो क्षण रुक जाओ। मेरे पास नगर-प्रवेश के हेतु परिचय मुद्रा है।

द्वारपाल रुक गया। उस व्यक्ति को देखकर उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। आगन्तुक रूप-रंग से राजकुलोत्पन्न प्रतीत होता था। उसका स्वर और बोलने का ढंग आदेशात्मक था। उसका अश्व उच्चकोटि का, वनायु जाति का था। निश्चय ही वह कोई उच्च पदस्थ अधिकारी था। परन्तु ऐसे किसी अधिकारी के आज नगर-प्रवेश की सूचना द्वारपाल को किसी ने भी नहीं दी थी; इसलिए वह थोड़ा असमंजस में पड़ गया और सोचने लगा कि यह कौन हो सकता है।

द्वारपाल अपने अनुभव से जानता था कि जब दुर्ग-द्वार बन्द हो रहा हो उस समय इस प्रकार के आगन्तुक को नगर में प्रवेश न करने देना ही निरापद होता है। लेकिन न जाने क्यों वह उस यात्री को मना न कर सका। तभी आगन्तुक अश्वारोही ने अपनी परिचय-मुद्रा द्वारपाल के आगे कर दी। द्वार-पाल ने दीपिका के प्रकाश में उसे देखा और चकित रह गया। आगन्तुक ठेठ काश्मीर से चला आ रहा था। वह वहाँ का प्रादेशिक था और तत्काल नगर में प्रविष्ट हो सके इस आशय की महामात्य की विशेष मुद्रा लिये हुए था।

द्वारपाल ने काश्मीर के प्रादेशिक का नाम तो सुन रखा था, परन्तु पहचानता नहीं था; क्योंकि वह यहाँ कभी आया नहीं था। वह काश्मीर में, सेल्यूकस के पौत्र अन्तियोक के राज्य की सीमा पर अवस्थित, महाराज अशोक के सीमावर्ती प्रदेश का अधिपति था। द्वारपाल ने उसके बारे में कई बातें सुन रखी थीं।

पाटलिपुत्र में इस प्रादेशिक का नाम विरोध-भाव से ही लिया जाता था। जब सारा देश महाराज अशोक की शान्ति और अहिंसा की नीति का समर्थक था, धर्म पर आचरण करता था, यह प्रदेशपति उस नीति को सन्देह की दृष्टि से देखता और विदेशियों से सशंकित रहता था।

महाराज अशोक ने अपनी नयी मानवतावादी प्रेम-नीति से पारस्परिक भयों और सन्देहों को लगभग निर्मूल कर दिया था। युद्ध और कठोरता को लोग पशुता समझने लगे थे। राजकाज हो या व्यक्तिगत, पारिवारिक व्यवहार सर्वत्र प्रेम और मधुरता का आचरण किया जाने लगा था। लोग वृक्ष, वनस्पति और पशुओं को भी स्वजन की भाँति समझने और स्नेह करने लगे थे। मानव-कल्याण की अनेक योजनाएँ कार्यान्वित की जा रही थीं। पुरुष-पुर से ताम्रलिप्ति तक जो भी पथिक यात्रा करता उसे मार्ग में कहीं कष्ट न होता; राजपथ वृक्षों की छाया से ढके हुए थे, स्थान-स्थान पर पान्थशालाएँ, जलाशय और चिकित्सालय बना दिये गये थे। महाराज अशोक के ऐसे मानवतावादी और लोक-प्रेम से भरे हुए विचारों में काश्मीर के प्रादेशिक की संशय-नीति विसंवादी स्वर की भाँति कर्कश प्रतीत होती थी।

लोग कहने लगे थे कि काश्मीर का प्रादेशिक धर्म-घोषणाओं के स्थान पर युद्ध-घोषणाएँ करता है, जो अनुचित है, निर्धारित नीति के प्रतिकूल है। यद्यपि यह बात भी सत्य थी कि उसकी वीरता और दृढ़ता के कारण किसी विदेशी आक्रान्ता को महाराज अशोक के उत्तर-पश्चिमी सीमान्त पर आक्रमण करने का साहस नहीं होता था। दो-एक ने साहस किया भी तो इस प्रादेशिक के कारण उन्हें मुँह की खानी पड़ी। परन्तु उसकी इस नीति के कारण महाराज अशोक की शान्ति नीति को, जो भारत के बाहर विदेशों में भी प्रसारित हो रही थी, बड़ी क्षति पहुँचती थी। यवन, मिस्र और मकदूनिया में कहा जाने लगा था कि महाराज अशोक अपने ही प्रदेश में धर्मनीति का सफलता से प्रयोग नहीं कर पाते और उनके प्रचारक यहाँ आकर शान्ति की डींगें हाँकते हैं!

उस प्रादेशिक को अपने सामने अकेला, बिना संगी-साथी और सैनिकों के, नितान्त अकेला खड़ा देखकर द्वारपाल को बड़ा आश्चर्य हुआ। वह

निर्णय नहीं कर पा रहा था कि उसे नगर में प्रवेश करने दे या नहीं ! किसी सेनानायक अथवा वरिष्ठ अधिकारी से पूछने या सलाह करने का अवसर भी नहीं था। तब द्वारपाल ने अनुमान लगाया कि महामात्य राधागुप्त ने ही इसे बुलाया होगा।

निश्चय ही महामात्य राधागुप्त ने ही उसे बुला भेजा था। अशोक की धर्मनीति के सम्बन्ध में विदेशों में जो लोकापवाद चल निकला था उसका निराकरण करने के लिए राधागुप्त ने उसे चुपचाप पाटलिपुत्र बुलाया था। काश्मीर से वह चुपचाप, तक्षशिला विद्यालय जाने के बहाने, चला था और चुपचाप ही लौट जाने को था, जिसमे उसकी अनुपस्थिति में काश्मीर प्रदेश में विद्रोह न भड़क उठे।

महाराज अशोक के निरन्तर सहवास में रहने के कारण राधागुप्त पर भी उनकी धर्म-घोषणाओं का बड़ा गहन प्रभाव पड़ा था। वह मानने लगा था कि अहिंसा और शान्ति के द्वारा देशों और जातियों के बीच के पारस्परिक संघर्ष को शान्त किया जा सकता है। परन्तु साथ ही वह इस नीति के अतिरेक के दुष्परिणाम भी देख रहा था। आक्रमणकारी अभी तक अपने दुराग्रह पर डटे हुए थे। देश में सैनिक तैयारियाँ नहीं के बराबर थीं। यदि किसी ने आक्रमण कर ही दिया और आक्रान्ता के आगे शान्ति और अहिंसा की नीति विफल हो गयी तो देश को या तो नष्ट हो जाना पड़ेगा या गुलामी का जुआ गले में पहनना होगा। जब तक महाराज अशोक जीवित थे इस तरह की कोई आशंका नहीं थी। उनके अलौकिक प्रभाव के कारण आक्रमण का किसी को साहस ही नहीं होता। परन्तु उनके बाद क्या होगा ? और यही चिन्ता लकड़ी में लगे घुन की भाँति राधागुप्त के हृदय को खाये जा रहा थी। जब महाराज नहीं होंगे, उनका प्रभाव नहीं रहेगा तब आक्रमणकारी को कौन रोक सकेगा ? उस समय साम्राज्य किस तरह टिका रहेगा ?

परन्तु जैसे ही वह महाराज अशोक के समीप जाता और उनकी बातें सुनता तो उसकी सभी शंकाओं का सामाधान हो जाता था और उसे लगता था कि वह भी धर्म-महामात्य बनकर शान्ति और अहिंसा का प्रचार करने के लिए निकल पड़े। परन्तु दूसरे ही क्षण उसके अन्दर बैठा हुआ मगध का

महामात्य प्रबल हो उठता और वह अनेक प्रकार की दुश्चिन्ताओं से ग्रस्त हो जाता था।

राधागुप्त अपने अनुभव से इस बात को जानता था कि महाराज अशोक के सान्निध्य में जो भी आता वह उनके विचारों से प्रभावित हो जाता और तदनुकूल आचरण करने लगता था। इसी लिए राधागुप्त ने काश्मीर के उस प्रादेशिक को बुला भेजा था। महाराज के सान्निध्य मे उसे धर्म-घोषणाओं का महत्व समझाकर उसकी शंकाओं और उग्रताओं को शान्त करने का प्रयत्न क्यों न किया जाये। यदि बात उसकी समझ में आ गयी तो वह आक्रमण-कारियों को वश में रखने की नयी नीति का अवलम्बन कर सकेगा। और यह भी पता लगा लिया जाये कि यदि किसी ने आक्रमण कर ही दिया तो क्या करना उचित होगा? पाटलिपुत्र की उस समय क्या नीति होनी चाहिए? इन दोनों बातों के अतिरिक्त राधागुप्त को एक तीसरी चिन्ता और भी थी। उसके सुनने में आया था कि यह प्रादेशिक अपने-आपको मगध-साम्राज्य का उत्तरा-धिकारी मानने लगा था। उसके ऐसा मानने का कोई कारण तो बताया नहीं गया था, परन्तु उसकी यह मान्यता निश्चय ही भयंकर थी और भविष्य में किसी भी दिन मगध-साम्राज्य के विध्वंस का कारण बन सकती थी। प्रादेशिक की इस महत्वाकांक्षा को दबाना आवश्यक था, क्योंकि उससे भी अधिक महत्वाकांक्षिणी तो उसकी रानी ईशानदेवी थी और उनका प्रदेश विदेशी आक्रमणकारियों की सीमा से लगा हुआ था।

यही सब सोचकर राधागुप्त ने उसे पाटलिपुत्र बुला भेजा था।

द्वारपाल का अनुमान सत्य ही था। उसने आगन्तुक की मुद्रा को एक बार फिर ध्यानपूर्वक देखा। उसे विश्वास हो गया कि आगन्तुक काश्मीर का प्रादेशिक ही है और महामात्य ने उसे बुलाया है और अविलम्ब नगर-प्रवेश की अनुमति प्रदान की है।

उसने आदरपूर्वक नमस्कार किया और एक ओर हटकर मार्ग दे दिया।

मार्ग मिलते ही अश्वारोही दुर्ग-द्वार में प्रविष्ट हो गया।

अन्दर आकर वह थोड़ी देर ठिठका खड़ा रहा। नगर की सम्पन्नता और वैभव ने उसे चकित कर दिया था। अपने पहाड़ी प्रदेश में ऐसा ठाठ-बाट उसने

कभी नहीं देखा था। और यहाँ तो वह पहली ही बार आ रहा था।

कुछ देर नगर की शोभा देखते रहने के बाद उसने द्वारपाल से पूछा—महामात्य राधागुप्त का आवास....

'प्रभु, पश्चिम दिशावाले पथ पर जो तीसरा महान आवास है वही....उसका शिखरदीप तो वह देखिए, यहीं से दिखाई पड़ रहा है।'

युवक अश्वारोही ने उधर दृष्टि घुमायी तो स्वर्ण मयूर की कलगी में दीपक जगमगा रहा था। वह मुग्ध होकर उस दीपशिखा की ओर नगर की अनुपम शोभा को देखता रहा और तब उसके मुख से निकल पड़ा—अद्भुत !

फिर उसने अपने अश्व की वल्गा महामात्य के आवास की ओर मोड़ दी।

३ : : जालौक का परिचय

काश्मीर का प्रादेशिक जालौक महामात्य राधागुप्त के प्रासाद के समीप आकर रुक गया। वह अपने अश्व से नीचे उतरा और द्वारपाल के हाथ में अपनी मुद्रिका देते हुए बोला—जाओ, महामात्य को दो और कहना कि मैं अभी ही मिलना चाहता हूँ; ठेठ काश्मीर से चला आ रहा हूँ और बड़ा ही महत्वपूर्ण कार्य है।

आश्चर्यचकित द्वारपाल अन्दर चला गया। मुद्रिका देखकर राधागुप्त को भी विस्मय हुआ। उसने स्वप्न में भी नहीं सोचा था कि प्रदेशपति इतनी जल्दी आ पहुँचेगा। अवश्य वह आज्ञा पाते ही चल पड़ा होगा, एक क्षण का भी विलम्ब नहीं किया होगा, तभी इतना शीघ्र पहुँच गया है।

उसका इतना शीघ्र चले आना राधागुप्त को बड़ा अर्थपूर्ण लगा। उसने जालौक के सम्बन्ध में कई बातें सुन रखी थीं और उनमें एक यह भी थी कि वह अपने-आपको मगध-साम्राज्य का उत्तराधिकारी मानता है। जालौक की मुद्रा हाथ में लेते ही राधागुप्त को महाराज अशोक के युवाकाल से सम्बन्धित एक घटना भी याद हो आयी। उन दिनों महाराज का स्वभाव अत्यन्त उग्र और प्रचंड था। एक अपरूपसी सुन्दरी ने अपने प्रेम, समर्पण और माधुर्य से महाराज की उग्रता को वश कर रखा था। दोनो के गुप्त प्रेम के परिणाम-स्वरूप एक शिशु का जन्म हुआ। मा तो मर गयी, परन्तु अपने पुत्र के अधि-

कार की रक्षा के लिए गुप्त लिपि में एक तावीज छोड़ती गयी। उस तावीज में बालक का नाम जालौक लिखा हुआ था और वह तावीज इस समय भी राधा-गुप्त के अधिकार में था।

राधागुप्त सोचने लगा कि क्या यह जालौक वही बालक है, या कोई अन्य है ? यदि वही है तब तो निश्चय ही अशोक की औरस सन्तान है। परन्तु अशोक का कुमार ही क्यों न हो, अभी तो उत्तराधिकारवाली इसकी बात को दबाना होगा। उसे काश्मीर का प्रदेशपति मानकर ही मिलना और शान्ति तथा अहिंसा की नीति का वह अनुसरण करे, इस बात को देखना होगा।

उसने द्वारपाल को आदेश दिया कि आगन्तुक को तत्काल उपस्थित किया जाये। द्वारपाल चला गया और राधागुप्त विचारों मे मग्न हो गया। उसने इस प्रादेशिक के बारे में प्रतिवेदकों से कई बातें सुन रखी थीं, परन्तु मिलने का कभी अवसर नहीं आया था। आज पहली ही बार उससे भेंट होने को थी।

उसका इतनी शीघ्रता से चले आना क्या दर्शाता है ? राजाज्ञा का पालन करने की उसकी तत्परता या वहाँ की विस्फोटक परिस्थिति या अपने व्यक्तिगत —उत्तराधिकारवाले—प्रश्न के निबटारे की उत्सुकता ? कारण जो भी हो, यह सावधानी बरतनी होगी कि वह उत्तराधिकारवाला प्रसंग महाराज के समक्ष छेड़ने न पाये। इस बात को यदि दबाया नहीं गया तो आगे चलकर साम्राज्य का अस्तित्व ही संकट में पड़ जायेगा। लेकिन क्या उसे दबाया जा सकेगा ? यदि वह जानता है कि वह उत्तराधिकारी है तो क्या शान्त रहेगा ? मगध की शक्तिशाली सेना उसके पास थी और वह जब भी चाहता स्थिति को विस्फोटक बना सकता था।

इन विचारों ने राधागुप्त को उद्विग्न कर दिया।

उसे यह चिन्ता भी सताने लगी कि भविष्य में मगध-साम्राज्य का क्या होगा ? कौन है जो उसकी रक्षा कर सके ? सम्भव है, इस प्रदेशपति से इस प्रश्न का उत्तर भी मिल जाये। तात्पर्य यह कि आगन्तुक प्रादेशिक को कई दृष्टि-बिन्दुओं से देखना-समझना होगा।

मगध की सर्वश्रेष्ठ सेना इस समय उसके अधिकार में थी। उसका प्रदेश सेल्यूकस के पौत्र अन्तियोक के राज्य की सीमा से मिला हुआ था। वह चाहता

तो अन्तियोक से मैत्री भी कर सकता था और चाहता तो तक्षशिला, गांधार और काश्मीर को मिलाकर अपना स्वतन्त्र राज्य भी स्थापित कर सकता था। यदि पाटलिपुत्र से द्वेष होता तो वह इस प्रकार अपने उत्तराधिकार के दावे को कार्यान्वित कर सकता था।

राधागुप्त के सामने समस्या यह थी कि आगन्तुक जालौक के किस स्वरूप को सही माना जाये—उसे प्रदेशपति समझे, राजकुमार माने, बेढब सेनापति समझे, मगध-साम्राज्य की एकता का शत्रु या समर्थक समझे, भावी आशा का स्तम्भ या सेना के बल पर कूदनेवाला विद्रोही समझे ?

प्रतिवेदकों के कथनानुसार तो वह अपनी शक्ति और सामर्थ्य में विश्वास करने और महाराज अशोक की घोषित नीति का अनुसरण न करनेवाला था। वह भगवान शंकर का उपासक था। अपने निकट सम्बन्धियों में स्वयं को मगध-साम्राज्य का वास्तविक उत्तराधिकारी घोषित करता रहता था। उसकी रानी ईशानदेवी उससे भी दो कदम आगे थी। वह शक्ति की उपासिका थी। घुड़-सवारी, सैन्य-संचालन और शस्त्र-चालन में बड़ी प्रवीण, छरहरे बदन की, तेजस्वी, वीर, दृढ़ निश्चयी महिला थी। जालौक की महत्वाकांक्षा को वह निरन्तर भड़काती रहती थी। उसकी दृढ़ मान्यता थी कि जालौक ही मगध-साम्राज्य का वास्तविक उत्तराधिकारी है और इस सम्बन्ध में उसे निरन्तर उकसाती रहती थी। परिस्थिति भी उसके अनुकूल थी। अशोक के सभी उत्तराधिकारी—महेन्द्र, तिष्यकुमार, सुमन का पुत्र, संघमित्रा, उसका पति अग्निकुमार और पुत्र भी भिक्खु बन चुके थे। राजकुमार कुणाल को अपने राग-रंग और वंशी से ही फुर्सत नहीं थी। अकेला जालौक ही था, जो राज-पद का वास्तविक अधिकारी हो सकता था। यदि ईशानदेवी मगध की महारानी बनने के स्वप्न देखती भी हो तो कोई आश्चर्य नहीं। परन्तु कुशल यही थी कि अभी उसके ये स्वप्न अपने राजमहल की चहारदिवारियों तक ही सीमित थे।

राधागुप्त ने सोचा कि इस जालौक को यहीं क्यों न रोक लिया जाये ? यदि यह यहाँ रह गया तो भावी संघर्ष को बहुत हद तक रोका जा सकेगा। आज्ञा पाते ही अकेला तत्काल भागा आया है, इससे तो यही प्रकट होता है कि राजाज्ञा का उल्लंघन करने का अभी इसका कोई इरादा नहीं है।

राधागुप्त बैठा इसी तरह की बातें सोच रहा था कि उसे ऊँचा-पूरा, स्वस्थ, सबल, आपाद्-मस्तक आयुधों से सुसज्जित एक तेजस्वी युवक द्वार में प्रवेश करता दिखाई दिया। उसके नेत्रों से आत्मविश्वास और दुर्द्धर्ष प्रताप की ज्योति विकीर्ण हो रही थी। वह कदमों को दृढ़तापूर्वक रखता चला आ रहा था। देखते ही राधागुप्त समझ गया कि यही जालौक है और निश्चय ही बड़ा प्रतापी और अद्वितीय शक्ति से सम्पन्न है।

उसका रंग गोरा, मुखमंडल प्रतिभासम्पन्न और शरीर कड़ियल था। जो भी उसके निकट खड़ा होता, तुलना में उन्नीस ही ठहरता। पूरा पँचहत्था जवान था, परन्तु भरे हुए शरीर और सुडौलता के कारण उतना लम्बा जँचता नहीं था। उसके चेहरे पर राजराजेश्वर के ऐश्वर्य और प्रताप की गरिमा थी। महान युद्धों के विजयी सेनापति के दर्प से चलता हुआ वह राधागुप्त के समक्ष आकर खड़ा हो गया। फिर उसने दोनो हाथ जोड़कर आदरपूर्वक सिर नवाकर महामात्य को प्रणाम किया।

राधागुप्त अभिभूत-सा टक लगाये उसकी प्रत्येक गति-विधि और भाव-भंगिमा को देख रहा था। जैसे ही उसने विनयपूर्वक प्रणाम किया, राधागुप्त ने कहा—आओ प्रदेशपति, पधारो। मैं आपकी प्रतीक्षा ही कर रहा था। सबसे पहले तो यह बताओ कि तक्षशिला के क्या समाचार हैं? क्या यह सच है कि वहाँ विद्रोह का वातावरण है? महाराज भी वहाँ के समाचारों के लिए बड़े उत्सुक हैं। समझ में नहीं आता कि वास्तविक स्थिति क्या है? प्रतिवेदक अधिकारियों को दोष देते हैं और अधिकारी सारा दोष जनता के सिर मढ़ते हैं। मैंने आपको इसी लिए बुलवाया है कि वास्तविक स्थिति जानी जा सके। यहाँ, सामने इस चन्दन के आसन पर सुखपूर्वक बैठो।

जालौक ने चन्दन के आसन पर बैठते हुए चारों ओर दृष्टि घुमाकर देखा तो उसे सभी द्वारों की यवनिकाओं के बाहर सशस्त्र यवनियाँ खड़ी दिखाई दीं। महामात्य के इस सुरक्षा-प्रबन्ध को देखकर उसे परम आश्चर्य हुआ और वह थोड़ी देर चुप लगाये उस विलक्षण व्यक्ति की ओर देखता रहा।

महामात्य कह रहा था—अच्छा ही हुआ कि आप समय पर पहुँच गये, अन्यथा रात बाहर ही व्यतीत करनी पड़ती। दुर्ग-रक्षक को आपके आगमन

की सूचना देना तो चाहता था, परन्तु फिर यह सोचकर चुप रह गया कि किसी को ज्ञात न हो, यही अच्छा। महाराज के अतिरिक्त किसी को भी आपके यहाँ आने की जानकारी नहीं है। महाराज की यह हार्दिक अभिलाषा है कि आपके प्रदेश में उनकी धर्म-घोषणा और शान्ति-अहिंसा की नीति को सब स्वीकार कर लें तो वह ठेठ रोम तक गूँज उठे और विश्व-व्यापिनी हो जाये। महाराज की यही हार्दिक अभिलाषा है और इसके लिए वह बड़े आतुर भी हैं।

जालौक चुपचाप सुनता रहा। उसे कुछ बोलते न देख राधागुप्त ने कहा —क्यों, कुछ बोले क्यों नहीं ?

'क्या बोलूँ देव ?' जालौक ने कहा, 'असत्य मुझे रुचता नहीं और सत्य कहना उचित नहीं लगता। महाराज ने आटविकों तक को अपनी धर्मनीति से अनुकूल किया है, उनके कल्याणार्थ कई कार्य भी सम्पन्न किये हैं; लेकिन मेरे प्रदेश की स्थिति तो निराली ही है। मैंने महाराज के आदेशानुसार सारे प्रदेश में स्तम्भ और शिलाखले लगवा दिये हैं, धर्म-घोषणाएँ भी करता रहता हूँ। परन्तु मुझे भय है कि उस प्रदेश में इन सबसे कोई लाभ नहीं होगा।'

'प्रदेशपति, इतनी निराशा क्यों ? मैं आपको महाराज के पास ले जाऊँगा। तब आप स्वयं देखेंगे कि महाराज किस तरह विश्व-शान्ति की स्थापना के लिए कृतसंकल्प और कटिबद्ध हैं। इस अवस्था में रोगाक्रान्त रहते हुए भी कितना कठोर श्रम करते हैं। भारतवर्ष में तो महाराज ने चमत्कार ही कर दिखाया है। चोल, पांड्य सभी राज्य महाराज के आदर्शों का अनुगमन कर रहे हैं। अपने साम्राज्य के बाहर के प्रदेशों में भी महाराज लोक-कल्याण की मंगल-भावना से प्रेरित होकर चिकित्सालय स्थापित करते हैं, औषधियाँ भेजते हैं, वनस्पति लगवाते हैं, वनों का संरक्षण करते हैं। मानव-कल्याण के इन कार्यों से सब लोग अनुप्राणित होकर अपने यहाँ ऐसा ही आचरण आरम्भ कर देते हैं। आज नहीं तो कल आपके यहाँ भी यह सब होगा, अवश्य होगा; निराश होने की आवश्यकता नहीं।'

जालौक ने सिर हिलाते हुए कहा—प्रभु, मेरी बुद्धि अभी कुंठित है, मन विमल नहीं हो पाया है। परन्तु महाभारत के प्रणेता शकुनि के प्रदेश को मैं औरों की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह जानता हूँ। महाराज के प्रत्येक आदेश

का हम शब्दशः अनुसरण कर रहे हैं....परन्तु....परन्तु अभी उस बात को न कहना ही उचित होगा। मेरा मन आसवों से भरा हुआ है। उसमें राग है, द्वेष है, वैर और कटुता है, और दो बातें और भी हैं।

राधागुप्त को जालौक का यह कथन अर्थपूर्ण प्रतीत हुआ। उसके शब्दों में महामात्य को अपने ही मन के गूढ़ विचारों की प्रतिध्वनि सुनाई दी। यदि इस युवक की बातें निरी सुनी-सुनाई और सतही नहीं हैं तो यह निश्चय ही विचारवान और दीर्घदृष्टि है। उसने उत्सुकतापूर्वक पूछा—क्या हैं वे दो बातें ?

'एक तो देश-प्रेम है। मैं भारतवर्ष को अर्थात् भारतीय संस्कृति को अन्यतम समझता हूँ। मेरा विश्वास है कि एक दिन भारतीय संस्कृति की पताका समस्त विश्व में फहरायेगी।'

'यथाथ है....और दूसरी बात ?'

'दूसरी बात ! अभी मैं उसे न कहना ही उचित समझता हूँ। समय आने पर आप ही प्रकट हो जायेगी। किसी से कुछ छिपाने में मेरा विश्वास नहीं है। लेकिन मैं अपने-आपको आपके या किसी के भी समक्ष गलत रूप में प्रस्तुत नहीं करना चाहता। मैं भगवान तथागत को पूज्य समझता हूँ, अलौकिक मानता हूँ। उनके शान्ति-सन्देश का आदर ही नहीं करता उसे विश्व के लिए और स्वयं अपने प्रदेश के लिए भी उपयोगी समझता हूँ। परन्तु दुनिया में ऐसे भी लोग हैं, और उनकी संख्या कम नहीं है, जो शान्ति को कायरता समझते हैं। ऐसे दुष्टों के लिए मैंने अपनी इस लम्बी तलवार को जीवन-धर्म बनाया है। भगवान शंकर मेरे उपास्य देव हैं, मैं उनका उपासक हूँ। भगवान तथागत मेरे लिए पूज्य और आराध्य हैं। बात छिपाने में मेरा जरा भी विश्वास नही है।'

राधागुप्त को युवक प्रदेशपति का मनोरहस्य कुछ खुलता-सा प्रतीत हुआ। उसने उत्साह-भरे स्वर में कहा—महाराज भी तो यही चाहते हैं। उनका कहना है कि सभी अपने जीवन-धर्म का पालन करें; जीवन-धर्म का विश्व-धर्म से सामंजस्य करें। विश्व-धर्म विश्व-शान्ति का धर्म है और इसलिए महान है। जीवन-धर्म व्यक्ति की शान्ति का धर्म है और इसलिए वह भी महान है। लेकिन आपने अपने मन की दूसरी बात तो बतायी ही नहीं। वह क्या है ?

'यदि न बताना चाहूँ ?'

'मुझ पर विश्वास न हो तो भले ही न बताओ।'

'तो दूसरी बात है....' लेकिन जालौक कहते-कहते रुक गया। कोई चला आ रहा था ?

'वह महाराज का प्रतिवेदक आर्य है। आप अपनी बात कहो। दूसरी बात क्या है ?' राधागुप्त ने उत्सुक होकर कहा।

'दूसरी बात स्वयं मुझी से सम्बन्धित है देव।'

प्रतिवेदक द्वार मे प्रवेश कर रहा था।

'अब उसे किसी उचित समय पर ही कहूँगा....' यह कहकर जालौक चुप हो गया।

जालौक के 'स्वयं मुझी से सम्बन्धित' शब्दों ने राधागुप्त को गहन चिन्ता में निमग्न कर दिया। उसके इन शब्दों का क्या अर्थ है ? क्या उसे अपने बारे में जानकारी मिल तो नहीं गयी है ? यदि मिल गयी है तो इस पर कड़ी दृष्टि रखनी होगी। और जब तक इस बात का निराकरण न हो जाये, इसे महाराज के समक्ष ले जाना उचित न होगा। अभी महाराज ने बुलवाया भी हो तो यह बहाना बनाना होगा कि यात्रा की क्लान्ति के कारण उपस्थित नहीं हो सकता। स्वयं राधागुप्त को भी उसके मन की बात जानने की बड़ी तीव्र उत्कंठा हो रही थी, परन्तु प्रतिवेदक के आ जाने के कारण पूछना उचित नहीं लग रहा था।

४ :: जालौक, तू ही मगधपति है !

महाराज अशोक ने समस्त देश में, सार्वजनिक रूप से, निम्न घोषणा करवा दी थी :

"मैं भोजन करता रहूँ, सोया रहूँ, रथ में रहूँ, उद्यान में रहूँ, अन्तःपुर में रहूँ, या कहीं भी रहूँ, प्रतिवेदक सब समाचार और विशेष रूप से जन-कष्ट के समाचार मुझे तत्काल दें। मेरी यह आज्ञा है। मैं हर क्षण शासन-कार्य करते रहना चाहता हूँ। जनहित का कोई भी काम पड़ा रहे, उसमें विलम्ब हो, यह मुझे अच्छा नहीं लगता। इसलिए मैंने निश्चय किया है कि मैं कहीं भी क्यों

न रहूँ और कोई भी कार्य क्यों न करता रहूँ प्रतिवेदक मुझे तत्काल समाचार दें। सोया रहूँ तो जगायें। अन्तःपुर में रहूँ तो उठायें। रथ में रहूँ तो रथ रोकें। परन्तु जन-कार्य के समाचार तत्काल दें।"

महाराज की इस घोषणा के बाद प्रतिवेदकों का महत्व बहुत बढ़ गया था। वे जब चाहते और जहाँ चाहते जाकर महाराज से मिल सकते थे।

इस समय रात दो याम बीत गयी थी। महाराज के शयन का समय हो रहा था, परन्तु उनके प्रतिवेदक आर्य ने आकर राधागुप्त को प्रणाम किया और बोला—प्रभु, महाराज ने मुझे आपको बुलाने के लिए भेजा है। लोक-कल्याण का आवश्यक कार्य है। आदेश हुआ है कि महामात्य को तत्काल बुलाया जाये।

राधागुप्त ने पूछा—अकेले मुझी को बुलाया है या किसी को साथ लाने को भी कहा है?

आर्य ने काश्मीर के प्रदेशपति जालौक की ओर देखा। वह उसे पहचानता था। उस प्रदेश के विद्रोह के समाचार उसी ने महाराज को दिये थे। इस समय महाराज ने इसी लिए तो राधागुप्त को न बुलाया हो? उसने हाथ जोड़कर जालौक को प्रणाम किया और महामात्य को उत्तर दिया—जी नहीं, किसी को साथ लाने को तो नहीं कहा है।

राधागुप्त ने छुटकारे की साँस ली। फिर उसने ताली बजायी। प्रत्युत्तर में एक सशस्त्र यवनी वहाँ दौड़ी आयी।

'वृद्धा महामाया कहाँ है? उससे कह कि यह हमारे अतिथि हैं। इनके विश्राम और सुख-सुविधा का पूरा प्रबन्ध अतिथिगृह में तत्काल करे। प्रदेशपति, आप थोड़ा समय अतिथि-गृह में विश्राम करें। तब तक मैं महाराज के पास हो आता हूँ। हो सकता है कि महाराज आपको अभी ही बुलायें। आप थक तो गये होंगे, पर तैयार रहें....'

राधागुप्त जा ही रहा था कि वृद्धा महामाया वहाँ आ गयी। महामात्य के घर की पूरी व्यवस्था और देख-भाल उसी के जिम्मे थी। उधर राधागुप्त प्रतिवेदक के साथ बाहर निकला, इधर जालौक अतिथि-गृह में पहुँचा।

महामात्य का विशाल प्रासाद चारों ओर लताकुंजों से घिरा हुआ और अतीव रमणीक था। एक ओर छोटा-सा सुन्दर अतिथिगृह बना हुआ था।

जालौक के वहाँ पहुँचते ही दासों और परिचारकों ने उसे घेर लिया। राधागुप्त की बात को यादकर वह भी शीघ्रतापूर्वक आवश्यक कार्यों से निवृत्त हुआ। फिर दासी महामाया आकर उसे भोजनगृह में ले गयी।

खा-पीकर वह मंत्रणागार में आ बैठा और उसकी कल्पना मुक्त विचरण करने लगी। सबसे पहले तो उसे यह विचार आया कि यदि महाराज अशोक ने बुलवाया तो वहाँ क्या कहना उचित होगा? महाराज का आग्रह था कि अन्य प्रदेशों की भाँति काश्मीर, तक्षशिला और गांधार में भी धर्म-घोषणाओं के अनुसार मृदु शासन होना चाहिए। राधागुप्त ने उसे इसी लिए बुलाया था। परन्तु यह कोई नहीं जानता था कि इन प्रदेशों में विद्रोह की ज्वाला सुलग रही है और विदेशी आक्रान्ता दाँत लगाये बैठे हैं। ऐसी स्थिति में महाराज को क्या उत्तर देना ठीक रहेगा? किस तरह कहे कि बात अप्रिय भी न लगे और सत्य भी हो? अपने सम्बन्ध में कुछ कहे या न कहे? कहे तो प्रमाण क्या देगा? प्रमाणों के अभाव में उसकी बात पर भला कौन विश्वास करेगा?

वह इन्हीं विचारों में मग्न था और महाराज के प्रतिवेदक के आने की प्रतीक्षा कर रहा था कि दासी महामाया वहाँ आयी। बिना बुलाये दासी का आना जालौक को अच्छा तो नहीं लगा, परन्तु उसने यह सोचकर मन समझाया कि महामात्य की प्रमुख दासी है, पुरानी है और इसी लिए उसे अधिक अधिकार मिले होने चाहिए।

दासी महामाया बड़ी देर से बाहर खड़ी अतिथि के सुस्थिर होने की प्रतीक्षा कर रही थी। वह बड़ी ही बातूनी औरत थी। जरा-सी देर चुप रह जाती तो जबान में खुजली मचने लगती थी। अतिथिगृह में जो भी अतिथि आता उसे नयी-पुरानी बातें सुनाकर रिझाना वह अपना कर्तव्य समझती थी। बात करने की कला में बड़ी ही प्रवीण थी। कोई सुनना चाहे या न चाहे उसे तो बक-बक करने से मतलब था। और बक-बक भी इस तरह करती थी कि अतिथि प्रसन्न हो उठे। इसी लिए महामात्य ने घर का प्रबन्ध उसे सौंप रखा था।

जैसे ही दासी महामाया ने देखा कि अतिथि सब कार्यों से निवृत्त होकर आराम कर रहा है, वह अन्दर चली आयी। मुँह से बोलने के साथ-ही-साथ

वह भौंहें नचाती और हाथ भी हिलाती जाती थी । उसका अंग-अंग बोलने-बतियाने लगता था । आते ही उसने कहा—आप तो इस ओर शायद पहली ही बार आ रहे हैं । मैं यहाँ वर्षों से हूँ । महामात्य के अतिथियों का आदर-सत्कार करने का सारा भार मुझी पर है, लेकिन आपको तो पहले कभी देखा नहीं ।

जालौक अपनी ही चिन्ता में व्यस्त था । दासी की यह बक-बक सुनकर उसे बड़ा आश्चर्य हुआ । निरुत्साहित करने के उद्देश्य से कुछ रुखाई के साथ केवल इतना कहा—हाँ, मैं पहली ही बार आया हूँ ।

लेकिन महामाया तो चिकना घड़ा थी, उस पर अतिथि के निरुत्साह के पानी का क्या असर होता । वह और भी उत्साहपूर्वक बोली—हुँ, तभी । अच्छा, नगर आपको कैसा लगा ?

'अभी नगर मैंने देखा ही कहाँ है ?'

'हाँ, पूरा तो कहाँ से देखा होगा । लेकिन यहाँ तक चलकर आये हैं । मार्ग में कुछ-न-कुछ तो अवश्य ही देखा होगा । यह तो देख ही लिया होगा कि यहाँ के लोग घरों के द्वार बन्द नहीं करते, रात-दिन खुले रखते हैं । स्तेन (चोर) यहाँ नाम को भी नहीं । कभी आवश्यकता पड़ ही जाये तो कहीं बाहर से लाना पड़े ।' बुढ़िया ने यह कहा और खिलखिलाकर हँस पड़ी ।

खैर, बक-बक तक तो गनीमत थी । किसी तरह सहा जा सकता था । लेकिन दासी इस तरह स्वामी के सामने खिलखिलाकर हँसे यह जालौक का राजसी स्वभाव कैसे सह सकता था ! वह तनकर बैठ गया और चेहरे को थोड़ा रुष्ट और थोड़ा गम्भीर बनाकर कड़ी दृष्टि से चारों ओर देखने लगा ।

लेकिन महामाया तो बात करने की कला में पारंगत थी । उसे श्रोता की पसन्द-नापसन्द, इच्छा-अनिच्छा से कोई मतलब नहीं था । बस कोई सामने होना चाहिए और तब वह बोलती चली जाती थी और अन्त में उसे वार्त्तालाप के लिए प्रवृत्त कर ही लेती थी । उसकी बातों का जादू सदा सिर पर चढ़कर बोलता था । काश्मीर के प्रदेशपति जालौक को उसके इस जादू की कोई जानकारी नहीं थी । उसने तो सोचा था कि मैं उत्तर दूँगा ही नहीं, हामी भरूँगा ही नहीं और बुढ़िया आप ही चुप हो जायेगी । परन्तु बुढ़िया काहे

को चुप होने लगी थी। वह तो बड़े जोर-शोर से और तीन घर सुनाई पड़े इतने उच्च स्वर से कहे जा रही थी :

'स्तेन तो अदृश्य हो गये थे महाराज चन्द्रगुप्त के ही समय में; और महाराज अशोक के समय में सभी असत्यवादी, कटुभाषी, घमंडी और हिंसक अदृश्य हो गये। आप स्वयं देखें और अनुभव करेंगे कि यहाँ लोग कितनी विनम्रता और मधुरता से बोलते-बतियाते हैं। बड़ी-बड़ी और जटिल-से-जटिल समस्याओं का भी इस तरह समाधान किया जाता है मानो परिवार के सदस्य प्रेमपूर्वक एक-दूसरे को समझा रहे हों। छोटे-बड़े और ऊँच-नीच का तो यहाँ किसी को खयाल ही नहीं है। मैं उच्च अधिकारी हूँ और यह सामान्य दास है, ऐसी भावना यहाँ आपको दीया लेकर खोजने पर भी नहीं मिलेगी। यह सिद्धि है महाराज अशोक की। और क्यों न हो ! सत्य के लिए महाराज क्या कुछ त्यागने और बलिदान करने को प्रस्तुत नहीं रहते। आपने भी सुना तो होगा ही ?'

'क्या ?' बुढ़िया की बक-बक को बन्द करने के लिए कृत-संकल्प जालौक को भी कुतूहलवश पूछना ही पड़ा।

'महाराज ने स्वयं अपनी ओर से युवराज-पद पर किसकी नियुक्ति का प्रस्ताव किया, क्या इसे आप नहीं जानते ? अपने औरस पुत्र युवराज कुणाल की नियुक्ति का प्रस्ताव नहीं किया। सिंहासन-प्राप्ति के लिए जिस बड़े भाई सुमन का स्वयं अपने हाथों वध किया था, उसका पुत्र जब मिल गया तो महाराज ने मंत्रि-परिषद् में उसी को युवराज-पद पर प्रतिष्ठित करने का प्रस्ताव किया। आप खड़े होकर महाराज ने मंत्रि-परिषद् से कहा....'

जालौक का कुतूहल बढ़ता जा रहा था। उसने पूछा—तो फिर क्या हुआ ?

'होना क्या था ! मंत्रि-परिषद् ने सर्व-सम्मति से स्वीकार किया। किसी ने भी विरोध नहीं किया। महाराज को तो सत्य की पुनः-प्रतिष्ठा करनी थी —राज्य इसके पिता का था, इसी को मिलना चाहिए। कुणाल ने भी विरोध नहीं किया। लेकिन विरोध किया....नाम सुनेंगे तो चकित रह जायेंगे।'

'अच्छा, किसने विरोध किया ?'

'स्वयं सुमन के पुत्र ने। उसने कहा, मैं तो भिक्खु बनने के लिए जन्मा

हूँ, राजा बनने के लिए नहीं। राज्य पर मेरा कोई अधिकार नहीं। मुझे किसी का राज्य चाहिए भी नहीं।'

'धन्य है !' बुढ़िया महामाया की बतरस का जादू जालौक के सिर पर चढ़ गया था और वह रसपूर्वक सुन ही नहीं रहा था, बोलने-बतियाने भी लगा था। उसने कुछ सोचते हुए पूछा, 'तब तो कुणालकुमार....'

'हाँ, युवराज वही हैं, परन्तु....'

'परन्तु क्या ?'

'बात किसी से कहने-जैसी नहीं है। मैंने आज तक किसी से कहा भी नहीं है। कोई जानता भी नहीं।' जालौक को अपनी कला का सिक्का मानते देख बुढ़िया ने उसकी उत्सुकता और कुतूहल को और भी प्रेरित करने के उद्देश्य से पहेलियाँ बुझाना आरम्भ कर दिया था। बड़े ही रहस्यपूर्ण ढंग से वह कहे जा रही थी, 'केवल मैं ही जानती हूँ। लेकिन यदि महाराज को पता चल जाये तो वह निश्चय ही सत्य को स्थापित करेंगे....'

जालौक की उत्सुकता बाँध तोड़ने लगी। उसने पूछा—ऐसी क्या बात है ?

'बात है तो बहुत पुरानी। अभी तक दबी पड़ी है। लेकिन बिलकुल सच है। मैंने अपनी इन सगी आँखों से देखा है राज्जुक ! आपको यह ता मालूम ही होगा कि जवानी मे महाराज का स्वभाव कितना प्रचंड और उग्र था। पाँच-पाँच सौ आदमियों से अकेले जूझ जाना और उन्हें परास्त कर देना महाराज के बाएँ हाथ का खेल था। महाराज की उग्रता के मारे सब थर-थर काँपते थे। लेकिन एक नारी थी, जिसने उस समय भी महाराज को अपने वश में कर रखा था।'

'कौन थी वह ?'

बातूनी महामाया चुप लगा गयी। वह मुँह बन्द किये जालौक को एकटक देखती रही। और जालौक मारे उत्सुकता के फटा जा रहा था। उसने फिर पूछा—कौन थी वह ?

'पद्मिनी थी। यही उसका नाम था।'

'अच्छा ! कहाँ की थी ?'

'यह तो कोई नहीं जानता कि कहाँ की रहनेवाली थी। अब तो किसी

को न उसका नाम याद है न उसके बारे में कुछ मालूम ही है। बेचारी बहुत पहले ही मर गयी। महाराज के राज्यारोहण के आरम्भिक वर्षों में ही दिवंगत हो गयी। बुरे हवालों मरी बेचारी। वास्तव में पद्मिनी थी। लेकिन रूप ही उसका शत्रु हो गया। किसी ने उसे राजमहल में प्रवेश नहीं करने दिया। कौन करने देता? उस रूप को लेकर वह राजा की रानी जो बन जाती। एक रात, इसी उद्यान में, वह जो वृक्ष दिखाई देता है....'

जालौक अभिभूत-सा, महामाया की अँगुली का अनुसरण करता, उस वृक्ष की ओर देखने लगा था।

'....उसी वृक्ष के नीचे घनघोर घटाओं से घिरी एक अँधेरी काली रात में उसने बच्चे को जन्म दिया और अपनी फरियाद सुनाने भगवान के दरबार में चली गयी। कानों सुनी नहीं, मेरी आँखों देखी बात है राज्जुक! कुछ देर बाद बच्चा भी गायब हो गया। कोई कहता है कि जंगली जानवर उठा ले गये और कोई कहता है कि किसी आदमी ने उठा लिया। सच क्या है, भगवान हो जानें। उसकी निशानी एक तावीज अवश्य पड़ा रह गया, जिसे मैंने उठा लिया था। वह तावीज पद्मिनी ने अपने पुत्र के हाथ में बाँधने के लिए तैयार किया था। यदि वह बच्चा आज कहीं जीवित हो तो महाराज अशोक के महान साम्राज्य का सच्चा उत्तराधिकारी वही है। परन्तु जीवित कहाँ बचा होगा बेचारा!'

जालौक का हृदय जोरों से धड़कने लगा। आज तक वह जिस बात को तर्क, अनुमान और किंवदन्तियों के सहारे मानता आया था उसी बात को यह महामाया आँखों-देखे संस्मरण के रूप में सुना रही थी। 'क्या मैं ही वह शिशु नहीं हूँ?' उसके धड़कते हुए हृदय में प्रश्न उठा और उसने शीघ्रतापूर्वक पूछा—क्या वह तावीज अब भी तुम्हारे पास है?

'था....'

जालौक ने जैसे अँधेरी गुफा में डूबते हुए पूछा—अब कहाँ है? किसके पास?

'महामा....' लेकिन महामाया की बात मुँह-की-मुँह में रह गयी। राधागुप्त आ गया था और द्वार पर खड़ा था।

उसे वहाँ देखकर जालौक भी चुप हो गया। लेकिन उसके मन में अब भी वही बात घुमड़ रही थी—'तब तो जालौक तू ही मगधपति होगा! होगा क्यों, है ही! निश्चयपूर्वक तू ही मगधपति है। परन्तु इस बात को इस समय....'

उसकी विचार-शृंखला वहीं टूट गयी, क्योंकि राधागुप्त उसी की ओर चला आ रहा था।

५ : : राधागुप्त का निर्णय

एक क्षण तो राधागुप्त भी स्तब्ध रह गया। वृद्धा महामाया के बातूनी स्वभाव से वह परिचित था। लेकिन उसने स्वप्न में भी नहीं सोचा था कि बतरस की प्रेमी वह बुढ़िया इस प्रकार की मूर्खता कर बैठेगी। उसने सशंकित होकर जालौक की ओर देखा। इस बीच वह सँभल चुका था। जो सुना था उसका कोई भी प्रभाव उसके चेहरे पर परिलक्षित नहीं हो रहा था। लेकिन तीर हाथ से निकल चुका था और अपना काम कर गया था। राधागुप्त ने बुढ़िया के अन्तिम शब्द अपने कानों से सुने थे। उसे विश्वास हो गया कि यही जालौक तावीजवाला अशोक-पुत्र जालौक होना चाहिए। लेकिन अभी वह इस बात को उठाना नहीं चाहता था। अभी तो इसे दबा देना ही उचित होता।

लेकिन बुढ़िया की बातों ने जालौक को अवश्य सजग कर दिया होगा, उसकी महत्वाकांक्षा को जोरों से कुरेद दिया होगा। अब वह निश्चय ही युवराज-पद के अपने दावे को पेश करेगा। यदि उसने ऐसा किया तो पुनः आन्तरिक संघर्ष छिड़ जायेगा। इस समय अकेला कुणाल युवराज-पद पर था, शेष तो सभी साधु या भिक्खु बन गये थे। यदि चंड अशोक की भाँति प्रचंड जालौक ने युवराज-पद के लिए संघर्ष छेड़ दिया तो क्या होगा? तब क्या यह साम्राज्य छिन्न-भिन्न नहीं हो जायेगा? देश की एकता नष्ट-भ्रष्ट नहीं हो जायेगी?

महाराज अस्वस्थ थे और यह नया संघर्ष उनके लिए सांघातिक हो सकता था। तो क्यों न इसे यहीं-का-यहीं समाप्त कर दिया जाये? परन्तु एक पूरे प्रदेश का प्रादेशिक सुई तो है नहीं कि उसे गुम किया जा सके! छानबीन होगी ही। बात छिपी नहीं रहेगी और तब तो मुसीबतों का पूरा पहाड़ ही टूट

गिरेगा । तो क्या करना उचित होगा ? कुछ-न-कुछ निर्णय तो करना ही होगा और तत्काल करना होगा ।

यदि महाराज अशोक को पता चल गया तो वह एक क्षण का भी विलम्ब नहीं करेंगे और राज-पद के वास्तविक उत्तराधिकारी को युवराज-पद पर स्थापित कर देंगे । पर क्या कुणाल राजी होगा ? वह अपना अधिकार छोड़ देगा ?

सवेरा होने से पहले राधागुप्त को निर्णय कर लेना था; क्योंकि महाराज ने सवेरे सवेरे ही जालौक को मिलने के लिए बुलाया था । महाराज के पास समय नहीं था । वृद्ध, रुग्ण और अशक्त होते हुए भी वह यात्रा की तैयारी कर रहे थे । धर्म-घोषणा के लिए स्वयं काश्मीर, तक्षशिला और गांधार जाने को उद्यत थे । वहाँ के लोगों से मिलना, उन्हें अपनी बातें समझाना, तथा शान्ति और अहिंसा का प्रचार करना चाहते थे । जीवन का हर क्षण अब वह लोक-सम्पर्क में व्यतीत करने के इच्छुक थे । पहले उस ओर राजकुमार कुणाल को भेजने का निश्चय किया गया था । परन्तु अब महाराज स्वयं ही जाना चाह रहे थे ।

इस समय राधागुप्त को महाराज ने इसी लिए बुलाया था । राधागुप्त ने सुना, पर उसे यह निर्णय जरा भी पसन्द नहीं आया । मुँह से तो वह कुछ बोला नहीं, महाराज की बात सुनकर लौट आया । लेकिन इस विचार-मात्र से उसके रोंगटे खड़े हो रहे थे कि जालौकवाले प्रसंग को निबटाये बिना यदि महाराज यात्रा पर चल दिये तो यहाँ की स्थिति कितनी विषम और विस्फोटक हो जायेगी ! यों भी वह चाहता था कि राजकुमार कुणाल को ही उस ओर जाना चाहिए । युवराज के लिए साम्राज्य के प्रदेशों की यात्रा करना, शासन-कार्यों मे हिस्सा लेना, सैन्य-संचालन करना और देशाटन करना आवश्यक भी था ।

वह इसी संघर्ष को निबटाने में पड़ा हुआ था कि जालौक को लेकर एक समस्या और खड़ी हो गयी ।

महाराज ने उसे बुलाया है । वह उसे अपनी धर्मनीति समझाना चाहते हैं । मान लो उस समय जालौक ने अपना दावा पेश कर दिया तो क्या होगा ?

पाटलिपुत्र में विद्रोह ही हो जायेगा । महारानी तिष्यरक्षिता कुणाल पर

प्राण देती थी। वह काहे को चुप रहेगी। कुणाल की अधिकार-रक्षा के निमित्त पता नहीं क्या कर बैठे! बात-की-बात में सारा देश दो छावनियों में बँट जायेगा। गृह-युद्ध आरम्भ हो जायेगा। शान्ति और अहिंसा की नींव पर निर्मित यह सारा प्रासाद ही ढह जायेगा।

नहीं, जालौक को गुम करने या बन्दी बनाने से भी बात बनेगी नहीं। जैसे ही उसकी रानी ईशानदेवी को पता चलेगा, वह रणचंडी का रूप धारण कर लेगी और सेना की सहायता से विप्लव मचा देगी।

एक छोटी-सी बात बड़ा विकराल रूप धारणकर समूचे साम्राज्य को ही तहस-नहस कर देगी।

राधागुप्त को रह-रहकर बुढ़िया महामाया पर क्रोध आ रहा था। दुष्टा से घड़ी-भर भी चुप नहीं रहा गया। निरर्थक बक-बक में सत्यानाश ही ढहा दिया। समझदार और विश्वासपात्र होकर भी कैसी नादानी कर बैठी! मानो नादान बच्चे ने सूखे घास के ढेर में चिनगारी फेंक दी हो!

लेकिन ढुलके दूध पर हाय-हाय करने से लाभ ही क्या? अब तो कोई मार्ग सोचना चाहिए और तत्काल सोचना चाहिए। अभी तो इस युवक को आशा के तन्तु से हिलगाये रखना ही उचित होगा।

इस निर्णय के साथ राधागुप्त आगे बढ़ा, परन्तु दो कदम चलकर रुक गया। वह फिर कुछ सोचने लगा। अन्त में उसने सिर हिलाकर मन-ही-मन कहा—नहीं, यही ठीक है। इस युवक को आशा के धागे से लटकाये रखना ही उचित होगा।

वह दृढ़तापूर्वक आगे बढ़ा और जालौक के कन्धे पर हाथ रखकर शान्त, स्थिर और गम्भीर स्वर में बोला—जालौक, जरा मेरे साथ चलो। आपके सम्बन्ध में एक बड़ी महत्वपूर्ण बात है। उस पर अभी ही चर्चा कर लेनी आवश्यक है।

यह सुना तो जालौक को आश्चर्य भी हुआ और सन्देह भी। कहीं महामात्य ने दासी महामाया के अन्तिम शब्द सुन तो नहीं लिये? कहीं उसके साथ विश्वासघात तो नहीं किया जायेगा? अपने प्रदेश से सैकड़ों योजन दूर, यहाँ पाटलिपुत्र में अकेला और असुरक्षित वह क्या कर लेगा? अगर उसे किसी कोठरी में मूँद ही दिया तो किसी को क्या पता चलेगा और कौन छुड़ाने आयेगा?

वह राधागुप्त के साथ जाने से इनकार कर सकता था, लेकिन उससे परिस्थिति में कोई अन्तर तो पड़ेगा नहीं। इसलिए मन के सभी सन्देहों और कुशंकाओं को मन में दबाकर वह शीघ्रता से उठ खड़ा हुआ और तत्परता से बोला—चलिए देव, कहाँ चलना होगा ?

राधागुप्त ने उसकी आँखों में आँखें डालकर दृढ़तापूर्वक कहा—पहले एक बात अच्छी तरह समझ लो प्रदेशपति ! एक व्यक्ति आपकी बात का मन-ही-मन अभिनन्दन करता है, अनिवार्य भी मानता है। वही व्यक्ति आपसे आपकी बात कहने और अपनी बात आपको देने के लिए एकान्त में निमन्त्रित कर रहा है। यदि मन में किसी तरह का सन्देह हो, शंका हो तो एक कदम भी आगे मत बढ़ाओ। किसी का आदेश नहीं है, आग्रह भी नहीं है, आपके लिए कोई विवशता भी नहीं है। मगध की राजनीति का मुझे वर्षों का अनुभव है। उस अनुभव से लाभान्वित होने की, कुछ प्राप्त करने की तत्परता हो, अभिलाषा हो तभी पाँव आगे बढ़ाओ....

जालौक ने आत्मविश्वास से भरे हुए स्वर में कहा—यदि कोई नया अनुभव मिल रहा हो तो मैं तैयार हूँ देव !

इसके बाद राधागुप्त आगे और जालौक उसके पीछे हो लिया।

उस प्रकोष्ठ से बाहर निकलकर वे एक सँकरे अँधेरे गलियारे से होते हुए बाहर पतली-सी पगडंडी पर निकल आये। सामने एक विशाल मैदान था और उसके दूसरे छोर पर एक भवन दिखाई पड़ रहा था। उस भवन के अन्दर और बाहर दीपों की ज्योति जगमगा रही थी। दीपों के प्रकाश में जालौक को भवन के चारों ओर सैकड़ों सशस्त्र यवनियाँ खड़ी दिखाई दीं। वह चौंका। उसका जी बैठने लगा। लेकिन लौटना अब निरर्थक था। केवल साहस ही सहारा दे सकता था। उसने मन को दृढ़ किया और अपनी तलवार को सँभाला....

तभी राधागुप्त का एक वाक्य सुनकर वह चौंक पड़ा। आगे-आगे चल रहा राधागुप्त अत्यन्त मन्द स्वर में कह रहा था—कुमार, मैं आपको आपका वास्तविक स्थान दिलाने जा रहा हूँ। लेकिन जानते हैं वह स्थान आपको कब मिल सकता है ? तभी मिल सकता है जब कि मन में धीरज हो....

जालौक आश्चर्यान्वित हो गया। बहुत प्रयत्न करके भी राधागुप्त के कथन

का अभिप्राय उसकी समझ में नहीं आया। महामात्य का 'कुमार' सम्बोधन उसके मन में जहाँ आशा का वहीं भय का भी संचार कर रहा था।

वह चुपचाप आगे बढ़ता गया।

६ : : कुमार, आपका हृदय कैसा है ?

राधागुप्त और जालौक ने उस भवन के विशाल प्रकोष्ठ में प्रवेश किया, जो उस समय बिलकुल खाली था। अन्दर सुगन्धित तेल के दीये जल रहे थे और उनके प्रकाश में सारा प्रकोष्ठ जगमगा रहा था। अन्दर कोई था नहीं, परन्तु ऐसा लग रहा था मानो अभी-अभी कोई उठकर चला गया हो।

जालौक ने बाहर की ओर देखा तो वहाँ कई यवनियाँ शस्त्र लिये खड़ी दिखाई दीं। उसकी समझ में नहीं आया कि महामात्य उसे यहाँ क्यों लाया है और यह सुसज्जित प्रकोष्ठ किसका है ? कहीं महामात्य का उसे बन्दी बनाने का विचार तो नहीं ? लेकिन अब चिन्ता करने से लाभ ही क्या ? जैसी पड़ेगी, देखी जायेगी।

तभी राधागुप्त ने उसकी ओर घूमकर कहा—महारानी देवी तिष्यरक्षिता जब कभी महाराज की धर्म-घोषणाओं के अतिरेक से अकुला उठती हैं तो यहाँ दो घड़ी मन बहलाने और जी हलका करने के लिए चली आती हैं। साथ ही मगध-साम्राज्य के भविष्य की चिन्ता से व्यथित भी हो लेती हैं। इसके अतिरिक्त महाराज की गुप्त मंत्रणाओं के लिए भी इस प्रकोष्ठ का उपयोग किया जाता है। यहाँ किसी दास-दासी अथवा यवनी को खड़े रहने तक की अनुमति नहीं है। कोई हमारी बात सुन नहीं सकता। हम बिलकुल निश्चिन्त होकर बातें कर सकेंगे। मैं आपसे कह रहा था राजकुमार !....लेकिन आप खड़े क्यों हो ? यहाँ हाथीदाँत के इस स्वर्णखचित सिंहासन पर मेरे समीप आकर बैठ जाओ।

जालौक मन में कई तरह की शंका-कुशंकाएँ करता हुआ बैठ गया। राधागुप्त उसके मन की व्यग्रता को ताड़ गया और समाधान करता हुआ बोला—राजकुमार, आप भय अथवा आशंका को अपने मन से बिलकुल ही निकाल दें। किसी भी तरह के संशय का कोई भी कारण नहीं है। आप बिलकुल निश्चिन्त रहें। मैं केवल यही जानना चाहता हूँ कि आपका हृदय कैसा है ?

प्रश्न सुनकर जालौक घड़ी-भर असमंजस में पड़ गया। उसने बड़े-बड़े मोर्चे सर किये थे। लड़ाई के मैदान में अकेले सैकड़ों शत्रुओं का निडरता से सामना किया था। शक्तिशाली हाथियों की दीवारों को भेदता हुआ निकल आया था। परन्तु आज-जैसा असमंजस उसे कभी नहीं हुआ था और वह भी एक निःशस्त्र ब्राह्मण के सामने! चाणक्य के सम्बन्ध में वह तक्षशिला में कई किंवदन्तियाँ सुन चुका था। समीप बैठा ब्राह्मण मत्री कुछ-कुछ चाणक्य की ही भाँति लग रहा था। उसका प्रश्न बड़ा ही सरल और सीधा था—'कुमार, आपका हृदय कैसा है?' लेकिन इस प्रश्न का न सिर था और न पैर। जालौक बड़े असमंजस में पड़ गया। क्या उत्तर दे? या उत्तर दे ही नहीं?

थोड़ी देर चुप रहने के बाद उसने धीरे से कहा—महामात्य, आपने मुझे कुमार कहकर सम्बोधित किया है। क्या आपका यह प्रश्न कुमार शब्द के सातत्य में ही है? और क्या उस सम्बोधन का अर्थ जानने के लिए पहले इस प्रश्न का उत्तर देना अनिवार्य होगा?

'हाँ, बात तो कुछ ऐसी ही है।'

'तो मैं समझता हूँ कि जिस महान परम्परा और उत्तराधिकार का दायित्व आप वहन करते आये हैं वह आगे भी इसी प्रकार चलती रहे। मेरा हृदय तो यही कहता है।'

यह उत्तर सुनकर राधागुप्त को बड़ी प्रसन्नता हुई। वह समझ गया कि यह राजकुमार बुद्धिमान और समझदार है। अब उसने मूल विषय पर आते हुए कहा—आज आपने अपने उत्तराधिकार के सम्बन्ध में जो सुना, मैं भी वही कहनेवाला था। अधिक अच्छा होता यदि मैं कह पाता। लेकिन ठहरो ....मैं अभी आया।

राधागुप्त उठा और अन्दर के खंड में चला गया। जालौक बैठा महामात्य के शब्दों की विवेचना करता रहा।

वृद्धा महामाया ने जो कहा था उसे राधागुप्त ने प्रसंगान्तर से स्वीकार कर लिया था। लेकिन अब प्रश्न यह था कि वह क्या करेगा—अधिकार की प्राप्ति में उसकी सहायता करेगा अथवा गहरे गड्ढे में ढकेल देगा?

सहसा उसकी दृष्टि एक सुन्दरी के चित्र पर पड़ी, जो दीवार से लटका

हुआ था। दीपकों के प्रकाश में उसका अनुपम सौन्दर्य और भी निखर गया था! कौन है यह सुन्दरी? महारानी तिष्यरक्षिता तो नहीं? एक बलवती प्रेरणा उसे चित्र की ओर ढकेलने लगी! वह उठकर उस ओर जा ही रहा था कि महामात्य राधागुप्त लौटता दिखाई दिया।

जालौक पुनः अपने स्थान पर बैठ गया।

७ :: एक जटिल समस्या

'कुमार, मैंने आपसे पूछा था कि "आपका हृदय कैसा है?" वह इसी लिए। कई हृदय ऐसे होते हैं जो अपने महत्व को जानते ही अपंग हो जाते हैं। अधीरता और उतावली भी एक प्रकार की अपगता ही है न! अपने महत्व का पहली बार ज्ञान होना, मनुष्य के लिए ऐसी-वैसी कसौटी नहीं, बड़ी कठिन परीक्षा होती है; परन्तु कई लोग इतने अधीर हो जाते हैं कि मूल वस्तु को ही गँवा बैठते हैं।'

राधागुप्त उपर्युक्त शब्द बोलता हुआ चला आ रहा था। निकट आकर उसने अपना एक हाथ जालौक के सामने किया और बन्द मुट्ठी खोल दी। उसकी हथेली में एक मूल्यवान रत्नमुद्रिका जगमगा रही थी। रत्नों की आभा ने जालौक की आँखों को चौंधिया दिया। उसने आँखें टिमटिमाकर ध्यान से देखा। वास्तव में वह मुद्रिका नहीं, तावीज था। उसका हृदय जोरों से धड़कने लगा। उसे दासी महामाया की बात याद हो आयी। तावीज पर ब्राह्मी लिपि में कुछ लिखा हुआ था। वह कलेजा थामकर पढ़ने लगा। अरे, यह तो उसी का नाम लिखा हुआ है! कहीं गलत तो नहीं पढ़ गया। उसने पुनः पढ़ा और इस प्रतीति के साथ कि वह इतने महान मगध साम्राज्य का वास्तविक उत्तराधिकारी है, उसका हृदय हर्षोन्मत्त हो उठा।

परन्तु दूसरे ही क्षण वह भय, आशंका और अविश्वास के भावों से भर गया। उसे अपना सारा भविष्य और भाग्य राधागुप्त की मुट्ठी में बन्द दिखाई पड़ा। महामात्य चाहे तो उसे मगध के सिंहासन पर बिठा सकता है, चाहे तो पथ का भिखारी बना सकता है। मगध पर उसके उत्तराधिकार का जो भी प्रमाण था वह इस समय राधागुप्त की मुट्ठी में था। स्वयं उसके पास ऐसा कुछ

नहीं था जिसके बल पर वह लोगों से कह सके कि मैं ही राजकुमार जालौक हूँ। प्रमाण के अभाव में उसका यह दावा पागल का प्रलाप ही समझा जायेगा। अब समझ में आया कि राधागुप्त ने उसे राजकुमार कहकर क्यों सम्बोधित किया था। वह जानता था और उसने सप्रमाण सिद्ध कर दिया कि जालौक वास्तव में राजकुमार है। परन्तु ब्राह्मण है बड़ा विलक्षण। चाणक्य का साक्षात् अवतार ही समझो। अब यह ब्राह्मण उसे अँगुली पर नचा सकता है, जो चाहे करवा सकता है। कहीं इसी लिए तो उसने यह चाल नहीं चली? अवश्य यही बात होनी चाहिए। जब तक यह तावीज उसकी मुट्ठी मे है, वह उसके भाग्य को बना भी सकता है, बिगाड़ भी सकता है।

यदि कुणाल उसे पसन्द नहीं आया, उसके मन का न हुआ तो यह तावीज ब्राह्मण के हाथ मे कुणाल के विरुद्ध एक अमोघ अस्त्र होगा। और यदि मैं उसके मन का न हुआ तो वह कुणाल का मेरे विरुद्ध एक अस्त्र के रूप में प्रयोग करेगा। बड़ी विकट समस्या खड़ी कर दी है इस ब्राह्मण ने। इससे सचेत रहना होगा। राजनीति और कूटनीति के सभी दाव-पेंचों से काम लेना ठीक रहेगा। अभी तक जिस तरह बोलता-बतियाता रहा, वह ढंग अब काम का नहीं। दृढ़ता से काम लेना होगा। इस दुनिया मे अन्तिम निर्णय तो सदा शस्त्रों के ही हाथ रहा है और इस प्रसंग में भी अन्तिम निर्णय शस्त्र ही करेंगे। फिर हिचकिचाहट कैसी?

इन विचारों के आते ही वह इस्पात की भाँति दृढ़ हो गया। तभी राधा-गुप्त ने कहा—देखो राजकुमार, यह तावीज आपके जन्मकाल का है। इस पर आपका नाम राजकुमार जालौक स्पष्ट रूप में लिखा हुआ है। मगध के सिंहासन पर आपका अधिकार जन्मजात और प्राकृतिक है। परन्तु एक बात आपको समझनी होगी। मगध की एक परिपाटी है, एक प्रणाली है। उसके अनुसार आपके अधिकार को स्वीकार करना मेरे अकेले के वश की बात नहीं। मुझ अकेले को वह अधिकार नहीं। अकेले महाराज को भी अधिकार नहीं। अधिकार है केवल राजसभा को। हाँ, महाराज को आपके अधिकार की जान-कारी हो गयी तो वह स्वयं राजसभा में आपके नाम का प्रस्ताव रखेंगे। बोलो, आप क्या चाहते हो? इसके सम्बन्ध में आपकी अपनी राय क्या है?

जालौक ने बिना किसी हिचकिचाहट के हाथ जोड़कर कहा—महामात्य, आपकी यही कृपा क्या कम है कि मुझ अज्ञातनामा युवक को आपने अपने अधिकार के प्रति सजग कर दिया, सही बात बता दी। मैं इतनी मूर्खता कदापि नहीं करूँगा कि अपने उस अधिकार को कार्यान्वित करने-कराने के लिए अभी ही पागल की भाँति दौड़ने लगूँ। मैं तो आपसे ही पूछता हूँ कि समय कब होगा ? मगध की परिपाटी के जानकार आप हैं, मैं नहीं।

राधागुप्त को आश्चर्य हुआ, क्योंकि उसे जालौक से ऐसे उत्तर की आशा नहीं थी। वह उसे एक कुशल सेनापति के रूप में जानता था, परन्तु वह प्रवीण कूटनीतिज्ञ भी है यह उसे अभी ही पता चला। राधागुप्त ने उसके अधिकार की बात बता तो दी थी, पर यह नहीं चाहता था कि उसे अभी प्रकट किया जाये। जालौक के मुँह से भी वह यही उत्तर सुनना चाहता था। बात को अभी प्रकट किया जाता तो घनघोर संघर्ष छिड़ जाता। उसने यह निश्चय करने के लिए जालौक के मुँह की ओर देखा कि कहीं उसने ऊपरी मन से तो उत्तर नहीं दिया है। लेकिन जालौक का चेहरा बता रहा था कि उसने जो कुछ कहा है सच्चे मन से ही कहा है।

इस पर राधागुप्त ने कहा—तो अभी इस मुद्रिका को मेरे पास रहने दो। मैं इसे आपकी अमानत के रूप में सुरक्षित रखूँगा। उचित समय आने पर यह आपके काम आयेगी।

जालौक बोला—मुझे आप पर विश्वास है देव।

'लेकिन मैंने अभी इस बात को प्रकट करने के लिए क्यों नहीं कहा, इतना तो आप समझ ही गये होंगे ?'

'जी नहीं, समझा तो नहीं, अब समझूँगा।'

८ : : महाराज अशोक की वाणी

महामात्य राधागुप्त का नाम जन-सामान्य में जहाँ आशा का संचार करता था वहीं भय और आशंकाओं का उद्रेक भी। महाराज अशोक की धर्मनीति के बावजूद ऐसे लोगों की कमी नहीं थी जा यह सोचते थे कि विदेशी आक्रान्ताओं को एक शक्तिशाली सेना ही रोक सकती है। ऐसे लोग यह भी मानते थे कि

मगध-साम्राज्य का अस्तित्व और स्थिरता महामात्य-पद पर राधागुप्त के बने रहने के ही कारण है। लेकिन साम्राज्य मे इस विचारधारा के लोगों की संख्या अपेक्षाकृत कम ही थी।

बहुसंख्यक जनता तो महाराज की धर्मनीति में विश्वास और उनके महान व्यक्तित्व के प्रति आदर और स्नेह व्यक्त करनेवाली ही थी। वृद्धावस्था में भी महाराज लोक-कल्याण के लिए जितना परिश्रम और चिन्ता करते, उसे देखकर लोग चकित रह जाते थे। शासक के रूप में नहीं, धर्मराज के ही रूप में महाराज की ख्याति अधिक थी। उनके सम्पर्क में आनेवाला दुर्द्धर्ष और हठीला हिंसा-वादी भी अपनी उग्रता और शत्रुता छोड़ देता था। अकसर ऐसा होता था कि महाराज अपने राजसी रोब-दाब को परे रखकर एक सामान्य व्यक्ति की भाँति जन-साधारण में हिल-मिल जाते और प्रेमपूर्वक उन्हें अपनी बातें समझाते थे। महाराज की धर्म-यात्राओं के समय यह बात अकसर दिखाई देती थी। इसलिए महाराज के प्रति पूज्य-भाव रखने और उनकी नीति का अनुसरण करनेवालों की संख्या हजारों नहीं, लाखों तक पहुँच गयी थी।

राधागुप्त महाराज की इस अद्भुत लोकप्रियता से अवगत था; और यही कारण था कि उसने कुणाल को उज्जयिनी से जिस उद्देश्य के लिए बुलाया था, वह अभी तक पूरा नहीं हो पा रहा था। राधागुप्त को महाराज की धर्म-यात्राओं से कोई आपत्ति नहीं थी। शिलालेख उत्कीर्ण करवाने और धर्म-प्रचार के लिए सभाओं, समाजों और गोष्ठियों का आयोजन भले ही होता रहे; महाराज के धर्म-महामात्य और कुटुम्बी शान्ति का सन्देश सुनाने के लिए भले ही देश-विदेश की यात्राएँ करें; राजपरिवार के सदस्य दान के निमित्त भले ही लक्ष-कोटि कार्षापण व्यय करें; परन्तु राजवंश का कोई न-कोई ऐसा उत्तराधिकारी अवश्य होना चाहिए जो मगध-साम्राज्य की महान परम्परा को आगे ले जानेवाला हो; नहीं तो महाराज के बाद यह विशाल साम्राज्य बारह बाँट हो जायेगा। घोर अव्यवस्था फैलेगी और सभी प्रदेशपति अपने स्वतन्त्र अधिकार-क्षेत्र स्थापित कर बैठ जायेंगे। राधागुप्त ने यही सोचकर कुणाल को उज्जयिनी से बुलवाया था।

लेकिन कुमार कुणाल में जो एक सद्गुण था वही उसका अवगुण भी

बन गया था; जिस आदर्श से अनुप्राणित होकर वह शक्ति-लाभ करता था वही उसकी अशक्ति का कारण भी था। वह अपने पिता का परम भक्त था। पिता का प्रत्येक शब्द उसके लिए आदेश बन जाता था। युद्ध, शान्ति, शासन अथवा मानवता—कोई भी विषय क्यों न हो कुणाल के लिए अपने पिता का कथन ईश्वरीय आदेश की भाँति था। पितृ-भक्ति में उसका आदर्श मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र थे और वह पिता का संकेत पाते ही भगवान राम की भाँति खड़े-खड़े राज्य-परित्याग कर वन को चल देता। कुणाल की यही पितृ-भक्ति राधागुप्त के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा थी। वह कुणाल को अपनी राजनीति के रंग में रँगना चाहता था, लेकिन पितृ-भक्त कुणाल तो अपने पिता के रंग में रँगा हुआ था। जब तक पिता यह न कह दे कि 'बेटा, कुणाल, मगध-साम्राज्य के संचालन के लिए तू अपनी स्वतन्त्र नीति निर्धारित कर,' शान्ति और अहिंसा की नीति ही उसका सर्वस्व बनी रहने को थी।

अब राधागुप्त को यदि कोई आशा थी तो केवल महारानी तिष्यरक्षिता से। वह नारी हजार प्राणों से महाराज पर समर्पित थी। उनकी हर इच्छा का आदेश की भाँति पालन करती थी। उनकी सेवा-शुश्रूषा में उसने अपने-आपको खपा रखा था। लेकिन साथ ही वह जानती और मानती भी थी कि राधागुप्त का मार्ग ही साम्राज्य को टिकाये रखने का एकमात्र व्यावहारिक मार्ग है। अपनी इस विचारधारा के कारण वह राधागुप्त की गौण रूप से सहायिका भी थी। इधर जब से राधागुप्त ने काश्मीर की ईशानदेवी के बारे में सुना, वह सोचने लगा था कि यदि यह बात किसी तरह तिष्यरक्षिता के कानों तक पहुँचाई जा सके और कोई चक्रवर्ती सम्राज्ञी बनने की महत्वाकांक्षा अहर्निश उसके मन में जगाये रख सके तो बड़ा काम बने। काफी सोच-विचार के बाद इस काम के लिए उसने अपनी दासी महामाया को उसकी सेवा में भेजने का निश्चय किया।

जालौक के आने पर महामाया ने जिस प्रकार की मूर्खता की थी उसके कारण राधागुप्त अब उसे अपने पास बिलकुल रखना ही नहीं चाहता था। वह उसे भेजने की बात सोच ही रहा था कि स्वयं महारानी तिष्यरक्षिता उससे मिलने के लिए आयी और बातों-ही-बातों में यह भी प्रकट किया कि महाराज की सेवा-

शुश्रूषा में हाथ बँटाने के लिए एक चतुर, विश्वसनीय और कुशल उरुधन्या (उत्तम दासी) की बड़ी आवश्यकता है। राधागुप्त को मुँह माँगी मुराद मिल गयी और उसने उसी समय महामाया को महारानी तिष्यरक्षिता की सेवा में भेज दिया। भेजने से पहले उसने दासी को अच्छी तरह समझा दिया कि उसे वहाँ क्या करना होगा और किस तरह महारानी के मन में महत्वाकांक्षा के बीज अंकुरित करने होंगे।

दूसरे दिन सवेरे जब राधागुप्त जालौक को लेकर महाराज से मिलने गया तो महाराज कुछ स्वस्थ और प्रसन्न थे। उस समय वह सिंहासन पर बैठे प्रतिवेदकों के प्रतिवेदन सुन रहे थे। महारानी तिष्यरक्षिता सब की नजरों से अपने को बचाये, परन्तु स्वयं सब को देखती हुई एक जगह चुपचाप बैठी थी। बाहर चारों ओर सशस्त्र यवनियाँ मौन और निःशब्द पदों से संचरण कर रही थीं।

राधागुप्त ने महाराज को प्रणाम किया और जालौक को आगे करते हुए निवेदन किया—महाराज, यह हैं प्रदेशपति जालौक। आपके समक्ष उपस्थित हुए हैं।

जालौक ने भी महाराज को प्रणाम किया; और आते ही इस बात का स्पष्ट अर्थ उसकी समझ में आ गया कि महाराज का हर क्षण लोक-कल्याण के हेतु किस प्रकार व्यय होता है।

महाराज एक प्रतिवेदक से कह रहे थे—वहाँ अटवीपाल कौन है?

'निर्भय है महाराज!'

'अच्छा! तब तो प्रतिवेदक, तुम अभी तत्काल यहाँ से चल दो। यह मेरी मुद्रा लेते जाओ। वहाँ जाकर निर्भय से कहना कि "यदि कोई जाति अनावृत्ति (अभ्यास की कमी) और आलस्य के कारण अपराध कर ही बैठे तो उसे स्नेह और सहानुभूति से सत्पथ पर लाना हमारा कर्तव्य है; कर्तव्य ही नहीं धर्म है। आटविक भी मनुष्य ही हैं। मैं चाहता हूँ कि वह भी निरुद्वेग हों। तुम्हारा कार्य उन्हें आश्वासन देना भी है, केवल आज्ञा देना ही नहीं। यदि वे तुम्हारी आज्ञा का पालन नहीं करते तो इसमें दोष उनका नहीं, तुम्हारी आज्ञा का ही होना चाहिए। बिना सोचे-समझे आज्ञा दी जाती होगी। जो भी राजाज्ञा, हो, उन्हें शान्तिपूर्वक उन्हीं की भाषा में समझाना चाहिए। उनसे कहो कि राजा तुम्हें

अपनी सन्तान समझता है। सन्तान के विद्रोह और विरोध करने पर भी माता-पिता माता-पिता ही बने रहते हैं, सन्तान को छोड़ नहीं देते। मैं भी तुम्हें छोड़ नहीं सकता। मैं अपने मंत्रियों से कहता हूँ कि वे अन्त्यों (वनवासी, आदिवासी) को समझें, उन्हें मगध की प्रजा मानें, उन्हें बार-बार समझायें; कार्तिक, फाल्गुन और आषाढ़ मास में, यज्ञ के समय, समाज-उत्सव के समय, नक्षत्र-महोत्सव के समय, जब भी अवसर मिले बार-बार उन्हें समझें और समझायें। यदि ऐसा किया गया तो एक दिन आटविक और अन्त्य भी उच्च गुणों से विभूषित नागरिक बन जायेंगे। शस्त्रास्त्रों की बात करना राजा प्रियदर्शी को अब तनिक भी नहीं सुहाता।" जाओ प्रतिवेदक, हमारा यह सन्देश अविलम्ब निर्भय को पहुँचाओ। यह भी कहना कि हम आटविकों की बात नहीं समझते, वह हमारी बात नहीं समझते, इसलिए ऐसे शब्दों का आविष्कार करो जिन्हें दोनो समझ सकें। शब्दों का आविष्कार मानव-हृदयों को विभक्त करने के लिए नहीं, जोड़ने के लिए हुआ है। इसलिए हृदयों को जोड़नेवाले शब्दों का प्रयोग करो। एक-दूसरे की समझ में आ सकें ऐसे शब्दों का प्रयोग किया गया तो देखोगे कि आटविक भी शान्ति चाहते हैं, प्रेम की आकांक्षा उनमें भी उतनी ही प्रबल है।'

यह कहकर महाराज अशोक राधागुप्त की ओर मुड़े—राधागुप्त, प्रदेशपति कब आये? तुमने इनसे तक्षशिला के बारे में पूछा? वहाँवालों को मगध की कौन-सी बात पसन्द नहीं? विद्रोह का कारण क्या है? प्रदेशपति, आप क्या समझते हैं—अधिकारीगण अकुशल हैं या कठोर?

जालौक ने प्रणाम करके कहा—महाराज, वह प्रदेश तो बिलकुल ही निराला है और वहाँ के लोग उन मनुष्यों में हैं जिन्हें कभी जीता नहीं जा सकता।

'प्रेम से भी नहीं?' महाराज ने आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा, 'यह तुम कह क्या रहे हो जालौक! प्रेम से तो पशु-पक्षी, जड़-चैतन्य सभी को जीता जा सकता है। जो प्रेम से जीता न जा सके वह मनुष्य कैसा! हम देशों को जीतना तो चाहते नहीं, हमारा एकान्त उद्देश्य है मनुष्य को जीतना। वहाँ दीन होंगे, दुःखी होंगे, रोगी और अकिंचन होंगे और हम इन्हीं सबसे मिलने के लिए तो निकले हैं। हम इन्हें प्रेम देना चाहते हैं, आश्वासन देकर उठाना चाहते हैं। और तुम कह रहे हो कि ऐसे मनुष्य भी हैं जिन्हें प्रेम से जीता नहीं जा सकता!

तो उन मनुष्यों को अपनी आँखों से देखने के लिए हम स्वयं तुम्हारे साथ चलेंगे। अभी अस्वस्थ हैं, अशक्त हैं, परन्तु अपना हर क्षण लोक-कल्याण के हेतु और मानव-हृदय को जीतने के ही निमित्त व्यतीत करना चाहते हैं। अभी तक हम शस्त्रों का उपयोग करते आये, जब कि हमें प्रेम-भरी बातों और ज्ञान-वार्ताओं का उपयोग करना चाहिए था। निश्चय ही हम तुम्हारे साथ चलकर उन शक्तिशाली मनुष्यों को देखेंगे। कितना सुन्दर प्रदेश है तुम्हारा! हम मान ही नहीं सकते कि वहाँ के निवासी असुन्दर होंगे। कल ही हम साधु उपगुप्त—नहीं, नहीं, भदन्त मोगलीपुत्त तिष्य से इस सम्बन्ध में पूछेंगे। वह तुम्हें प्रेम का महत्व बतायेंगे। तब तुम्हें पता चलेगा कि प्रेम कितना विराट् और व्यापक होता है! प्रेम से भरा हृदय कितना विशाल हो सकता है। क्या राधागुप्त ने तुम्हें हमारा यह सूत्र "धम्मा रान्ना चक्कवत्तीस राजा।" नहीं बताया?'

जालौक को महाराज अशोक की प्रेमपूर्ण वाणी ऐसी लग रही थी मानो कोई उसके हृदय पर शीतल चन्दन का लेप कर रहा हो! उसने भी वैसे ही शान्त और प्रेमरस-सिक्त शब्दों में कहा—महाराज, मैं तो अपने अनुभव की बात कह रहा था। अगाध प्रेम का अनुभव अगाध जल की ही भाँति शब्दातीत होता है। लेकिन मुझ अकिंचन का हृदय अभी उतना विशाल और विमल नहीं हो पाया है, दोष-मुक्त भी नहीं हो सका है। वैसे महाराज के आदेशानुसार मैं वहाँ बार-बार धर्म-घोषणाएँ करवाता रहता हूँ।

'यह बहुत अच्छा करते हो। उत्सवों और समारोहों में और जब भी उपयुक्त अवसर मिले धर्म-घोषणाएँ करवाते रहो। पानी की भाँति मानव-स्वभाव भी अधोगामी होता है। पानी की ही भाँति उसे शनैः-शनैः उन्नत पथगामी बनाना होगा। ऊँचा उठने में समय तो लगता ही है जालौक! राजा प्रियदर्शी को भी समय लगा, बहुत अधिक समय लगा। कई जीवन इसी साधना में व्यतीत हो गये। इस जन्म में भी कई वर्षों की आराधना और उपासना के पश्चात् मन उन्नत हुआ, कुछ आगे बढ़ा। यदि हम कर सके तो कोई कारण नहीं कि दूसरे भी न कर सकें। छोटे लोग तो अधिक लगन और अधिक साहस के साथ कर सकते हैं।'

राधागुप्त डरा कि महाराज अशोक इस जालौक को भी कहीं साधु-पन्थगामी

न बना दें। अपने अन्य स्वजनों को तो वह साधु बना ही चुके थे। कुणाल को वह 'धर्मविवर्धन' कहकर सम्बोधित करते थे। वह भी कभी का साधु बन गया होता, परन्तु कुछ तो अपनी माता, कुछ कांचनमाला और कुछ तिष्यरक्षिता के कारण ऐसा नहीं कर पाता था और किसी तरह शासन-कार्य चलाये जा रहा था। अब यदि जालौक को भी महाराज ने साधु बना दिया तो मगध के उद्धार की रही-सही आशा भ नष्ट हो जायेगी। इसलिए उसने शीघ्रतापूर्वक कहा—महाराज ने प्रदेशपतियों के आचरण के लिए जो आदेश प्रदान किये हैं वे भी धर्म-घोषणा के ही समान हैं। जालौक को मैंने यह बात बता दी है। जालौक, आपको याद है न कि प्रदेशपति को दम्भी और अधार्मिक नहीं होना चाहिए। व्यवहार और दंड दोनो ही में समता रखनी चाहिए। जो प्रतिवध (वध के योग्य) हैं उन्हें भी कम-से-कम तीन दिन का समय तो आत्म-शुद्धि और आत्म-चिन्तन के लिए अवश्य देना चाहिए। कोई भी मनुष्य पशु की भाँति कदापि न मारा जाये। महाराज की इस आज्ञा का आपके यहाँ भी पालन होता है न प्रदेशपति ?

'जी हाँ, हमने महाराज की घोषणाएँ सर्वत्र प्रचारित करवा दी हैं।'

'राधागुप्त,' महाराज ने कहा, 'हमने अपने देश मे ही नहीं, देश के बाहर भी छह-छह सौ योजन तक धर्म की विजय का सन्देश प्रचारित करवा दिया है। अब हम कलिंग की पुनरावृत्ति नहीं चाहते।'

'अकेले हमारे न चाहने से क्या होता है देव ? प्रयत्न ऐसा करना चाहिए कि दूसरे भी कलिंग की पुनरावृत्ति न कर सकें। यह तभी होगा जब हमारी नीति शान्ति की नीति होने के साथ ही शक्ति की नीति भी हो। सशक्त की शान्ति नीति का ही इस दुनिया में कोई अर्थ होता है। जिसके पास शस्त्रास्त्रों की शक्ति होती है उसी की शान्ति नीति टिक सकती है। रावण के लिए रामचन्द्र अनिवार्य हैं। और रावण तो इस दुनिया में होते ही रहेंगे....'

राधागुप्त कहते-कहते रुक गया। जिस प्रकार उसने जालौक के सम्बन्ध में तत्काल निर्णय किया था उसी प्रकार इस समय वह कुणाल के बारे में भी निर्णय कर लेना चाहता था। मगध की परम्परा के अनुसार साम्राज्य के उत्तराधिकार का भार कुणाल को वहन करना ही होगा। कुणाल के अति-

सिर्फ इस कार्य के लिए और कोई था भी नहीं। सेनापति यश से बड़ी आशाएँ थीं; लेकिन पहले वह धर्म-महामात्य बना और बाद में जैसे ही सुमन का पुत्र साधु उपगुप्त की प्रेरणा से अपना समस्त उत्तराधिकार छोड़कर भिक्षु हुआ इस सेनापति का युद्ध में सारा उत्साह ही ठंडा हो गया था। राधागुप्त को प्रतिक्षण यह डर सताया करता था कि साधु उपगुप्त ने जिस प्रकार तिष्य और सुमन के पुत्र को भिक्षु-पथगामी बना दिया उसी प्रकार कहीं वह कुणाल को भी भिक्षु न बना दे। और यदि कुणाल यहीं बना रहा तो वह दिन आते देर न लगेगी। इसलिए उसने मन-ही-मन निश्चय किया कि कुणाल को तक्षशिला भेजना चाहिए; सेनापति यश भी उसके साथ वहाँ जाये। यद्यपि महाराज ने जालौक से कहा था कि वह स्वयं तक्षशिला जाना चाहते हैं। लेकिन महाराज नहीं, कुणाल का जाना उचित होगा और उसी को जाना चाहिए।

उसने यह भी निश्चय किया कि इस कार्य के लिए वह कुणाल के साथ ही साथ सेनापति यश को भी तैयार करेगा। कुणाल युवराज था, राज्य का उत्तराधिकारी था, इसलिए उसका तक्षशिला जाना उचित भी होता। इस तरह महाराज की धर्मनीति के अतिरेक पर राज्य-सभा का कुछ नियन्त्रण हो जायेगा। और कुणाल की अस्थिर और द्विधात्मक स्थिति—कभी पितृ-भक्ति और कभी परम्परा-भक्ति, कभी वीरता और कभी अहिंसावादिता—का भी अन्त हो जायेगा।

सेनापति यश को वह इसलिए भेजना चाहता था कि अब यश में सेना-पतित्व-जैसा कुछ रह भी नहीं गया था। कल को किसी ने मगध पर आक्रमण कर ही दिया, क्योंकि महाराज की धर्म-विजय के बावजूद इस तरह के आक्रमणों की सम्भावनाएँ बनी ही हुई थीं, तो बिना सेनापति और बिना सेना के वह क्या कर सकेगा?

यह सच है कि महाराज अशोक ने अपने सद्प्रयत्नों से मानव-आत्मा के विकराल सिंहों को सुला दिया था, लेकिन जैसा कि जालौक ने कहा था, वे सिंह कभी भी जाग सकते थे। जो युद्ध, हत्या और हिंसा के प्रेमी थे वे किसी दिन अपनी आसुरी शक्तियों का झंडा उठाकर ही रहते और शान्तिकामी

भारतवर्ष को रौंदकर रख देते। मिस्र के टोलेमी ने ऐसे प्रयत्न आरम्भ कर भी दिये थे। भारतवर्ष के साथ अबाध रूप से व्यापार होता रहे इसलिए वह एक नहर बनवा रहा था। अपने व्यापार की सुरक्षा के लिए यदि उसने भारत पर आक्रमण कर ही दिया तो किसकी सहायता और किसके सहारे प्रतिरोध किया जायेगा ?

राधागुप्त के समक्ष इस प्रकार के अनेकों प्रश्न आठों पहर और चौबीसों घड़ी मुँह बाये खड़े रहते थे। और सब प्रश्नों का एक यही उत्तर उसकी समझ में आता था कि कुणाल को तक्षशिला जाना चाहिए, यह से बाहर निकलना चाहिए, सेना का संचालन करना चाहिए। इस समय भी यही बात बड़ी तीव्रता से उसके मन में आ रही थी। वह महाराज से यही कहना चाहता था कि आप-को नहीं, कुणालकुमार को तक्षशिला जाना चाहिए; लेकिन मगध-साम्राज्य के भविष्य की चिन्ता ने उसे वह सब कहने को भी प्रेरित कर दिया जिसे इस समय तो कम-से-कम नहीं ही कहना चाहता था।

परन्तु महाराज ने उसकी सारी बात को सुनकर जो प्रत्युत्तर दिया उससे तो राधागुप्त स्तम्भित ही रह गया।

महाराज अशोक ने अपनी शान्त, स्निग्ध, प्रेम-भरी वाणी में कहा—राधागुप्त, तुम्हारी बात सच है। हम जानते हैं कि तुम्हें मगध की परम्परा से प्रेम है। परन्तु हमने तो अपने पुत्र और पौत्रों के ही लिए नहीं, भावी मगध-पतियों के लिए भी यह नीति निर्धारित कर दी है कि वे धर्म-विजय करें, इस लोक का ही नहीं, परलोक का भी विचार रखें। अपने उत्तराधिकारियों के लिए हम धर्म-विजय को ही छोड़ जाना चाहते हैं। मानव की वास्तविक शक्ति इसी मे निहित है। जब तक मनुष्य इस शक्ति से सम्पन्न नहीं हो जाता, युद्ध और हिंसा का अन्त नहीं किया जा सकता। विश्व-शान्ति तभी सम्भव है। और विश्व-शान्ति के बिना मगध में शान्ति नहीं रह सकती; स्थापित की भी गयी तो टिकेगी कै दिन ? यह तो तुम जानते ही हो राधागुप्त, कि युद्ध क्यों होते हैं ? युद्ध होते हैं दिग्विजय के लिए, भूमि के लिए, कीर्ति और धन-सम्पदा के लिए, अपने अधिकार और बड़प्पन की स्थापना के लिए। लेकिन इस लोक के परे भी जो एक लोक है, यदि मनुष्य को उसकी जरा-सी भी झाँकी

मिल जाये तो वह कदापि इन तृष्णाओं के पीछे नहीं दौड़ेगा। पूरे संसार की विजय करके भी अलिकसुन्दर को क्या मिला ? केवल असन्तोष, जीवन का असफलता का बोध ! यदि उसे किसी तरह इस बात की प्रतीति हो जाती कि इस दुनिया के परे एक दुनिया और भी है तो स्वयं उसमें और उसके दुर्दान्त सैनिकों में भी कितना परिवर्तन हो जाता ? इसी लिए तो हम अपने पुत्रों, पौत्रों, प्रपौत्रों और भविष्य के सभी उत्तराधिकारियों से कहते हैं कि धर्म-विजय करो, धर्म-घोषणाएँ करो, धर्म-यात्राएँ करो, धर्म-महामात्य भेजो। परलोक को समझने के लिए इस लोक को समझो, इस लोक को शान्ति प्रदान करो। निश्चय ही तुम्हें दिव्य अनुभव होंगे। हमारी तो यही अटल और अविचल नीति है राधागुप्त ! अब इसमें एक अक्षर भी इधर से उधर नहीं हो सकता। इस नीति को चाहे ब्राह्मी लिपि में लिखो, चाहे खरोष्टी लिपि में, चाहे दाहिने से लिखो चाहे बायें से, बात एक ही है और अक्षर-ब्रह्म की आत्मा सदैव एक ही रहेगी। तुम्हारे लिए भी हमारा यही सन्देश है और इस जालौक के लिए भी और कुमार धर्मविवर्धन और उनके पुत्र दशरथ के लिए भी। जब तक हम जीवित हैं विश्व-शान्ति हमारा प्राण है, हमारी साँसों का सरगम है। पारस्परिक समझ, अहिंसा और प्रेम हमारा जीवन है।

'आक्रमणकारियों को जो करना हो करें, जिस तरह करना चाहें करें, वे भले ही एक बार मैदान मार ले जायें; लेकिन मगध से और भारतवर्ष से वे शान्ति और अहिंसा को कभी मिटा नहीं सकेंगे, निर्मूल नहीं कर सकेंगे। और जब तक भारतवर्ष शान्ति-पथगामी रहेगा, विश्व-शान्ति निर्मूल न हो सकेगी। अकेला भारतवर्ष ही विश्व मे शान्ति स्थापित कर सकता है राधागुप्त, हमारी यह श्रद्धा कभी डिगेगी नहीं।

'मनुष्य प्रकृति से ही शान्ति का उपासक है, हिंसा उसका स्वभाव नहीं। जिस दिन मनुष्य शान्ति को छोड़ देगा उस दिन यह दुनिया दुनिया नहीं रह जायेगी। हिंसक पशुओं को भी कभी किसी देश का विकास करते सुना है ? युद्ध को सर्वस्व समझनेवाले, मार-काट में मस्त रहनेवाले लोग पशु नहीं तो क्या हैं ? भगवान कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र मे दंडनीति की कितनी ही सराहना क्यों न की हो, मेरी राजनीति का अटल सूत्र तो यही है कि 'जीवेन

जीव नो पसितविये'—जीव जीव के द्वारा जीवित न रहे। तुम्हारा काम है इस सूत्र को व्यापक-से-व्यापक व्यावहारिक अर्थों में प्रयुक्त करना, प्रसारित करना, लोक समस्त द्वारा आचरित करवाना। कठोर शब्दों का कोई भूलकर भी प्रयोग न करे, क्रीतदास के लिए भी नहीं। हम तो कठोर शब्दों के प्रयोग को भी हिंसा समझते हैं राधागुप्त ! हमारी नीति का इतने व्यापक रूप में प्रयोग करो और मानव के हृदय-परिवर्तन का अद्भुत चमत्कार तुम स्वयं अपनी आँखों देख सकोगे। हमने जो कहा वह अनुभव-गम्य सत्य है राधागुप्त, और इसी लिए हम कहते हैं कि यह हमारी अटल राजनीति है।'

महाराज की इस शान्त परन्तु दृढ़ वाणी को सुनकर राधागुप्त के तो पाँव-तले की धरती ही खिसक गयी। उसे ऐसा प्रतीत होने लगा मानो वह नितान्त अकेला पड़ गया हो। लेकिन उसने एक बार और प्रयत्न करने के उद्देश्य से दृढ़तापूर्वक कहा—महाराज, इस मगध-राज्य के संस्थापक थे भगवान कौटिल्य। उन्होंने इसका विकास किया, इसे स्थायित्व प्रदान किया। अपनी राजनीति के द्वारा उन्होंने इसे महान भी बनाया। मगध के सम्बन्ध में उनका यह सूत्र उल्लेखनीय है कि मगधपति महान होगा तभी मगध महान रह सकेगा, नहीं तो नहीं। मगध के क्षुद्र होकर रहने की अपेक्षा तो उसका न रहना ही अच्छा। महानताओं की सृष्टि उतनी कठिन नहीं, जितना कि उनके पतन को रोकना। और महाराज, जब तक मैं जीवित हूँ मगध का पतन नहीं होने दूँगा, अपने सर्वस्व की बाजी लगा दूँगा, सब-कुछ का बलिदान कर दूँगा, पर मगध को गिरने नहीं दूँगा। मैं जो कहता हूँ महाराज उसे समझें : आपकी धर्म-विजय संसार में विजयी हो, लेकिन भगवान कौटिल्य की धर्म-विजय राजनीति में अमर हो !

'क्या तुम्हारे इस कथन का यह अभिप्राय है राधागुप्त, कि भगवान कौटिल्य की धर्म-विजय भिन्न है ?'

'जी हाँ ! उन्होंने तीन प्रकार के विजयी माने हैं—धर्म-विजयी, लोभ-विजयी और असुर-विजयी ! कार्षापण लूटने के लिए जो यद्वा-तद्वा बोलकर युद्ध छेड़ता है, जो लुटेरा है, वह लोभ-विजयी है। अकारण युद्ध करनेवाला, स्त्रियों, बालकों और नागरिकों का अपहरण करनेवाला असुर-विजयी कहलाता है।

इन दोनों प्रकार के विजेताओं के समक्ष जो धर्म-विजय नहीं करता, अर्थात् अपने प्रदेश की सीमाओं का विस्तार कर स्वदेश को स्थिरता नहीं प्रदान करता वह राजा कुराजा कहलाता है। इसलिए लोभ-विजयी और असुर-विजयी पर धर्म-विजय करना प्रत्येक राजा का पुनीत कर्तव्य है। हमारे लिए तक्षशिला, गांधार, योन, पार्शव देश, ग्रीक, यवन ये सभी आक्रमणकारी हैं। हमें इन सब को सचेत करना होगा, बार-बार सचेत करते रहना होगा कि मगध महान है। इस कार्य के सम्पादन के लिए आवश्यक है कि युवराज कुणाल तक्षशिला जायें और अविलम्ब जायें। हमने काश्मीर में पाँच सौ अशोकाराम स्थापित किये हैं, प्रदेशपति जालौक महाराज की धर्म-घोषणाओं का निरन्तर प्रचार करते रहते हैं। जिस तरह यह आवश्यक है उसी भाँति युवराज कुणाल का वहाँ जाना भी नितान्त आवश्यक है महाराज !'

'तो क्या हमारी धर्म-घोषणाओं में तुम्हारा विश्वास नहीं ?'

'मुझे ही नहीं, समस्त मनुष्य-जाति को महाराज की धर्म-घोषणाओं में विश्वास है। जिन्हें आज नहीं है, उन्हें भी कल विश्वास होगा। क्योंकि यही मार्ग स्थायी शान्ति का मार्ग है। लेकिन ऐसे भी बहुत-से लोग हैं, जिन्हें इस मार्ग पर विश्वास नहीं।'

'तो क्या तुम यह कहना चाहते हो कि प्रेम की भी सीमाएँ हैं ?'

'नहीं देव, प्रेम असीम होता है, लेकिन मानव का ज्ञान तो सीमित होता है। कोई ज्ञान ग्रहण करता है, कोई नहीं करता। जो नहीं करता उसे हमें ग्रहण करवाना होगा।'

'धर्म-घोषणा का यही तो प्रयोजन है राधागुप्त।'

'लेकिन देव, जब तक यह संसार है इसमें ऐसे लोग भी रहेंगे जो ज्ञान ग्रहण करने के अयोग्य ही नहीं अनधिकारी भी होंगे। ऐसे लोगों के लिए दंड ही उचित नीति है। दंड को अनावश्यक हाथ में नहीं रखना चाहिए और उसका अनावश्यक उपयोग तो कदापि नहीं करना चाहिए। लेकिन दंड को हाथ से सर्वथा छोड़ देना भी उतना ही अनुचित और हानिकारक है। हमें दंड और अदंड दोनों को समान रूप से हाथ में रखना चाहिए। इसी लिए मेरा निवेदन है कि युवराज कुणाल को तत्काल तक्षशिला जाना चाहिए। वह

अपने साथ सेना ले जायें, धर्म-महामात्य यश भी उनके साथ जायें। वह वहाँ शान्ति स्थापित करें और वहीं रहें। जालौक वहाँ रहेंगे ही, कुमार कुणाल भी रहेंगे, वह दिशा सुरक्षित हो जायेगी, उपद्रव-आक्रमण का कोई भय नहीं रह जायेगा। इस काम के लिए महाराज के वहाँ जाने की कोई आवश्यकता नहीं।'

'महामात्य राधागुप्त !' सहसा महारानी तिष्यरक्षिता का अधिकारपूर्ण स्वर गूँज उठा, जिसे सुनकर राधागुप्त चौंक पड़ा। महारानी अपने स्थान से उठ खड़ी हुई थी। वह महाराज के प्रकोष्ठ के प्रवेश-द्वार के समीप क्षण-भर को ठिठकी और उसकी वाणी गूँजती सुनाई दी, 'महाराज की सेवा-शुश्रूषा का भार मैंने अपने ऊपर ले लिया है महामात्य ! इस विषय में मुझे भी कुछ कहना है। मेरी बात सुने बिना कोई भी निर्णय न किया जाये....'

महारानी के इन शब्दों को सुनकर राधागुप्त का विस्मय और भी बढ़ गया। उन शब्दों में उसे एक नयी ही ध्वनि सुनाई दे रही थी।

महारानी के उस स्वर को सुनकर जालौक को भी कम आश्चर्य नहीं हुआ।

६ : : महारानी तिष्यरक्षिता

जालौक महारानी की ओर देखता रहा। इतनी सुन्दर, गर्वोन्नत, सुडौल, शक्ति-सम्पन्न नारी उसने पहले कभी नहीं देखी थी। उस नारी के रोम-रोम से तेजस्विता की किरणें फूटती मालूम पड़ती थीं। वह तक्षशिला, गांधार, काश्मीर और पार्श्व देश में सर्वत्र घूमा था, परन्तु इतना रूप और ऐसी तेजस्विता उसे कहीं देखने को नहीं मिली थी। उस रूप में गजब का आकर्षण था। वह सौन्दर्य पार्थिव नहीं प्रतीत होता था। देखते ही आदमी व्यग्र हो उठता, अपनी सुध-बुध खो देता और उसकी गति-मति हर जाती थी। आँखों में उस नारी का रूप कुछ इस तरह बस जाता कि सर्वत्र वही दिखाई पड़ती और उसके बिना सारी सृष्टि सूनी मालूम पड़ने लगती थी। लेकिन दूसरे ही क्षण वह आकर्षण भय और आतंक में परिवर्तित हो जाता था।

महारानी को देखकर जालौक को भी यही अनुभव हुआ। कल से उसे भाँति-भाँति के अनुभव हो रहे थे। वह योद्धा केवल रणानुभूति का अभ्यस्त था। पाटलिपुत्र की अनेकविध अनुभूतियों ने उसकी विचार-शक्ति को अवसन्न

कर दिया था और महारानी के दर्शनों ने तो मस्तिष्क को लगभग निश्चेष्ट ही कर दिया। बहुत प्रयत्न करके भी वह केवल यही सोच पाया कि यहाँ जो नारी खड़ी है यह अपने-आपको मगधेश्वरी मानती होगी और इसके रहते मेरी अभीष्ट-सिद्धि का मार्ग सुलभ नहीं हो सकता।

महारानी ने महाराज के प्रकोष्ठ में प्रवेश किया। राधागुप्त उसे प्रवेश करते देखता रहा। जिस दृढ़ता और अधिकार से उसने प्रवेश किया वह स्पष्ट ही उसके मनोबल और आत्मविश्वास का परिचायक था। इस समय उसकी गति-विधि और भाव-भंगिमा में उस माधुर्य और कोमलता का लेश भी नहीं था, जिससे उसने महाराज को अपने वश में कर रखा था। राधागुप्त चिन्तित हो उठा कि कहीं यह महारानी कोई नया और उलझन-भरा प्रश्न न खड़ा कर दे!

जालौक को वह जिस उद्देश्य से महाराज के समक्ष लाया था वह तो पूरा न हुआ, और बात ने एक नया ही मोड़ ले लिया। कुणाल को तक्षशिला भेजने की बात निकल आयी थी। अब वह चाहता था कि बात इसी धारा पर बढ़ती जाये और महाराज कुणाल को तक्षशिला जाने की अनुमति प्रदान कर दें। एक तो यह मगध की परम्परा के अनुरूप होता; क्योंकि मगध का युवराज सदा से तक्षशिला का प्रादेशिक बनता आया था। दूसरे, कुणाल के वहाँ जाने से जहाँ जालौक की गति-विधि पर अंकुश लगता वहीं कुणाल की द्विधात्मक मनःस्थिति का अन्त भी होता और वह पूर्ण रूपेण राजकाज में प्रवृत्त हो जाता। तीसरे, शासन-कार्यों में महाराज अशोक के हस्तक्षेप की संभावनाएँ कम हो जातीं। परन्तु ठीक उस समय जब कि प्रसंग निर्णयात्मक रूप ग्रहण कर रहा था महारानी ने प्रवेश कर राधागुप्त के लिए एक नयी समस्या खड़ी कर दी। वह चिन्तित तो हुआ, परन्तु मन को स्थिरकर महारानी के प्रवेश करने और अपनी बात कहने की प्रतीक्षा करने लगा।

महारानी चली आ रही थी। उसके चेहरे पर दृढ़ निश्चय की झलक थी। अवश्य उसने कोई निर्णय कर लिया था, जिससे रंचमात्र भी डिगने का उसका कोई विचार नहीं प्रतीत होता था। अन्दर आकर वह महाराज के सिंहासन पर उन्हीं के पास बैठ गयी। थोड़ी देर वह महाराज की ओर प्रेम-भरी दृष्टि से

देखती रही। फिर धीरे से उनके कन्धे पर अपना एक हाथ रखकर स्नेह-पगे मधुर स्वर में बोली—क्या महामात्य जानते नहीं कि महाराज के इसी कन्धे ने उस धनुष को भी धारण किया है जिसकी टंकार लाखों सैनिकों को कँम्पित कर देती थी और आज उस जल-कुम्भ को भी धारण करता है जो भगवान तथागत के चरणों का प्रक्षालन करने के लिए महाराज स्वयं वहन करते हैं ?

महारानी का यह कथन एक ऐसी गूढ़ पहेली था जिसका सिर-पाँव कुछ भी राधागुप्त की समझ में नहीं आया। समझ में आया केवल यह कि एक-एक शब्द इतना मधुर और प्रेम-भरा था जो किसी भी श्रोता को उसका बिन दामों का गुलाम बना देता।

वास्तव में उसके शब्दों में इतना माधुर्य था कि कोई भी पुरुष उन्हें सुनकर अपना सर्वस्व समर्पित कर देता और उसके एक इंगित-मात्र पर हँसते-हँसते मृत्यु को गले लगा लेता। कूटनीति-प्रवण राधागुप्त भी उस नारी का लोहा मान गया। चिन्तातुर होकर वह सोचने लगा कि या तो मुझे महामात्य-पद छोड़ देना चाहिए या भगवान कौटिल्य की परम्परा का त्याग कर देना चाहिए। निश्चय ही यह इस नारी के किसी भयंकर प्रस्ताव की भूमिका थी।

तभी तिष्यरक्षिता ने अपने सुधा-रस-सिंचित शब्दों मे कहा—महामात्य, महाराज या महाराज्य आपको क्या अधिक प्रिय है ?

राधागुप्त के अन्दर राजनीति का जो मँजा हुआ खिलाड़ी था वह प्रतिद्वन्द्वी की इस ललकार के आगे मौन न रह सका, खम ठोककर मैदान में आ गया। उसने अपने समीप बैठे जालौक की ओर एक उड़ती दृष्टि डालकर कहा—मगध की परम्परा तो यही है देवि, कि महाराज्य हो तभी महाराज हैं। महाराज मुझे प्रिय हैं, परन्तु महाराज्य तो मेरा स्वप्न है, मेरा मनोरथ, मेरा चरम लक्ष्य और परम उद्देश्य।

'धन्य हो राधागुप्त !' तिष्यरक्षिता ने कहा, 'मगध के महामात्य के मुख में यही वाणी शोभा देती है। परन्तु मैं तो रानी हूँ। रानी से भी अधिक नारी हूँ। नारी से भी अधिक महाराज की दासी हूँ। मैं महाराज की रानी नहीं, दासी यह कहती हूँ कि महाराज की आज की इस अवस्था में युवराज कुणाल तक्षशिला तो क्या, कहीं भी नहीं जा सकते।'

'नहीं जा सकते, अर्थात ?' राधागुप्त का स्वर कुछ पैना हो उठा था।

'अर्थात का जो भी अर्थ आप चाहें, लगा लें। मैं तो केवल इतना जानती हूँ कि मैं महाराज की दासी हूँ; महाराज की परिचर्या का भार मेरे ऊपर है। महाराज के स्वास्थ्य की वर्तमान स्थिति में मैं इस प्रकोष्ठ में ऐसा कोई कार्य नहीं होने दे सकती जो महाराज के क्लेश का कारण बने। जहाँ तक महाराज के स्वास्थ्य का सम्बन्ध है, उनकी दासी, देवी, रानी, परिचारिका जो भी आप समझें, मैं हूँ। मैं ही महाराज की औषधि हूँ और उनकी चिकित्सक भी। आप चाहें तो वृद्ध भिषग्वर आकाशगोत्र से पूछ देखें। वह भी यही कहेंगे कि जिस प्रकार रणक्षेत्र सेनापतियों के और राजनीति मंत्रियों के लिए है, उसी प्रकार यह परिचर्या मेरे लिए है। महाराज पर पड़नेवाले प्रत्येक आघात को अपनी छाती पर झेलना मेरा परम धर्म है। युवराज कुणाल इस समय पाटलिपुत्र छोड़ नहीं सकते। महाराज का हृदय इस वियोग को सह नहीं सकता।'

'तो क्या महाराज स्वयं इस अवस्था में तक्षशिला जायेंगे ?'

'नहीं, तक्षशिला जायेंगे मगध के महामात्य।'

रानी के इस कथन का अभिप्राय राधागुप्त की समझ में नहीं आया। यह उसकी महत्वाकांक्षा की प्रतिध्वनि थी या वह महाराज की रुग्णावस्था की ओट में अपने अहम् का पोषण करना चाहती थी ? यह उसकी प्रेम-चिन्ता का स्वर था अथवा कुणाल के नाम पर शासन-सत्ता को हथियाने का दाँव ? बहुत सोचने पर भी रानी के कथन का कोई अभिप्राय उसकी समझ में नहीं आया, इसलिए उसने सारी बात को हँसी मे उड़ा देना ही उचित समझा।

हाथ जोड़कर सिर नवाते हुए उसने कहा—मगध की परम्परा तो यही है देवि, कि महाराज्य को महान समझा जाये; लेकिन इस समय यदि युवराज कुणाल के तक्षशिला जाने से महाराज की अस्वस्थता में वृद्धि होती हो तो अभी के लिए मेरा कोई आग्रह नहीं, बाद में देख लिया जायेगा। और महामात्य का वहाँ जाना तो सर्वथा निरर्थक ही है। वह प्रदेश युवराज का है, भावी मगधपति का ही वहाँ जाना सार्थक होगा। शोभा इसी में है देवि। परम्परा भी यही है। मुझ अकिंचन को महान बनाने का आपका विचार स्तुत्य है, अभिनन्दनीय है। यह आपकी बड़ी कृपा और उदारता है। मैं अनुगृहीत हुआ,

परन्तु मुझे भी तो अपनी स्थिति का विचार करना चाहिए; मैं इस योग्य कहाँ! वैसे तो प्रदेशपति जालौक वहाँ हैं ही और सेनापति हिमवन्त को भी इनके साथ भेजा जा सकता है। केवल महाराज की अनुमति चाहिए।

महाराज अशोक तिष्यरक्षिता की बातें सुनकर मगन हो रहे थे। वह प्रम-रसपूर्ण वाणी उनके लिए वही काम कर रही थी जो शक्तिदाता औषधि किसी दुर्बल रोगी के लिए करती है। उन्होंने कहा—ठीक तो है राधागुप्त! हम स्वस्थ हो जायें, उसके बाद युवराज कुणाल और हम दोनो ही वहाँ जायेंगे। हम घर-घर धर्म-घोषणा को गुँजाना चाहते हैं....

यह कहकर महाराज ने तिष्यरक्षिता को अनुरक्त नेत्रों से देखा। उसके ओठों पर मन्द मुस्कराहट देखकर राधागुप्त की चिन्ता और भी बढ़ गयी। महाराज ने कहा—हम तो महारानी से कहते ही रहते हैं कि यदि यह अपनी प्रेमपूर्ण वाणी में विश्व-शान्ति का सन्देश देने निकल पड़ें तो वर्षों का काम दिनों में पूरा हो जाये। परन्तु यह मानती ही नहीं। इन्हें तो हमारी क्षणभंगुर काया की चिन्ता है!

'लेकिन देव, अभी मैं इस योग्य ही कहाँ कि आपके महान अनुष्ठानों में हाथ बँटा सकूँ। प्रयत्न कर रही हूँ कि महाराज की योग्य दासी बन सकूँ।'

'उस दिन तुम कहोगी कि अब मुझे युवराज कुणाल की याद आती है।'

'देवकुमार-जैसे लड़के की याद भला किसे न आयेगी महाराज? इसी-लिए तो अभी मुझे महामात्य को रोकना पड़ा। क्या जानती नहीं कि महाराज से भी कुणाल का वियोग सहा नहीं जाता और देव विह्वल हो जाते हैं?'

महाराज ने थोड़ी देर मौन रहने के बाद सहसा पूछा—राधागुप्त, प्रदेश-पति कब लौट रहे हैं? हम चाहते हैं कि इनके साथ ही देवानांप्रिय राजा के खरोष्टी लिपि में उत्कीर्ण तेरहों शासनवाले महान स्तम्भ भेज दिये जायें, जिन्हें यह स्थान-स्थान पर स्थापित करवाते चलें।

शासन-कार्यों में महाराज के हस्तक्षेप का रोकने का निश्चय करते हुए राधागुप्त ने निवेदन किया—महाराज, प्रदेशपति को तत्काल जाना होगा। यह विद्रोह को वैसा ही छोड़कर आये हैं। शासन-स्तम्भ बाद में भेज दिये जायेंगे।

तब महाराज ने जालौक की ओर मुड़कर कहा—प्रदेशपति जालौक, तक्ष-

शिला-निवासी ऐसा सोचते हों तो आश्चर्य नहीं कि पाटलिपुत्र हमसे बहुत दूर है और वहाँवालों को हमारी क्या चिन्ता, हममें क्या रस ! इसी लिए हम प्रत्येक प्रदेश में बार-बार जाना और वहाँ के लोगों से मिलना चाहते हैं। लोगों से मिले बिना लोगों की और लोक-कल्याण की बातें करना निरा पाखंड ही नहीं, आत्मघात भी है। लोगों के मन का दुःख और क्लेश तभी मिट सकता है जब राजा और उसके अधिकारी सभी निकायों (वर्गों) से निरन्तर मिलते रहें; नहीं तो पाटलिपुत्र के अधिकारी प्रजा को कष्ट देते रहेंगे। विद्रोह भी तभी होते हैं जब राजा और अधिकारी जन-सामान्य के मन की बात को ठीक से समझ नहीं पाते, या समझने का कोई प्रयत्न नहीं करते। इसलिए तुम जन-साधारण से मिलते रहो, उनके उत्सवों में सम्मिलित होवो। उनसे कहो कि मिथ्या अहम् का पोषण करनेवाली वस्तुओं में कार्षापण का अपव्यय करने की अपेक्षा पारस्परिक सहायता-कार्यों में धन का सद्-व्यय करो। सभी को आदर की दृष्टि से देखो, फिर वह दास हो अथवा भट। बार-बार सदुपदेश देते रहने से कभी-न-कभी तो उसका प्रभाव होता ही है। हमें तो अपने प्रयत्नों से कभी सन्तोष नहीं होता। अधिक-से-अधिक समय जनहित के कार्यों में व्यय करके भी मन सन्तुष्ट नहीं होता। स्वस्थ होते ही हम वहाँ आयेंगे जालौक! युवराज कुणाल को भी साथ लायेंगे। राधागुप्त, इस बार तुम भी चलो। तुम्हें विश्वास हो जायेगा कि मानव सर्वत्र एक है, विभिन्न भाषा और वेशभूषा के रहते भी मानव सभी समान हैं। हाँ, तो प्रदेशपति कब जा रहे हैं—कल ही न?

'जी हाँ, कल ही जाना होगा। दूर का मामला है और विद्रोह छिड़ा हुआ है।'

'तो शासन-स्तम्भ भी साथ ही रवाना कर दो। जालौक, तुम स्थान-स्थान पर उन्हें स्थापित करवाते जाना और उन पर उत्कीर्ण शासनों की घोषणा करवाते चलना।'

'जैसी देव की आज्ञा।' जालौक ने हाथ जोड़कर सिर नवा दिया।

थोड़ी देर बाद जालौक और राधागुप्त महाराज अशोक का आदेश ग्रहण कर बाहर निकल आये। दोनो अपने-अपने विचारों में लीन चले जा रहे थे। दोनो की शिविकाएँ उनके पीछे-पीछे चली आ रही थीं।

जब राधागुप्त की अट्टालिका का रत्नजटित मयूर दिखलाई पड़ने लगा तो जालौक ने महामात्य को सम्बोधित कर कहा—प्रभु, मैं तो आज ही चला जाऊँगा। महाराज के आदेशानुसार धर्म-घोषणाएँ तो की ही जाती है, अब और अधिक की जायेंगी। जो भी महाराज के सम्पर्क में आता है उनके विचारों से अवश्यमेव प्रभावित होता है। परन्तु मुझे वहाँ अधिक सेना की आवश्यकता पड़ ही गयी तो क्या करना होगा ? यहाँ महाराज अस्वस्थ हैं, महारानी शक्तिशाली हैं, और युवराज से तो हमारी भेंट हुई ही नहीं....

राधागुप्त ने उसके कन्धे पर हाथ रखकर कहा—जालौक, मैंने आपकी बात सुनी और वह यहाँ मेरे हृदय में अंकित हो गयी। सेना की आवश्यकता हुई तो वह अवश्य आपको भेजी जायेगी। सेनापति हिमवन्त अभी ही आपके साथ जाते, परन्तु युवराज के साथ भी तो कोई चाहिए। मगधपति कौन हो सकता है और परम्परा क्या है, यह तो मैं बता ही चुका हूँ; जो योग्य होगा, शक्तिशाली होगा, मगध और उसकी प्रजा को महान बना सकेगा वही मगधपति होगा; यहाँ की परिषद् उसी को मगधपति स्वीकार करेगी। इसलिए आप किसी प्रकार की जल्दबाजी न करना। युवराज कुणाल आज आपके साथ नहीं जा रहे, लेकिन एक दिन वहाँ आयेंगे अवश्य। उस समय आप उनकी हर प्रकार से सहायता करना। वहाँ उनका उचित रीति से पथ-प्रदर्शन करना। यहाँ का वातावरण तो आपने देख ही लिया है। क्या महेन्द्र और क्या तिष्यगुप्त, सभी को भिक्खु बनने की धुन सवार है। कल कौन भिक्खु बन जायेगा, आज कहना असम्भव ही है। इसी लिए कहता हूँ कि आपको धीरज से काम लेना होगा। आपके उत्तराधिकार की बात पक्की है। प्रमाण आपने देख ही लिया है। वह प्रमाण मेरे पास सुरक्षित रहेगा। उचित समय पर उसका उपयोग किया जायेगा। लेकिन जल्दबाजी का परिणाम, आप जानते ही हो, प्रतिकूल होगा। यदि आप दो-चार दिन और रुक सकते तो यहाँ बहुत कुछ देखने-सुनने को मिलता। लेकिन वहाँ की स्थिति को देखते अधिक रुकना उचित नहीं। आज रात ही यहाँ से इस प्रकार निकल जाओ मानो आये ही नहीं थे। आपका हित भी इसी में है। और देखो राजकुमार, मेरी बात को गाँठ गाँध लो। आपके उत्तराधिकार की बात पक्की है। प्रमाण मेरे पास पवित्र धरोहर के रूप में सुरक्षित है;

परन्तु परम्परा यही है कि विकटतम विद्रोहों के बीच भी जो अविचलित खड़ा रह सके, मगध को अडिग बनाये रख सके वही मगधपति हो। बस मुझे यही कहना है....

और दोनो अपने-अपने आवासों की ओर मुड़ गये।

उसी रात जालौक काश्मीर के लिए रवाना हो गया।

१० : : राधागुप्त का विषाद

जालौक तो गया, परन्तु राधागुप्त के लिए एक समस्या छोड़ता गया। यों वह प्रदेशपति था, लेकिन अपने मन में तो वह स्वयं को मगध का उत्तराधिकारी ही समझता था। अभी तक जिस तथ्य को वह सुनी-सुनाई बातों और अनुमान के आधार पर मानता था, महामाया की मूर्खता के परिणामस्वरूप अब उसी का निश्चित प्रमाण उसने अपनी आँखों देख लिया था। जब तक वह स्वयं को मगध का एक प्रदेशपति मानता रहे और महाराज अशोक की आज्ञा का पालन करता रहे, उसकी ओर से कोई डर-भय नहीं था। लेकिन जिस घड़ी वह अपने उत्तराधिकार का दावा पेश कर दे, विकट संघर्ष छिड़ जायेगा। और जालौक में इतनी शक्ति और सामर्थ्य थी कि वह चाहता तो विद्रोह का झंडा खड़ा कर सकता था। उसकी महत्वाकांक्षा तो जाग ही उठी थी। ऐसी स्थिति में युवराज कुणाल को वहाँ भेजना निरापद नहीं था। कौन जाने, कुणाल के जाते ही वहाँ दोनो में संघर्ष छिड़ जाये। यद्यपि राधागुप्त ने जालौक को आशा के धागे से हिलगा तो दिया था, परन्तु उस कच्चे धागे को टूटते क्या देर लगती!

राधागुप्त जालौक को लेकर गहरी चिन्ता में पड़ गया। कठिनाई यह थी कि स्वतन्त्र होने की महत्वाकांक्षा अकेले जालौक के ही नहीं, सभी प्रदेश-पतियों के मन में थी। सभी स्वतन्त्र होना चाहते थे और प्रतिवेदकों के समाचारों से पता चलता था कि सब स्वतन्त्र होने के प्रयत्नों में लगे हुए थे। यह सच है कि महाराज अशोक की शान्ति नीति का व्यापक रूप से प्रभाव हुआ था। लेकिन महाराज की धर्म-विजय अकेले उन्हीं की व्यक्तिगत विजय थी। सारा प्रभाव उनके व्यक्तित्व के कारण था। उनके पश्चात् ऐसा कोई भी

व्यक्तित्व नहीं था, जो इस तरह सबको प्रभावित करता। सभी प्रदेशपति इस बात को जान चुके थे। इसी लिए एक ओर वे बाहरी उत्साह से धर्म-घोषणाएँ करते और दूसरी ओर अन्दर-ही-अन्दर सैन्य-शक्ति बढ़ाते जाते थे।

राधागुप्त इस तरह के समाचारों को सुनता और सिर धुनकर रह जाता था। उसे महान मगध-साम्राज्य का सर्वनाश अपनी आँखों के आगे स्पष्ट दिखाई दे रहा था। परन्तु वह कुछ करने की सामर्थ्य अपने में नहीं पाता था। वह नितान्त अकेला पड़ गया था! उसके पुराने साथियों में से कुछ तो मर गये थे, कुछ निष्क्रिय हो गये थे और कुछ भिक्खु बन गये थे। सेनापति यश से उसे बड़ी आशाएँ थीं; लेकिन वह एक ही मूर्ख निकला। पहले धर्म-महामात्य बना और अब लगभग भिक्खु बन गया था। जब ऐसे दृढ़ मनस्वी योद्धा ने ही साथ न दिया तो अन्य किसी का क्या भरोसा!

वह स्थिति पर जितना ही विचार करता उसकी चिन्ता उतनी ही बढ़ती जाती थी। सबसे अधिक तो यह बात उसे दुःखित करती थी कि भगवान कौटिल्य ने जिस महान राज्य की नींव अपने हाथों रखी उसका विनाश उसके महामात्य-काल में हुआ जा रहा था। कलंक का यह ऐसा टीका था जो युग-युगान्तों तक उसके नाम पर लगा रहेगा!

वह जिस ओर भी दृष्टि डालता महान मगध-साम्राज्य के कोट-कंगूरे उसे ढहते हुए दृष्टिगोचर होते थे। आन्ध्र प्रदेश का प्रादेशिक सीमुक था। वह ऊपर से महाराज अशोक का परमभक्त और उनकी शान्ति-नीति का प्रबल समर्थक था। लेकिन भीतर-ही-भीतर उसने विशाल सेना जमा कर ली थी और उचित अवसर की प्रतीक्षा में था। मौका मिला और उसने अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा की!

उधर उसके पड़ोसी कलिंग के भी यही हाल थे। कलिंगपति चैत्रराज ने युद्ध में लाखों सैनिकों को होम दिया, परन्तु मगध की अधीनता को स्वीकार नहीं किया। वह अज्ञातवास में चला गया था। अभी शान्त भी था। लेकिन कब विद्रोह का झंडा खड़ा कर देगा और मगध के जुए को उतार फेंकेगा, कहा नहीं जा सकता। कलिंग के युद्ध में उसकी निर्भयता और वीरता राधागुप्त स्वयं अपनी आँखों देख चुका था।

सौराष्ट्र का राज्जुक तुषाश्व था। वह अशोक का परम भक्त और उनका दाहिना हाथ था। लेकिन उसकी भक्ति केवल अशोक तक ही सीमित थी। जिस दिन महाराज अशोक नहीं रहेंगे, क्या तब भी वह इतना ही राज्य-भक्त रह सकेगा? काश्मीर, मद्र, पांचाल और तक्षशिला पर अभी से उसकी दृष्टि थी। महाराज अशोक के बाद इन प्रदेशों को हथियाने के लिए क्या वह उतावला न हो उठेगा?

सिन्धु-सौवीर, पांचाल, मद्र, तक्षशिला, काश्मीर, योन, गांधार आज केवल मगध की बलवान सेना की सतत उपस्थिति के कारण ही वश में थे और चुप लगाये बैठे थे। जालौक की वीरता ने ही उन्हें मगध-साम्राज्य के साथ बाँध रखा था। जिस दिन जालौक फिर जायेगा ये प्रदेश भी साथ न रह सकेंगे।

अब तो राधागुप्त का सारा दारोमदार युवराज कुणाल पर ही था। वह उसे मगध का योग्य उत्तराधिकारी बनाना चाहता था। जैसे भी बने उसमें महत्वाकांक्षा का बीजारोपण करना चाहता था। उसमें उस वास्तविक राजकुमार को जाग्रत करना चाहता था जो मगध की महान परम्परा को वहन कर सके, आगे बढ़ा सके। वह चाहता था कि कुणाल सेनाओं का संचालन करे, साम्राज्य के प्रत्येक प्रदेश में जाये, वहाँ की स्थिति को स्वयं देखे, प्रदेशपतियों से मिले-जुले, उनकी बातें सुने, लोगों के उत्सव में सम्मिलित हो। महाराज अशोक की धर्म-घोषणाएँ भी भले ही करे; परन्तु साथ ही लोगों के हृदय में यह धाक भी बिठा दे कि वह एक शक्तिशाली नेता और राजा है, दया और प्रेम उसमें है, लेकिन विद्रोहियों के लिए वह कराल काल भी है। आक्रमणकारियों को पददलित करने की उसमें सामर्थ्य है और मगध की सीमाओं का अतिक्रमण तो वह सह ही नहीं सकता। जब तक मगध के उत्तराधिकारी का यह विरुद और ऐसी धाक न होगी साम्राज्य की सीमाएँ सुरक्षित न रह सकेंगी, भगवान कौटिल्य द्वारा स्थापित पौरजनपद और ग्राम-सभाएँ अपना कार्य निर्विघ्न नहीं कर सकेंगी। प्रादेशिक शान्त और अनुगत न होंगे। और यह तभी हो सकता था जब कि कुणाल को यहाँ से बाहर भेजा जाता। इसी लिए राधागुप्त उसे बाहर भेजने को इतना उत्सुक था।

यहाँ का वातावरण और कुणाल की असीम पितृ-भक्ति तो बाधक थी ही, रानी तिष्यरक्षिता का बढ़ता हुआ महत्व और अधिकार भी कम बाधक नहीं था। उस नारी ने अपनी प्रेम-मोहिनी में सभी को जकड़ लिया था। महाराज उसके प्रेम के बन्दी थे। उनके लिए तो उसका साधारण शब्द भी आदेश बन जाता था। कुणाल उसका मुँह देखता रहता था। राजसभा में भी उसके समर्थकों और माननेवालों की कमी नहीं थी।

ऐसी स्थिति में उद्धार का केवल एक ही मार्ग था—जैसे भी बने कुणाल को यहाँ से बाहर निकालना और उसके मन में मगध की महानता और अपने उत्तराधिकार के गौरव को जाग्रत करना। कुणाल के मन में यह बात बिठानी ही होगी कि मगध की परम्परा का निर्माण यों ही नहीं हो गया। अनेक महा-पुरुषों ने अपना समस्त जीवन और हृदय का रक्त देकर इस परम्परा का निर्माण किया है। ऐसी महान परम्परा का उत्तराधिकारी होना सामान्य बात नहीं। त्याग और पितृ-भक्ति ठीक है; लेकिन जनहित के लिए जानकी का परित्याग करनेवाले मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान रामचन्द्र की परम्परा को अपनाना हर किसी के बूते की बात नहीं, केवल पुरुषोत्तम ही ऐसा कर सकते हैं। और जब तक कुणाल पुरुषोत्तम बनने का प्रयत्न नहीं करेगा किसी के भी किये कुछ न होगा।

जिस दिन जालौक गया उस रात महामात्य राधागुप्त अपनी विशाल अट्टालिका की चन्द्रशाला में व्यग्र मन इधर-से-उधर घूमता हुआ बड़ी देर तक इसी प्रकार के विचारों में डूबता-उतराता रहा। अनेक योजनाएँ, अनेक विचार, भाँति-भाँति की शंकाएँ और सन्देह उसके मन में उभरते रहे, वह व्यथित होता रहा; लेकिन परिस्थिति का कोई सुलझाव, समस्या का कोई समा-धान उसकी पकड़ में नहीं आता था!

वह जितना ही सोचता, जितना ही मनोमन्थन करता उसका विषाद बढ़ता जाता था। नियति का कैसा क्रूर व्यंग्य था कि आज वह महामात्य होते हुए भी महामात्य नहीं था; महाराज अशोक भारत के चक्रवर्ती सम्राट् होकर भी सम्राट् नहीं थे; कुणाल युवराज होकर भी युवराज नहीं था। तिष्यरक्षिता महारानी थी और नहीं भी थी। आज तो पाटलिपुत्र में सब-कुछ द्विधात्मक

स्थिति में था। भव्यता थी और नहीं भी थी। क्या उसके भाग्य में यही लिखा है कि वह इतने महान और विशाल साम्राज्य का विनाशक और उसके खंड-हरों का स्रष्टा बने? हाय रे उसका दुर्भाग्य! कौन है जो उसकी इस व्यथा और वेदना को देख और समझ सके? कोई नहीं! कोई भी नहीं!!

क्या सभी महापुरुषों के भाग्य में यही लिखा होता है कि वे अपने जीवन के अन्तिम दिनों में अपने ही द्वारा निर्मित महानताओं के खंडहरों में भटकते फिरें? क्या भगवान कृष्ण और क्या वीरवर अर्जुन, क्या भगवान परशुराम और क्या मर्यादा पुरुषोत्तम राम, सभी को, भीष्म और चन्द्रगुप्त मौर्य और वैशाली नगरी को भी यही अनुभव करना पड़ा था। और आज राधागुप्त भी अपनी उत्तरवय में नियति की वही पगध्वनि सुन रहा था। वेदना और विषाद की क्रूर ज्वाला उसके रोम-रोम को दग्ध करने लगी थी। कँकरी चुन-चुनकर उसने जिस भव्य भवन का निर्माण किया था आज उसी की एक-एक कँकरी खिसकती चली जा रही थी और प्रत्येक कँकरी शिला से भी अधिक जोर के साथ उसके हृदय पर आघात करती थी और उसकी विवशता तो देखो कि न कँकरियों का खिसकना रोक सकता है, न उन्हें जोड़ सकता है, न टिकोने ही दे सकता है, केवल खड़ा देखता रह सकता है! इस प्रकार तिल-तिलकर जलने और व्यथित होने की अपेक्षा तो दहकते अग्निकुंड में जल मरना कहीं सुखदाई होता!

जिस प्रकार अन्धा आदमी काँटों की बाड़ में फँस जाता है और निकल नहीं पाता, निकलने के प्रयत्न में प्रतिक्षण काँटों से भिदता चला जाता है वही स्थिति इस समय राधागुप्त की हो रही थी। प्रत्येक विचार शूल की भाँति भिदता और हर संस्मरण अग्नि की लपट की भाँति जलाता था। जालौक को उसने आशा बँधाई तो थी और उसमें तक्षशिला के विद्रोह को शान्त करने की शक्ति भी थी; लेकिन तक्षशिला के प्रश्न को निपटाने के बाद यदि उसने स्वतन्त्र होने का प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया तो क्या मगध-साम्राज्य की ईंटें खिसकने नहीं लग जायेंगी? अग्नि की लपटें आन्ध्र से, कलिंग से, तक्षशिला से, सौराष्ट्र से, अवन्ती से कहीं से भी उठ सकती थीं। वह शोलों को भड़कते देख रहा था, परन्तु कहता किससे? कौन था उसका साथी? उसने समस्त भारत देश

की चारों दिशाओं में देखा, ढूँढ़ा, लेकिन उसे अपना एक भी साथी कहीं दिखाई नहीं दिया।

जिस यश पर आशाएँ थीं, वही महाराज अशोक का पहला धर्म-महामात्य बना। जिस महेन्द्र पर आशा थी, वह भिक्खु बन गया। जिस तिष्यकुमार पर आशा थी, उसने भी भिक्खुओं का भेष धारण कर लिया। आर तो और सुमन-कुमार का निग्रोध भी धम्म और संघ की शरण चला गया। महान चन्द्रगुप्त-सभा निष्क्रिय पड़ी थी। मंत्री सुबन्धु मर-खप गया था। बराबरी का प्रतिद्वन्द्वी महामंत्री खल्लाटक अपने भवन मे पड़ा अन्तिम दिन गिन रहा था। सौगन्ध खाने को एक युवराज कुणाल था और दूसरा वह जालौक। लेकिन दोनो में संघर्ष अनिवार्य था। और यदि संघर्ष छिड़ ही गया तो वह किसी भी तरह उसे रोक न सकेगा। अवन्ती से आर्यपुत्र कुणाल की सहायतार्थ दौड़ा आयेगा। भयंकर महाभारत छिड़ जायेगा। देश विनाश के अतल गर्त में जा गिरेगा। सर्वत्र अराजकता व्याप्त हो जायेगी, लूट-मार मच जायेगी। मगध को महानतम बनाने के उसके सारे सपने छिन्न-भिन्न हो जायेंगे।

बड़ी रात तक राधागुप्त इसी प्रकार के दुःखदाई विचारों से व्यथित होता रहा। अन्धकार में उसे सेनाओं का पाटलिपुत्र पर आक्रमण, दुर्ग-प्राचीरों का ध्वंस होना, गंगा-शोण के जल का रक्त-रंजित होना, आदि स्पष्ट दिखाई दे रहा था। उसकी कल्पना ने यह भी देखा कि जिस पाटलिपुत्र में श्रेष्ठ नरपुंगव हास-विलास करते थे वहीं नराधम और निम्नकोटि के नर झूम रहे हैं। वह अधिक देख न सका। उसने दोनो हाथों से अपनी आँखें मूँद लीं। लेकिन कल्पना की कौन-सी सृष्टि चर्म चक्षुओं को मूँदने से मिटी है कि उसकी वह काल्पनिक सृष्टि मिटती!

अन्त में अपने विचारों और कल्पनाओं से पीछा छुड़ाने के लिए वह चन्द्रशाला में से भाग खड़ा हुआ। एक साथ चार-चार सीढ़ियाँ फलाँगता हुआ वह नीचे उतर आया। नीचे आकर भी उसे शान्ति नहीं मिली। कहाँ प्रकाश है, किधर छाया है, किधर मार्ग है, कहाँ खाई है, उसे कुछ भी दिखाई नहीं दे रहा था। वह अपने उद्यान के वृक्ष और वीथियों में पागल की भाँति भटकता रहा, भटकता ही रहा।

सहसा उसे ऐसा प्रतीत हुआ मानो सामने से भगवान कौटिल्य चले आ रहे हैं। कहीं वह स्वप्न तो नहीं देख रहा? उसने आँखों को मलकर देखा और वहीं खड़ा रह गया। उसने अपने कन्धे पर किसी के हाथ का स्पर्श अनुभव किया और उसके कानों को किसी परिचित स्वर की ध्वनि सुनाई दी:

'राधागुप्त, महामात्य राधागुप्त! क्या इतनी जल्दी भूल गये कि भारतवर्ष में तो महामात्यों का काम ही है असम्भावनाओं के महासागर से जूझना! बताओ कौन-सा ऐसा महामात्य हुआ है जो कालनद की धारा के विपरीत न तैरा हो? महान प्रयत्नों का अन्तिम परिणाम पराजय ही क्यों न हो, परन्तु वीर कभी प्रयत्नों से पराङ्मुख नहीं होता। पराजित वही है जो प्रयत्न करना छोड़ दे। जागो, महामात्य जागो! तुम्हारा काम है जूझना, परिणामों की चिन्ता छोड़कर जूझते रहना। प्रयत्न कितने ही महान क्यों न हों प्रकृति ने सभी के भाग्य में यही लिखा है कि वे एक दिन विलुप्त हो जायें और पुनः प्रकट हों। वह देखो तुम्हारा विलुप्त मगध वहाँ प्रकट हो रहा है....'

राधागुप्त ने आँखें टिमटिमाकर देखा तो उसे आँखों के आगे अवन्ती और विदिशा की भूमि और उस भूमि पर महान गजराजों की पंक्तियाँ दिखाई दीं।

हठात् उसे रानी पद्मावती (कुणाल की माता) का कथन याद हो आया। उसने कहा था कि अवन्ती ही भारतवर्ष की भावी राजधानी है। उसी रानी पद्मावती के पुत्र कुणाल को उसने राज्जुक तुषाश्व को भेजकर पाटलिपुत्र बुलवाया था। उसकी देख-भाल और शिक्षा-दीक्षा का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व उसने अपने ऊपर लिया था। मगध के सिंहासन पर आसीन करने के ही लिए उसने उसे बुलवाया था। उसकी माता को उसने यही वचन दिया था।

राधागुप्त सावधान हो गया। भविष्य कितना ही अन्धकारमय क्यों न हो, उसका कर्तव्य है कुणाल को तैयार करना।

इस विचार के आते ही उसका विषाद उड़ चला, निराशा मिटने लगी और आशा के सुनहरे रंग चटकने लगे।

उसने जोर से ताली बजायी। एक यवनी भागी चली आयी।

'शिविका ला! यवनी, शिविका ला!'

आश्चर्यान्वित यवनी यह सोचती हुई शिविका लाने चली गयी कि अभी, आधीरात के समय, महामात्य को कहाँ जाना है।

११ : : खल्लाटक के यहाँ

राधागुप्त नूतन उत्साह से भर गया। अपनी निराशा को उसने झटककर परे फेंक दिया। मृतप्राय चन्द्रगुप्त-सभा को उसने पुनर्जीवित करने का निश्चय किया। इसके लिए वह वृद्ध महामंत्री खल्लाटक से मिलने के लिए शिविका में बैठकर चला।

खल्लाटक इन दिनों अपने ही भवन में पड़ा रहता था। वह कहीं भी आता-जाता नहीं था। यहाँ तक कि चन्द्रगुप्त-सभा के अधिवेशनों में भी सम्मिलित नहीं होता था, यद्यपि महामंत्री वही था और सभा की बैठकें भी यदा-कदा ही होती थीं। हुआ यह कि जब उसके सारे प्रयत्न निष्फल हो गये तो वह निराश और निष्क्रिय होकर बैठ रहा। वैसे अशोक के धर्मातिरेक का वह भी मन-ही-मन विरोधी था और चाहता था कि चन्द्रगुप्त-सभा का गौरव और अधिकार पुनः स्थापित हो। परन्तु वह अपने-आपको नितान्त अकेला पाता था। उसका कट्टर समथक सुबन्धु मर गया था, आर्यपुत्र दूर अवन्ती में पड़ा था। और महाराज की लोकप्रियता के आगे राधागुप्त का भी कोई वश चलता न देख खल्लाटक ने चुप मारकर बैठना ही उचित समझा।

आज राधागुप्त नूतन उत्साह से भरा उसी खल्लाटक से मिलने के लिए जा रहा था। जब उसकी शिविका महामंत्री के भवन के समीप पहुँची तो चारों ओर सन्नाटा छाया हुआ था। द्वारपाल, जो खड़ा झपकियाँ ले रहा था, आँखें मलकर देखने लगा। सोने के घुँघरू महाराज, महारानी अथवा महामात्य की शिविकाओं में ही लग सकते थे। इधर तो उनमे से कोई आता नहीं। आज पता नहीं कौन आ रहा है? वह कुछ घबरा गया और हड़बड़ाते हुए आगे आकर उसने प्रणाम किया।

'द्वारपाल, महामंत्री जागते तो हैं?'

'नहीं प्रभु, सो गये हैं।'

'स्वस्थ तो हैं?'

'हाँ देव, स्वस्थ तो हैं।'

'तो यह मुद्रा ले जाकर उन्हें दो। मेरा नाम भी बता देना। बड़ा ही महत्वपूर्ण और आवश्यक कार्य है। अभी तत्काल भेंट करनी है।'

द्वारपाल चकित होता हुआ अन्दर चला गया।

थोड़ी ही देर बाद महामात्य राधागुप्त और महामंत्री खल्लाटक मंत्रणागार में बैठे दिखाई दिये। वे जहाँ बैठे थे वहाँ सुगन्धित तेल के दीये जल रहे थे। बाहर से गवाक्षों और वातायनों की राह शीतल, मन्द, सुगन्धित पवन के झोंके आ रहे थे। आज दोनो कई वर्षों के बाद मिल रहे थे। दोनो के मन में बीते-दिनों के संस्मरणों की भीड़ लगी हुई था। सुमन का अग्निकुंड में दहन और राधागुप्त की विजय सुदूर अतीत की नहीं, अभी कल की घटना-जैसी लग रही थी। थोड़ी देर तक दोनो आदमी एक-दूसरे का मुँह देखते हुए चुपचाप बैठे रहे।

खल्लाटक राधागुप्त की दुरभिसन्धियों और कूटनीतियों से परिचित था। इस विलक्षण महामात्य के लक्ष्य-सिद्धि के लिए किये गये अनेकों क्रूर और घातक कार्यों को वह अपनी आँखों देख चुका था। इस समय वह सचिन्त भाव से यही सोच रहा था कि इसके आने का वास्तविक उद्देश्य क्या है? इस बुढ़ापे में यह दुष्ट मुझसे क्या चाहता है? मैं तो अब किसी भी दन्द-फन्द में नहीं। सब ओर से निवृत्त, अपने घर में पड़ा, अन्तिम दिन गिन रहा हूँ। पता नहीं, यह मुझे किस गर्त में धकेलने के लिए बिन बुलाये आधीरात में आ धमका है! जिसने अपने ही राजा के बेटे सुमन को धधकते अग्निकुंड में फेंक दिया, देवाधिदेव-जैसे महान शिल्पी का निकृष्टतम उपयोग करते न चूका, रानी चारुअंगी को जिन्दा जलाते जिसकी भौंहों पर बल न पड़े, न्यग्रोध को ढोल बजाकर जिसने भिक्खु बना दिया, वह क्या नहीं कर सकता! ऐसे नरपिशाच से बात करना तो दूर, उसका मुँह देखना भी पाप है। इन विचारों के साथ खल्लाटक ने जैसे अपने मन के सभी द्वारों और वातायनों को बन्द कर लिया और चेहरे को किंचित् कठोर और अमैत्रीपूर्ण बनाते हुए रूखे स्वर में पूछा—महामात्य, इस समय कैसे कष्ट किया? मुझ अकिंचन की इस आधीरात में ऐसी क्या आवश्यकता पड़ गयी?

खल्लाटक इतना तो समझ ही गया था कि अशोक का सिंहासनासीन करने

के लिए राधागुप्त ने जिस अग्निकुंड को प्रज्वलित किया था वह सुमन का नर-मेध पाकर भी शान्त नहीं हुआ। उस अग्निकुंड में मगध की स्थापित परम्परा ही स्वाहा हो गयी थी। एक-एक कर सभी राजकुमार उसमें होमे जा चुके थे। आज मगध की परम्परा का रक्षक कोई बचा नहीं था। मगध पहले से विस्तारित हुआ था, विशाल और महान भी बना था, परन्तु मगध को टिकाये रखने-वाला कोई नहीं था; राज्य तो था, परन्तु राजा कहाँ था? महान उत्तराधिकार तो था, लेकिन उत्तराधिकारी कौन था? अवश्य यही समस्या इस आधीरात के समय राधागुप्त को यहाँ खींच लायी होगी।

लेकिन राधागुप्त के आगमन के सम्बन्ध में उपर्युक्त औपचारिक प्रश्न पूछकर उसने ऐसा मुँह बना लिया जो कह रहा था कि देखो भाई, मैं न तो ऊधो के लेने में और न माधो के देने में; मुझे किसी से कोई मतलब नहीं, नागनाथ जीतें या साँप नाथ मरें, मेरी बला से!

राधागुप्त ने वह स्वर सुना, वह मुख-मुद्रा देखी, उसे बुरा भी बहुत लगा; लेकिन वह इस सब के लिए तैयार होकर आया था। उसने निश्चय कर लिया था कि इस खूसट को जैसे बने राजी करना होगा। वह अब भी महामंत्री था। निष्क्रिय हो जाने पर भी उसकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। शासन-व्यवस्था के प्रश्न पर यदि खल्लाटक चन्द्रगुप्त-सभा का अधिवेशन आयोजित करने को प्रस्तुत हो सकता तो आधा काम बन जाता।

पहले भूमिका बाँधना आवश्यक समझ राधागुप्त ने विनम्रतापूर्वक कहा—महामंत्रीश्वर, सबसे पहले तो मैं क्षमा-याचना करता हूँ कि आपको इस असमय कष्ट दे रहा हूँ। लेकिन बात बड़ी महत्वपूर्ण है और मुझे आपकी सलाह भी....

'वह तो मैं बिन कहे ही समझ गया। बात महत्वपूर्ण न होती तो आपको क्या पागल कुत्ते ने काटा है जो आधीरात सिर पर लेकर मेरे यहाँ आते! बताइए क्या बात है? लेकिन इतना समझ लीजिए कि मैं बूढ़ा हूँ, दुर्बल हूँ। स्वास्थ्य भी अब उतना अच्छा नहीं। इस उम्र में केवल शान्ति से पड़े रहना चाहता हूँ। वह युद्धोन्माद और संघर्ष-प्रेम अब रहा नहीं। मार-धाड़ का कोई काम हो तो क्षमा चाहता हूँ। ऐसे काम करना तो दूर, उनके बारे में सुनना

भी नहीं चाहता। कभी जमाना था कि अग्निकुंड के किनारे भी खड़ा रह सका था, लेकिन अब तो उसकी याद भी कलेजा कँपा देती है।'

खल्लाटक ने चोट तो करारी मारी थी, लेकिन राधागुप्त भी कुशल खिलाड़ी था। तेवर भी मैले न होने दिये। शान्तिपूर्वक बोला—वह जमाना तो कभी का बीत गया देव। न वह समय रहा, न वह हवा ही रही। आज की अपनी समस्याएँ हैं, अपने प्रश्न हैं, और उसमें भी मुख्य प्रश्न यह है कि कोई कुछ चाहता ही नहीं। भगवान कौटिल्य ने भगीरथ प्रयत्नों से जिस परम्परा की स्थापना की, जो प्रासाद खड़ा किया उसे लेनेवाला, आगे बढ़ानेवाला आज कोई नहीं। कौटिल्य ने जिसका सृजन किया उसी का आज....

'विसर्जन कर दिया जाये राधागुप्त! जब कोई लेनेवाला है ही नहीं तो क्यों न विसर्जन कर दिया जाये? सृजन और विसर्जन तो प्रकृति का अटल नियम है। प्रकृति के क्रम को कौन रोक सका है?' खल्लाटक के स्वर में व्यंग्य की पैनी चमचमाती धार थी।

'महामंत्रीश्वर, बात तो आपकी सच है। जो आता है वह जाता भी है। उदय होगा तो अस्त भी अवश्य होगा। लेकिन यह जानते हुए भी क्या हम मध्याह्न सूर्य से कह सकते हैं कि तुम अस्त हो जाओ! मगध-साम्राज्य का यह मध्याह्न काल है देव!'

'अभी ही मध्यरात्रि का यामघोष हुआ है। रात बीती जा रही है। लम्बी चर्चा हो, समय अधिक लगने को हो तो मैं ही कल प्रातःकाल आपके निवास-स्थान पर आ जाऊँ।'

खल्लाटक ने फिर वार किया। मध्याह्न के साथ मध्यरात्रि का उल्लेख इस बात का सूचक था कि दुपहर होते हुए भी आधीरात का अन्धकार छाया हुआ है। परन्तु राधागुप्त तो यह निश्चय करके घर से चला था कि हर चोट और हर व्यंग्य को फूलों का हार समझकर गले लगाना होगा और अभीष्ट-सिद्धि करनी होगी। उसके मन मुख्य बात खल्लाटक की लोक-प्रतिष्ठा थी और वह उसी का उपयोग करने के लिए यहाँ आया था। उसने खल्लाटक की वक्रोक्ति को सुना-अनसुना करके कहा—देव को वह कहावत तो याद होगी ही कि बूढे करें कमाल!

'अरे भाई, तुम तो पहेली बुझाने लगे। मैं बूढ़ा अब क्या कमाल करूँगा ? बात खोलकर कहो तो कुछ समझ में आये। पता चले कि मेरी ऐसी क्या आवश्यकता पड़ गयी ?'

'चन्द्रगुप्त-सभा को जीवित करना है।'

'चन्द्रगुप्त-सभा को जीवित करना है ? वह तो जीवित ही है। उसे क्या जीवित करना है ! बस, तुम्हें यही कहना था ! यदि तुम्हारा यही अभिप्राय हो कि मैं परिषद् की बैठक में आऊँ तो वह मुझे स्वीकार है। अवश्य आऊँगा। बुढ़ापे और बीमारियों के कारण अब कहीं आना-जाना अच्छा नहीं लगता, लेकिन तुम कहते हो तो आऊँगा और नियमित आता रहूँगा।'

'नहीं देव, मेरा अभिप्राय यह है कि उसे जीवित किया जाये और आप उसे सजीव करें।'

'लेकिन वह मरी ही कब थी कि मैं सजीवन करूँ ?'

'वह इधर के इन वर्षों में जीवित ही कब थी कि मरती ?'

'भई, यह तुम फिर पहेलियाँ बुझाने लगे। जो बात हो खोलकर स्पष्ट शब्दों मे कहो तो कुछ पता चले। किसी बाह्य आक्रमण की आशंका तो नहीं है ?'

राधागुप्त को अपनी बात कहने का यही अवसर सबसे उपयुक्त प्रतीत हुआ। उसने विश्वासोत्पादक स्वर में कहा—देव, जब-जब संकट का समय आया, किसी-न-किसी महामंत्री ने मगध का मार्ग-दर्शन किया है। आज आपको भी वही उत्तरदायित्व निभाना है। बाह्य आक्रमण की बात होती तो कोई-न-कोई बलाधिकृत निकल आता। महाबलाधिकृत हिमवन्त ही तैयार हो जाते। परन्तु प्रश्न तो आन्तरिक आक्रमण का है।

'क्या किसी प्रदेशपति ने सिर उठाया है ?'

'प्रदेशपति के उठे हुए सिर को कुचलते क्या देर लगती है देव ! प्रश्न है आपकी प्रतिष्ठा का, आपके जीवन-भर की उपासना और साधना का; आज कसौटी है आपके मगध-प्रेम की। बात किसी प्रदेशपति की नहीं देशपति की है।'

खल्लाटक की अन्तरात्मा तक काँप उठी। देशपति अर्थात् स्वयं देवानां-

प्रिय महाराज प्रियदर्शी अशोक की बात है ! जिस अग्निकुंड में इसने सुमन को झोंका था क्या वह पाप का अग्निकुंड बनकर अपनी ज्वालाओं से इसे जला रहा है ? लेकिन खल्लाटक ने यह कुछ न कहा। केवल अनजान की तरह पूछा—देशपति से तुम्हारा अभिप्राय क्या है राधागुप्त ?

'मेरा अभिप्राय महाराज अशोक से है।'

'क्यों, महाराज अशोक को क्या हुआ ? कहीं अधिक अस्वस्थ तो नहीं हो गये ? मैं तो अपना उद्यान छोड़कर कहीं जाता नहीं, इसलिए कुछ पता नहीं। भिषग्वर क्या कहते हैं ?'

'भिषग्वर क्या कहेंगे ! यह तन का रोग तो है नहीं। रोग मन का है, मन से भी अधिक विचारों का, विचारों से भी अधिक कल्पना का और कल्पना से भी अधिक आदर्शों का। महाराज का रोग दिनोदिन असाध्य होता जा रहा है।'

'यह तुम क्या कह रहे हो राधागुप्त ? यदि स्वयं अपने कानों न सुनता तो कदापि विश्वास न करता कि तुम ऐसी बात भी कह सकते हो। किसी औरने कहा होता तो मैं उसे पागल या दुष्ट ही समझता। महाराज अशोक ने तो इसी धरती पर स्वर्ग का निर्माण कर दिया है। मुझे तो महाराज नहीं, तुम्हीं रोगाक्रान्त प्रतीत होते हो। इस रोग की औषधि मेरे पास नहीं, भिषग्वर आकाश-गोत्र के पास मिलेगी। उन्हीं से अपना निदान और चिकित्सा कराओ। रोग कहीं असाध्य न हो जाये। रात भी अधिक हुई....'

लेकिन राधागुप्त तो इसके लिए भी तैयार था। वह जरा भी हतोत्साहित नहीं हुआ। वैसे ही शिष्ट, मिष्ट और प्रिय स्वर में खल्लाटक को उद्बोधित करता हुआ बोला—महामंत्रीश्वर, मैं जानता हूँ कि एक समय हम दोनों प्रतिद्वन्द्वी थे। यह भी जानता हूँ कि आपको परास्त करने में मैंने कुछ भी उठा न रखा था। लेकिन मैं आपके मन और हृदय को भी जानता हूँ। यदि न जानता तो आज यहाँ इस समय कदापि न आता। मैं यह जानता हूँ कि आप वृद्ध हैं, अशक्त हैं, आपको राज-काज की बातों में कोई रस नहीं है। परन्तु साथ ही यह भी जानता हूँ कि सिंह कितना ही बूढ़ा क्यों न हो जाये वह अपने अधिकार-क्षेत्र की मर्यादा का उल्लंघन, और अपने गौरव की हानि कभी सह नहीं

सकता। आज प्रश्न मगध-साम्राज्य के गौरव और प्रतिष्ठा का है। जिस महान मगध-राज्य की स्थापना स्वयं भगवान कौटिल्य ने की थी वह जीवित रहेगा या मर जायेगा ? जो प्रजा वर्षों से शान्ति और व्यवस्थापूर्वक सुशासन के अन्तर्गत सुख से रहती आयी है, सुशासन के अमृत फलों को निश्चिन्त होकर चखती आयी है, आज उसी के माथे पर बिन बादल की गाज कड़ककर टूटने को है और वह विनष्ट हो जायेगी। खंडहर भी नहीं बचेंगे। सर्वनाश ही हो जायेगा। स्थिति यही है। वह दिन दूर नहीं है जब महान सम्राट् चन्द्रगुप्त के इस साम्राज्य में अव्यवस्था, अराजकता, कुशासन और पारस्पारिक संघर्ष फूट निकलेंगे। इसी लिए तो मैं आधीरात माथे पर लेकर आपकी सेवा में उपस्थित हुआ हूँ; और यह जानकर आया हूँ कि आप मगध के महामंत्री हैं, आपने इस साम्राज्य का निर्माण किया है, इसका गौरव और महत्व आपका अपना गौरव और महत्व है, यहाँ की धरती आपको प्राणों से भी प्रिय है, और इसकी रक्षा के लिए आप कटिबद्ध होंगे। महामंत्रीश्वर, जब देश पतन के गर्त में जा रहा हो, उसका उद्धार करना हमारा पुनीत कर्तव्य है। आइए, हम इसको बचायें, हम इसका उद्धार करें, इसे नष्ट न होने दें, खड़े देखते न रहें।

राधागुप्त की बात समाप्त होते ही खल्लाटक ने बड़े जोर का ठहाका लगाया। उसकी खोखली गूँज सारे भवन में प्रतिध्वनित हो गयी। इतनी उपेक्षा और इतना उपहास भरा था उस हँसी में कि कितने ही दृढ़ मनोबल का व्यक्ति होता तो भी उसकी छाती ठिठुर जाती।

फिर खल्लाटक ने कहा—राधागुप्त, सच ही तुम्हें आकाशगोत्र से सलाह लेनी चाहिए। मुझे भय है कि तुम कहीं उन्मादग्रस्त न हो जाओ। महामात्य चाणक्य की आत्मा तो कहीं तुम्हें नहीं सता रही ? तुम्हारी ऐसी मूर्खतापूर्ण और बेसिर-पैर की बातों का और तो कोई कारण मेरी समझ में नहीं आता। जिस नरपुंगव ने सारे भारतवर्ष का वातावरण बदल डाला, ठेठ रोम, मिस्र, ताम्रलिप्ति और ताम्रपर्णी तक विश्व-शान्ति का सन्देश प्रचारित किया, आटविकों तक को जिसने प्रेम से वश में कर लिया, युद्धों का नामोनिशान मिटा दिया, उसे हम-तुम क्या समझ सकेंगे ? तुम्हारे लिए अच्छा यही होगा कि घर जाकर चुपचाप सो जाओ। महाराज अशोक मनुष्य नहीं हैं, राजा भी नहीं हैं। वह

होगा। यदि आप आना न चाहें तो वैसा कहिए। तब मैं भी संन्यास ले लूँ। यहाँ से दूर, हिमालय गलने चला जाऊँ। न रहेगी आँख और न होगी पीर। मैं मगध का पतन अपनी आँखों देख नहीं सकता।'

'लेकिन यह तो बताओ राधागुप्त, कि मुझे क्या करना होगा ?'

'केवल चन्द्रगुप्त-सभा को सजीव करना होगा, भगवान कौटिल्य की परम्परा और प्रणाली को पुनः स्थापित करना होगा। आगे से शासन चन्द्रगुप्त-सभा ही करेगी।'

'और महाराज अशोक ?'

'महाराज अशोक पदभ्रष्ट होंगे। महान मगध है, मगधपति नहीं।'

खल्लाटक मारे आश्चर्य के उठकर खड़ा हो गया—राधागुप्त, राधागुप्त ! यह तुम क्या कह रहे हो ? अपने भान में भी हो या सारी बुद्धि बेच खायी है ? अभी तक मैं तुम्हें पागल और दुष्ट समझता था, लेकिन अब सोच नहीं पा रहा हूँ कि क्या समझूँ ? भला महाराज अशोक को पदभ्रष्ट करने की बात सोची भी जा सकती है ! यह तो हिमालय को उखाड़ने-जैसी असम्भव कल्पना है। तुम्हारी इस बात का न तो कोई सिर है और न पैर। एकदम व्यर्थ बात है !

'हो सकती है, परन्तु मैंने तो निर्णय कर लिया है। और मेरा यह निर्णय अटल है।'

'तुम पागल तो नहीं हो गये हो ?'

'अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए जो एकाकी लड़ता है लोग उसे पागल ही कहते हैं। उसका पागलपन वीरों की वीरता को भी लज्जित कर देता है। दुनिया में ऐसे सच्चे पागल हैं ही कहाँ ?'

खल्लाटक आश्चर्य से आँखें फाड़े राधागुप्त की ओर देखता रह गया। उस चेहरे पर सर्वस्व होमकर रणक्षेत्र में कूदनेवाले योद्धा की दृढ़ता थी। तो क्या इस दुष्ट ने महाराज अशोक को ही....नहीं, नहीं ! ऐसा हुआ तो मगध के नाम पर यावच्चन्द्रदिवाकरौ कलंक का टीका लग जायेगा। परन्तु जो व्यक्ति एक बार अग्निकुंड में नरमेध कर सकता है वह दुबारा भी....लेकिन पूछकर पता तो लगाया जाये कि ऐसे निर्णय का कारण क्या है।

खल्लाटक ने किसी तरह अपनी व्यग्रता को छिपाकर पूछा—लेकिन राधागुप्त, ऐसा हुआ क्या है जो तुम्हें यह निर्णय करना पड़ा ?

'महाराज अशोक शतकोटि कार्षापण व्यय करना चाहते हैं। भांडारिक को इस सम्बन्ध में आदेश भी दिये जा चुके हैं।'

'तो इसमें ऐसी क्या बात हो गयी ? महाराज दानशील हैं। दान करना चाहते हैं, तो करें।'

'लेकिन शतकोटि कार्षापण आयेंगे कहाँ से ?'

'राजकोष से।'

'राजकोष में कहाँ से आयेंगे ?'

'प्रजा देगी। क्या तुम इतना भी नहीं जानते ?'

'प्रजा ! कौन-सी प्रजा ?'

'मैं, तुम, मगध-साम्राज्य के जन-समस्त, आटविकों सहित सभी—यही तो प्रजा है।'

'महामंत्रीश्वर, यही तो समझने की बात है। शतकोटि कार्षापण देंगे तो सभी मिलकर, लेकिन व्यय किया जायेगा केवल बौद्ध-संघ के लिए, प्रजा के केवल एक वर्ग के लिए। भगवान बुद्ध के महान संघ के लिए आदर मेरे भी मन में है। महाराज दानेश्वर बनना चाहते हैं, यह भी हम सभी के लिए प्रसन्नता की बात है। परन्तु एक वर्ग के लिए लाखों-करोड़ों लोग कष्ट उठायें, यह कहाँ तक उचित और न्याय्य है ? महापुरुषों की अति पर भी अंकुश तो लगाया ही जाना चाहिए। मैं तो भगवान कौटिल्य के सिद्धान्तों का पुजारी हूँ और मेरी मान्यता के अनुसार महाराज अशोक को पदभ्रष्ट किया ही जाना चाहिए।

'देवानांप्रिय महाराज प्रियदर्शी अशोक और पदभ्रष्ट ! राधागुप्त, क्या तुम्हें शब्दों का प्रयोग करना भी नहीं आता ?'

'देव क्षमा करें। मैं अपनी भूल स्वीकार करता हूँ। महाराज अशोक-जैसे महापुरुष शासन से परे होते हैं। देवत्व ही उनकी शोभा है। शासन-व्यवस्था-जैसा सांसारिक क्षुद्र काम उनके लिए नहीं। ऐसे छोटे-मोटे काम तो हम-आपको ही करने होंगे। अब तो ठीक है न देव ? मैं तो आपके मन की ही बात को वाणी दे रहा हूँ। अनेक बार आपने ही इस प्रकार की एकांगी अति

को अविवेकपूर्ण शासन कहकर उसकी भर्त्सना की है। इसी विश्वास के आधार पर तो मैं आपके पास दौड़ा आया हूँ। कहिए क्या कहते हैं? आज और अभी समय है। कल वह हाथ से निकल जायेगा।'

राधागुप्त की इस बात का खल्लाटक विरोध न कर सका। यह कथन उसे सत्य प्रतीत हुआ और गले के नीचे उतर भी गया। फिर भी उसे लग रहा था मानो किसी भयंकर षड्यन्त्र में खींचा जा रहा हो। उसने पूछा—लेकिन शासन कौन करेगा?

'यह निर्णय चन्द्रगुप्त-सभा करे और राजप्रतिनिधि-पद पर नन्हे दशरथ की नियुक्ति की जाये।'

'लेकिन वह तो बहुत छोटा है। और युवराज कुणाल?'

'कुणाल को अब देशाटन करना चाहिए। उसे तक्षशिला का विद्रोह शान्त करने जाना होगा।'

'पुनः तक्षशिला?'

'हाँ, महामंत्रीश्वर! भारतवर्ष का श्रेष्ठतम पुरुष तक्षशिला के शासन के लिए नियुक्त किया जाये, मुझे तो यह इस देश के भविष्य के लिए विधि का अमिट लेख ही प्रतीत होता है। तो कहिए क्या आज्ञा है? चन्द्रगुप्त-सभा का अधिवेशन आयोजित किया जाये? नन्हा दशरथ राजप्रतिनिधि हो, और उसकी माता कांचनमाला उसके पीछे रहकर सूत्र संचालन करे। इस तरह हम तिष्यरक्षिता के निरन्तर बढ़ते और असह्य हो रहे प्रभाव से महाराज को मुक्त भी कर सकेंगे।'

राधागुप्त चुप हो गया। दोनों एक-दूसरे की ओर देखने लगे। दोनों के मन में एक ही बात थी—महाराज अशोक-जैसे देवता पुरुष को शासन-व्यवस्था-जैसे सांसारिक कार्य से परे होना चाहिए।

और खल्लाटक अपने मन में सोच रहा था कि जिस प्रकार मैं अकेला हूँ, उसी प्रकार यह राधागुप्त भी अकेला है। हमने साथ-साथ इस महान साम्राज्य की नींव रखी, साथ-साथ दीवालें उठतीं और प्रासाद बनते देखा। आज यह साम्राज्य भारतव्यापी है, मध्याह्न के प्रखर सूर्य की भाँति इसका तेज चमक रहा है। महाराज के पुरुषार्थ और प्रताप से यह सब हुआ है। लेकिन

राधागुप्त का कहना भी सच ही है कि महाराज के बाद इतने विशाल साम्राज्य को सँभालनेवाला कोई नहीं। महापुरुष के प्रताप के कारण भेड़ें भी सिंह-जैसी लगने लगती हैं, ठीक जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश में काँच के टुकड़े हीरे की तरह जगमगाने लगते हैं। महापुरुषों की यही तो मर्यादा होती है। भगवान कृष्ण तक के चतुर्दिक् मद्यपों का जमघट लग गया था। इससे यही प्रमाणित होता है कि वातावरण बदल जाने पर भी मानव-स्वभाव नहीं बदलता। उसे सुशासन के द्वारा बदलना होता है, क्रमिक विकास करना होता है। आज महाराज अशोक के आस-पास जो साधु और भिक्खु बने बैठे हैं कल वे ही सत्ता और अधिकार के लिए भूखे भेड़ियों की भाँति गुर्राने और छीना-झपटी करने लगेंगे। देश में अराजकता व्याप्त हो जायेगी। शान्ति, अहिंसा और सद्भावना की सारी बातें ताक में रख दी जायेंगी। विनम्रता छद्मवेश का काम देगी और केवल थोथी बातें रह जायेंगी। महाराज अशोक के नाम की जय बोलकर सुशासन के कर्तव्य की इतिश्री कर ली जायेगी। इसी लिए तो राधागुप्त सुशासन की प्रणाली को पुनर्जीवित करने की बात कहता है। इसी लिए तो वह युवराज कुणाल को मगध की महान परम्परा में दीक्षित करने के लिए उत्सुक है। उसे चन्द्रगुप्त मौर्य से लेकर महामंत्री राक्षस तक सभी प्रसिद्ध पुरुष याद हो आये। सब-के-सब मगध की परम्परा के वाहक और निर्माता थे। उसी परम्परा का निर्वाह और निर्माण स्वयं उसका अपना कर्तव्य भी तो था।

उसने राधागुप्त से कहा—बात तो तुम्हारी सच है। लेकिन सिखाये पूत तो कचहरी चढ़ते नहीं। मार-मारकर कहाँ तक किसी को वैद्य बनाओगे ? कुणाल को तो तुम जानते ही हो। यदि वह साधु हो गया, तो ?

जालौक का नाम राधागुप्त की जबान पर आते-आते रुक गया। लेकिन उस समय उसने उसे प्रकट करना उचित नहीं समझा। आत्मविश्वास से भरे स्वर में बोला—मुझे कुणाल की पत्नी कांचनमाला पर विश्वास है। वह कुणाल को राह पर ला सकेगी, उसका निर्माण कर सकेगी। अपार शक्ति है उस नारी में, साथ ही बड़ी विनम्र भी है। वह कुणाल की छाया है और उसका प्रकाश भी। मुझे उससे बड़ी आशाएँ हैं, और उसमें मेरी आस्था भी है।

'यदि तुम्हें आस्था है तो जाओ विजय करो। मगध ही नहीं रहा तो कहाँ

तुम होगे और कहाँ मैं हूँगा। किसी-न-किसी को तो महाराज के देवोपम साधु स्वभाव पर सांसारिक मर्यादा का अंकुश लगाना ही होगा। चन्द्रगुप्त-सभा में स्वयं अपनी ओर से प्रस्ताव रखने का मैं वचन देता हूँ....'

राधागुप्त को मुँह माँगी मुराद मिली। वह गद्गद होकर महामंत्री के चरणों में गिर पड़ा और बोला—महामंत्रीश्वर, आप वृद्ध हैं, मुझसे अवस्था में बड़े हैं, मेरे पूज्य हैं। मुझसे अधिक अनुभवी हैं। आपने सच ही कहा था। महाराज अशोक और उनके कृतित्व के सम्बन्ध में आपने जो भविष्यवाणी की थी वह अक्षरशः सच निकली। महाराज देवपुरुष हैं, उन्होंने देश की हवा ही बदल दी, साथ ही मगध की शक्ति का स्वरूप भी बदल दिया। यह बात बहुत देर में मेरे ध्यान में आयी। लेकिन जैसे ही मेरे ध्यान में आयी, मैं आपके पास दौड़ा आया। आपका वचन मुझे बल देगा। यदि आपने मेरी बात स्वीकार न की होती तो संन्यासी बनने के अतिरिक्त मेरी कोई गति न थी। अब देव विश्राम करें, रात भी अधिक हुई....

राधागुप्त खल्लाटक को प्रणामकर बाहर निकल आया। जब तक वह आँखों से ओझल नहीं हो गया, खल्लाटक उसकी ओर देखता रहा; फिर मन-ही-मन कुछ तर्क-वितर्क करता अपने शयनागार में चला गया।

१२ :: पहला कदम

खल्लाटक-जैसे वृद्ध मंत्री को अपने अनुकूल कर पाने का हर्ष राधागुप्त के मन में नहीं समा रहा था। यह उसके अभियान की ऐसी-वैसी सफलता नहीं, महान विजय थी। बूढ़ा और निष्क्रिय हुआ तो क्या, था तो वह मगध का महामंत्री ही। मगध की महानता की रक्षा के लिए उसका प्रस्तुत हो जाना स्वाभाविक ही था। एक दिन स्वयं उसी ने इस साम्राज्य की नींव के पत्थर रखे थे। लेकिन क्या युवराज कुणाल भी प्रस्तुत होगा? उसे समझा पाना उतना सरल नहीं था। वह अपने पिता का परम भक्त और आज्ञाकारी पुत्र था। पिता की इच्छा के विरुद्ध वह एक कदम भी चलने को प्रस्तुत न होगा। इस विचार ने राधागुप्त की प्रसन्नता पर विषाद का परदा डाल दिया और वह चिन्तित हो उठा।

कुणाल को कैसे समझाया जाये? क्या किया जाये कि वह अपने पिता का

सान्निध्य छोड़ दे ? कहीं वह इस प्रस्ताव को पितृद्रोह ही न समझ बैठे ? जब तक पिता की अनुमति न मिलेगी वह इस ओर एक कदम भी नहीं उठायेगा। उसे अनुकूल कर पाना टेढ़ी समस्या है। कैसे इसे हल किया जाये ?

राधागुप्त शिविका में बैठा इन्हीं विचारों में मग्न अपने आवास की ओर लौटा जा रहा था। नगर सोया पड़ा था। हाट, बाट और राहें बन्द हो गयी थीं। रथ्या पर एक अकेली उसी की शिविका चली जा रही थी। सभी अट्टालिकाओं, प्रासादों और भवनों के द्वार खुले हुए थे। द्वारों की राह कहीं-कहीं भीतर का दृश्य भी दिखाई दे जाता था। दीपकों के प्रकाश में हीरा-मोती और माणिक-पन्ना की जगमगाहट आँखों में चकाचौंध उत्पन्न कर देती थी। कितनी समृद्धि थी नगर में और थी कितनी संस्कृति ! सभी घरों के द्वार खुले थे। अपार सम्पदा भरी पड़ी थी, लेकिन सारे नगर में चोर नाम को भी न था।

क्या ऐसा यह समृद्ध और संस्कृत नगर विनष्ट हो जायेगा ? ये प्रासाद और अट्टालिकाएँ खंडहर हो जायेंगी ? कहीं यह मेरे मन की दुर्बलता तो नहीं ! मैं परिस्थिति को अतिरंजित करके तो नहीं देख रहा ? या यह मेरा मिथ्या भय तो नहीं ?

लेकिन उसे इस बात का सन्तोष था कि वह जो भी कुछ कर रहा है और आगे करने जा रहा है वह सब सच्चाई से प्रेरित होकर ही कर रहा है। महाराज अशोक की महानता में उसे रंचमात्र भी सन्देह नहीं था। उनके महान कार्य वर्षों तक अमर रहेंगे, इतिहास में उनका नाम सदैव आदरपूर्वक लिया जायेगा। फिर भी राधागुप्त को यह सब करना पड़ रहा था; क्योंकि कोई भी मानव-समाज सुशासन के बिना टिक नहीं सकता। सुशासन को टिकाये रखने के लिए आततायियों और आक्रमणकारियों को दंड देना अनिवार्य हो जाता है। माना कि दंड और केवल दंड सच्ची राजनीति नहीं, अच्छी राजनीति भी नहीं; परन्तु दंड का सर्वत्र परित्याग भी उतनी ही बुरी राजनीति है। राजनीति में दंड का स्थान है और बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान है।

लेकिन विधि की विडम्बना तो देखो। वह मनुष्य को कैसे-कैसे नाच नचाती और कैसे-कैसे अकरणीय कार्य करवाती है ! जिस अशोक को सिंहासन पर आसीन करने के लिए राधागुप्त को आकाश-पाताल एक करना पड़ा

अग्निकुंड में नरमेध तक करना पड़ा, आज उसी अशोक को पदभ्रष्ट करने के लिए वह आधीरात में दौड़-धूप कर रहा था। नियति का इससे क्रूर व्यंग्य और क्या हो सकता है, परन्तु इसको गुप्त ही रखना उचित होगा। किसी को कानोंकान खबर नहीं होनी चाहिए। युवराज कुणाल को तो सपनों में भी भनक नहीं मिलनी चाहिए। उसने कहीं सुन लिया तो सब गुड़ गोबर ही हो जायेगा। वह उसी समय उठकर भिक्खु बन जायेगा। उसी पर तो सारा दारोमदार था। अकेले उसी की 'हाँ' 'ना' समूचे मगध-साम्राज्य के भविष्य को बना और बिगाड़ भी सकती थी।

राधागुप्त का प्रासाद आ गया। वह शिविका से उतरकर भीतर गया। उसे ऐसा लग रहा था कि वह जहाँ से चला था वहीं आकर रुक गया है। बात एक कदम भी आगे बढ़ नहीं पायी थी। जब तक कुणाल स्वीकार न कर ले, चन्द्रगुप्त-सभा कुछ नहीं कर सकती थी। और चन्द्रगुप्त-सभा के निर्णय के बिना महाराज अशोक से कुछ कहना निरर्थक ही होता। उधर जब तक महाराज अशोक न कहें, कुणाल कुछ न करेगा। और महाराज अशोक तभी कुछ कहेंगे जब रानी तिष्यरक्षिता उन्हें प्रेरित करेगी। यह बड़ा ही विषम चक्र था। और इस चक्र की चाभी रानी तिष्यरक्षिता के पास थी। वही इसे चला सकती थी और वही इसे रोक भी सकती थी। मगध का भाग्य उसी की मुट्ठी में बन्द था। इससे बुरी और अपमानजनक बात और क्या होगी कि एक समय की दासी आज पटरानी बनी मगध पर शासन करे और मगध-साम्राज्य की नींव डालने-वाले दो-दो मंत्री उसके आगे पानी भरें! पतन की यह कितनी अधम और निकृष्ट स्थिति थी।

राधागुप्त ने अपने शयनागार में प्रवेश किया। लेकिन उसकी आँखों की नींद उड़ गयी थी। वह शेष सारी रात तिष्यरक्षिता के बारे में ही सोचता रहा। वास्तव में तो उसी को पदभ्रष्ट किया जाना चाहिए। अपने रूप-सौन्दर्य और मिष्ट सम्भाषण के बल पर वह रानी बनी बैठी थी। बोलती क्या थी, चाशनी ही घोल देती थी। एक-एक शब्द श्रोता को मुग्ध और परवश कर देता था। रूप से अधिक लुभावनी और घातक तो उसकी वाणी थी। राधागुप्त ने अनेकों रूपमुग्धाएँ देखी थीं, रूपगर्विताएँ भी देखी थीं। ऐसी मानिनी नारियाँ

भी देख चुका था, जो अपने सौन्दर्य के आगे किसी को कुछ समझती ही नहीं थीं। सौन्दर्य का दीवाना होकर आदमी दर-दर की ठोकरें खाने लगे, ऐसी अप्सरासी सुन्दरियाँ भी देखी थीं। विषकन्याओं को भी देख चुका था। परन्तु यह तिष्यरक्षिता तो सभी से निराली थी। इसकी आकर्षण-शक्ति के मूल-स्रोत का कुछ पता ही नहीं चलता था। देखते ही आदमी आकर्षित हो जाता था। और कितनी भयंकर थी उसकी वह शक्ति!

नारी क्या थी, नियति ही थी—मगध और मगध के महाराज अशोक की भाग्य-नियन्ता! राधागुप्त को इस विवाद से कोई मतलब नहीं था कि भाग्य होता है या नहीं; लेकिन वह इस बात को अवश्य मानता था कि प्रत्येक साम्राज्य के इतिहास में ऐसा एक समय जरूर आता है जब वह किसी नारी के इंगित पर बनता भी है और बिगड़ता भी है। आज मगध के लिए वही समय आ गया था। तिष्यरक्षिता उसके भाग्य और भविष्य की नियन्ता बनी बैठी थी। और खूबी यह थी कि महाराज अशोक के देवत्व में उसके लिए कोई स्थान नहीं था। महाराज अशोक भी इस बात को जानते थे। वह बहुत पहले ही समझ गये थे कि यह नारी निरी रूप-पुत्तलिका है, दर्पणकन्या की भाँति अपने रूप में ही मस्त है, संसार त्यागने या भिक्षुणी बनने का इसे कभी विचार नहीं आ सकता। परन्तु फिर भी वह महाराज अशोक-जैसे नरपुंगव को अपने हाथ का खिलौना बनाये हुए थी। किसी ने सत्य ही कहा है कि राजा का भविष्य न युद्धों से बनता-बिगड़ता है और न राजनीति साम्राज्यों के उदय-अस्त का कारण होती है; वस्तुतः व्यक्ति, जनता, कुटुम्ब, राजा, राज्य, साम्राज्य और कई बार तो विश्व का भी उत्थान और पतन केवल एक स्त्री के कारण होता है। वह व्यक्ति बड़ा ही अनुभवी और विद्वान रहा होगा जिसने पहले-पहल 'मोहिनी' शब्द का प्रयोग किया। मोहिनी! इस एक शब्द में विश्व-निर्माण में निहित माया की कितनी अपार शक्ति भरी हुई है! कौन इस सत्य से इनकार कर सकता है कि नारी सृष्टि की निर्माता है और यह संसार केवल नारी की परछाईं है।

राधागुप्त माया और ईश्वर, प्रकृति और पुरुष, नर और नारी, स्त्री और संसार के जटिल विचारों में ऐसा खोया कि कब रात बीत गयी और कब सवेरा

हुआ, उसे कुछ ध्यान ही न रहा। जब पूरब के आसमान में प्रकाश की पहली किरण फूटी तो वह अपने विचारों से जागा; और जागने के साथ ही उसे यह विचार आया कि कांचनमाला भी तो नारी है। यदि तिष्यरक्षिता निर्बति बन सकती है तो कांचनमाला क्यों नहीं बन सकती ? उसने कांचनमाला को देखा था। बड़ी ही तेजोदीप्त और मनस्वी महिला थी। लेकिन क्या वह अपनी तेजस्विता और मनस्विता का उपयोग करेगी? अपने को झुकाये रखने में ही जो प्रेम की पराकाष्ठा समझती हो, उसका आगे आना सन्देहास्पद ही था। लेकिन मिलकर देखना तो चाहिए। तो पहले उसी से मिला जाये। चन्द्रगुप्त-सभा का अधिवेशन उसके बाद देखा जायेगा। यदि कांचनमाला कुणाल को प्रेरित कर दे तो सारा काम यों चुटकी बजाते पूरा हो सकता था। परन्तु क्या वह कर सकेगी? जहाँ सभी भिक्खु बनने का उधार खाये बैठे थे वहीं राधागुप्त मगध-शासन के अधिकारी को खोजने निकला था, इससे अधिक करुण और दयनीय स्थिति किसी भी महामात्य की क्या होगी !

बड़ी देर तक राधागुप्त कुणाल और कांचनमाला की जोड़ी के बारे में सोचता रहा। नारी-पुरुष की ऐसी अनुपम जोड़ी उस समय सारे भारतवर्ष में दूसरी न थी। जब-जब राधागुप्त उन दोनो को साथ-साथ देखता, उसका हृदय एक अनिर्वचनीय आनन्द से भर उठता था। वह निश्चय नहीं कर पाता था कि दोनो में कौन अधिक सुन्दर है। उसे वह जोड़ी रति और कामदेव की जोड़ी-जैसी ही प्रतीत होती थी। क्वचित् ही ऐसा होता है कि विधाता पति और पत्नी दोनो को एक साथ इतना रूप और सौन्दर्य प्रदान करता हो। और यहाँ तो रूप ही नहीं, स्वभाव भी दोनो का एक-सा उत्तम था। दोनो की वाणी एक-सी मधुर और आह्लादक थी। उन दोनो को साथ बैठे और आपस में एक-दूसरे से बातें करते देखना भी जीवन का बहुत बड़ा सौभाग्य था। कितनी समानता थी उन दोनो में—रूप एक, रंग एक, सौन्दर्य एक, स्वभाव एक। आकार-प्रकार, आचरण-व्यवहार सभी कुछ एक-दूसरे के अनुरूप था। दोनो एक-दूसरे की शोभा और एक-दूसरे के पूरक थे। ऐसा लगता था मानो विधाता ने विस्मृति के किसी विरल क्षण में दोनो को सहसा गढ़ डाला हो। बाकी विधाता ऐसा सुखी दाम्पत्य सिरजने की भूल तो कभी करता नहीं और यदि कर ही

बैठता है तो उस दम्पति से कसकर तावान वसूल करता है, हर क्षण उनकी अग्नि-परीक्षा लेता रहता है। परन्तु कुणाल और कांचनमाला की जोड़ी को देखकर तो शायद विधाता भी मुग्ध हो गया था, और उसने अपने कोष से अक्षय आनन्द, सुख और प्रीति का वरदान उन्हें लुटा दिया था।

उनका यही पारस्परिक प्रेम राधागुप्त के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा थी। स्थिति तो यहाँ तक थी कि यदि कुणाल भिक्खु बन जाता तो कांचनमाला को भी चीवर धारण करते एक क्षण का विलम्ब न होता। इसलिए राधागुप्त के सामने समस्या यह थी कि कांचनमाला के सम्मुख बात कैसे छेड़ी जाये? किस रूप में चर्चा का सूत्रपात किया जाये? यह तो उचित ही होगा कि किसी प्रकार की क्षुद्रता और ओछापन प्रकट न होने पाये। उसे भूले से भी इस बात का पता नहीं लगने देना चाहिए कि किसी 'क्षति' की प्रतिक्रियास्वरूप यह प्रस्ताव उपस्थित किया जा रहा है। सारी चर्चा को यही रूप देना ठीक होगा कि मगध की महानता को और भी महत्व देने के लिए, और भी ऊँचा उठाने और गौरवान्वित करने के लिए ही कुणाल की आवश्यकता है।

इस निश्चय के साथ राधागुप्त अपनी शिविका में सवार होकर कांचनमाला के यहाँ पहुँच गया। सवेरे का समय था। एक यवनी द्वार पर खड़ी थी। राधागुप्त की मुद्रिका लेकर वह भीतर गयी और दूसरे ही क्षण बाहर लौट आयी। रास्ता दिखाती हुई वह उसे अन्दर ले गयी। राधागुप्त कांचनमाला के कक्ष में पहुँचा दिया गया। कक्ष बिलकुल खाली था। द्वार पर एक यवनी खड़ी थी और यवनिका से ढके एक दूसरे द्वार के पीछे कुछ व्यक्तियों की हलचल और आवाजाही का आभास मिल रहा था। राधागुप्त ने अनुमान से जाना कि कांचनमाला वहाँ होनी चाहिए।

वह दृष्टि घुमाकर कमरे की साज-सज्जा और वहाँ रखी वस्तुओं को देखने लगा। सारी सजावट और सभी वस्तुओं में उसे किसी का व्यक्तिगत स्पर्श परिलक्षित हुआ।

एक-एक वस्तु पर कांचनमाला के व्यक्तित्व की छाप थी। गृहस्वामिनी का समूचा व्यक्तित्व उस कमरे में, कमरे की छोटी-से-छोटी वस्तु में मुखरित हो रहा था। राधागुप्त जिधर भी दृष्टि डालता भगवान तथागत के जीवन से सम्बन्धित

कोई-न-कोई शिल्पकृति दिखाई देती थी। कुछ मूर्तियाँ तो इतनी कलात्मक थीं मानो तथागत के जीवन का काव्य ही साकार हो उठा हो।

एक कोने में तीर से बिंधे हंस को छाती से लगाये तथागत की करुणापूर्ण मूर्ति को देखकर तो राधागुप्त अभिभूत ही हो उठा। भगवान बुद्ध के प्रेम-कोमल करुण-भाव को शिल्पी ने इतनी खूबी से उत्कीर्ण किया था कि हंस की मृत्यु-वेदना साकार हो उठी थी, और दर्शक को सतर्क किये दे रही थी कि वह भूले से भी किसी का कठोरता से स्पर्श न कर बैठे।

वहाँ के वातावरण में कला की विजय-दुन्दुभि गूँज रही थी। महाराज अशोक का एक-एक उपदेश-वाक्य वहाँ प्रस्तर मूर्तियों के रूप में सजीव हो उठा था। उस कक्ष की हवा ही कुछ ऐसी थी कि वहाँ प्रवेश करते ही मनुष्य अपनी समस्त क्षुद्रताओं का परित्याग कर व्यक्तित्व के नये आयाम की शोध में प्रवृत्त हो जाता।

राधागुप्त भी आत्मानन्द की अनुभूति में समाधिस्थ होने लगा और धीरे-धीरे उसके नेत्र मुँद गये।

१३ : : कांचनमाला

राधागुप्त ने अपने नेत्र खोले। दृष्टि के ठीक सामने उसे एक प्रस्तरमूर्ति दिखाई दी। कर-सम्पुट में कमल पुष्प लिये आम्रमाली भगवान तथागत को भक्ति-भाव से प्रणाम कर रही थी। उसे क्षण-भर के लिए मगध और वैशाली के पुरातन सम्बन्ध और दोनों का बीता युग याद हो आया। भगवान कौटिल्य ने तो प्राचीन मगध के महामात्य वर्षकार की परम्परा को जीवित ही नहीं रखा, आगे भी बढ़ाया। आज उस पर वही दायित्व आ पड़ा था। क्या वह इसे निभा सकेगा? सफल हो सकेगा....

अभी वह सोच ही रहा था कि सामनेवाले द्वार की यवनिका हिली और कांचनमाला प्रवेश करती दिखाई दी।

उसकी सुन्दरता और कोमलता का क्या कहना! ऐसा लगता था मानो किसी कुशल शिल्पी ने जूही के फूलों से उस फूलरानी का निर्माण किया हो—वह फूलों-जैसी हलकी और गगनांगण में उड़ती हुई किसी प्रेम-पक्षिणी-जैसी पवन-परी ही प्रतीत होती थी।

उसे आते देख राधागुप्त सतर्क हो गया। सुन्दरता और कोमलता में भी उसकी मनोगत दृढ़ता परिलक्षित हो रही थी, मानो कोई सत्ताधीश दबंग चाल से चला आ रहा हो।

कई व्यक्तित्व ऐसे होते हैं जिनके सम्मुख एक भी क्षुद्र शब्द बोलने का साहस किसी को नहीं होता। राधागुप्त को यह नारी इसी कोटि की प्रतीत हुई। जाज्वल्यमान नक्षत्र-जैसी उसकी तेजस्विता थी। समीप आकर वह रुकी। हाथ जोड़कर राधागुप्त को नमस्कार किया। सामने रखे एक स्वर्ण सिंहासन की ओर दृष्टिपात कर उसने कहा—महामात्य, आप वहाँ आसन ग्रहण कीजिए, तो मैं भी यहाँ बैठ जाऊँ।

राधागुप्त के कानों में स्वर्ण घुँघरुओं-जैसा वह मधुर स्वर गूँजता रहा। उसने आसन ग्रहण किया और तब विनम्रतापूर्वक बोला—देवि, आप भी आसन ग्रहण करें। मैं देवी के साथ विश्रम्भकथा के लिए आया हूँ। यह विश्रम्भ-कथा हम दोनो के ही लिए है। किसी तीसरे के कान में नहीं पड़नी चाहिए।

कांचनमाला की मौन दृष्टि सामनेवाले द्वार की ओर उठ गयी। जो यवनी वहाँ खड़ी थी, प्रणाम करके तत्काल दृष्टि से ओझल हो गयी।

'कहिए देव, ऐसी कौन-सी विश्रम्भकथा है ? आपकी कोई भी विश्रम्भ-कथा अकेले मेरे लिए तो हो नहीं सकती, उनसे भी कहने की होगी न ?'

'देवी का कथन यथार्थ है। विश्रम्भकथा अकेले आपके लिए नहीं है। परन्तु बात यह है कि नीरस राजनीति हम-जैसों के शब्दों को कुछ कर्कश-कठोर कर देती है। उन शब्दों को सुश्राव्य बनाने के लिए पहले आपसे निवेदन करना उचित समझा। बाकी विश्रम्भकथा तो आप दोनो के ही के लिए है। जो वियुक्त नहीं, उन्हें वियुक्त मानने का अपराध मैं कर ही कैसे सकता हूँ ! मैंने तो आप दोनो को कभी वियुक्त माना ही नहीं।'

'अहा, महामात्य ! कितना मधुर और प्रिय आप बोलते हैं। मन चाहता है कि सुनती ही रहूँ। आपकी बातें क्या हैं, वर्षों पुरानी द्राक्षासव है, जिसे आकण्ठ पान करके भी मन कभी तृप्त नहीं होता।'

'लेकिन देवि, आज तो बहुत-कुछ ऐसा मैं ले आया हूँ जिसे आपको संस्कृत करना होगा। इसी लिए तो सेवा में उपस्थित हुआ हूँ।'

'अच्छा !' कांचनमाला ने मुस्कराकर कहा, 'मानने में तो नहीं आता, परन्तु बताइए विश्रम्भकथा क्या है ? युवराज तो इस समय महाराज के पास हैं। अधिकांश वहीं रहते हैं।'

'युवराज्ञि, मैं आपको अपना एक स्वप्न सुनाने अथवा यों कहिए कि आपसे एक स्वप्न की प्रेरणा प्राप्त करने के लिए आया हूँ।'

'डरती हूँ, आपकी यह विनम्रता कहीं मुझे गर्विष्ठ न कर दे। लेकिन बात क्या है, और स्वप्न आपका लघु है या महान ?'

'देवि, मगध में आज तक तो किसी ने लघु स्वप्न देखे नहीं। महाराज अशोक का ही स्वप्न लीजिए। धरती पर स्वर्ग उतार लाये हैं। भगवान कौटिल्य का स्वप्न लीजिए। महाराज चन्द्रगुप्त का स्वप्न लीजिए। यहाँ तो जिसने भी स्वप्न देखा, महान ही देखा। मगध की आज की भव्यता भी तो एक महान स्वप्न ही है। मगध की यही महानता मुझे प्रेरित कर रही है। महानता का यह स्रोत सूखने न पाये, सदानीरा जाह्नवी की धारा की भाँति अजस्र बहता रहे, यह देखने का काम हमारा है। महाराज अशोक ने अपने भगीरथ प्रयत्नों से सारे विश्व में शान्ति और समता का प्रचार किया है, आज भारतवर्ष का नाम विश्व-शान्ति का परिचायक ही बन गया है। यह परम्परा इसी प्रकार चलती रहनी चाहिए। धन्य है महाराज अशोक का व्यक्तित्व ! वह अकेले एक पूरी शान्ति-सेना के समान हैं; परन्तु सम्प्रति अस्वस्थ हैं, वृद्ध, अशक्त और रोग-क्लान्त हैं। इधर भगवान कौटिल्य द्वारा सुशासन से ग्रथित एक-केन्द्रीय महान भारत पाटलिपुत्र की ओर दृष्टि लगाये बैठा है, उधर हिमवंत-पार का प्रदेश भारत पर अपनी दृष्टि जमाये बैठा है। काश्मीर से ताम्रलिप्ति तक महाराज अशोक का विरुद एकता के महान प्रतीक के रूप में छाया हुआ है। इस परम्परा को युवराज द्वारा चलाये रखना होगा। यदि इस महान देश की यह प्रणाली टूट गयी, परम्परा छिन्न-भिन्न हो गयी तो ऐसी शून्यता प्रवर्तित हो जायेगी जिसे कभी भरा न जा सकेगा। मैं इसी लिए महाराज की सेवा में गया था, यह निवेदन करने कि युवराज कुणाल को चतुरंगिणी सेना सजाकर देशाटन करना चाहिए। लेकिन वहाँ महारानी तिष्यरक्षिता है....'

'हैं तो रहा करें। उनके रहने से क्या होता है ! आपकी बात तो मगध की

महानता के अनुरूप ही है। सभी को उसे स्वीकार करना चाहिए। युवराज सुनते ही स्वीकार कर लेंगे! महाराज भी अवश्य सहमत होंगे। देश और काल की यह माँग भी है। इसमें महारानी तिष्यरक्षिता कहाँ से आ गयीं?'

'महारानी यह मानती हैं और ठीक ही मानती हैं कि महाराज की स्वास्थ्य-रक्षा का पूरा दायित्व महारानी पर है। उनका कहना है कि युवराज कुणाल का देशाटन को निकलना इस अवस्था में महाराज को आघात पहुँचा सकता है। उनका यह कथन भी सत्य ही है। महाराज-जैसे वत्सल पिता के लिए पुत्र-वियोग का यह परिणाम स्वाभाविक ही होगा। महाराज की अस्वस्थता बढ़ सकती है। अन्य कोई कुमार महाराज के पास है नहीं। इसलिए महारानी तिष्यरक्षिता का कहना है कि युवराज कुणाल कहीं जा नहीं सकते।'

'महारानी तिष्यरक्षिता ऐसा कहती हैं?'

'हाँ देवि, वह ऐसा ही कहती हैं। बड़ी जटिल समस्या है। एक ओर देश है, देश का धर्म और देश की परम्परा है। दूसरी ओर महारानी का नारी-हृदय और पति के लिए उनकी चिन्ता है, महाराज के स्वास्थ्य के प्रति उनके उत्तरदायित्व की भावना है। मेरी तो समझ में नहीं आ रहा कि इस परिस्थिति में क्या करूँ? इसी लिए तो आपके पास भागा आया हूँ।'

'मैं तो समझती हूँ कि युवराज को देशाटन के लिए जाना चाहिए। आपका क्या खयाल है?'

'मानता तो मैं भी यही हूँ देवि!' राधागुप्त ने उत्साहित होकर कहा। 'लेकिन महारानी की बात भी रहनी चाहिए। कौन जाने कल को उनकी आशंका सच ही हो जाये! इसलिए मध्य मार्ग अपनाना उचित होगा। युवराज अभी देशाटन को न जायें, केवल तक्षशिला तक हो आयें। मुझे तो यही समीचीन लगता है। लेकिन महारानी तो ऐसा मानती हैं कि महाराज कुणाल-कुमार का वियोग घड़ी-भर के लिए भी नहीं सह सकते। अब इसका क्या उपाय है?'

'युवराज भले ही जायें महामात्य। मैं अपने दशरथ को महाराज की सेवा में भेज दूँगी। क्या इस प्रकार महाराज का पुत्र-वियोग कम न हो जायेगा?'

'देवि, यह तो आपने मेरे मन की बात कही। मैं भी ठीक यही सोच रहा

था। कुमार दशरथ राजप्रतिनिधि के पद पर रहें। चन्द्रगुप्त-सभा इस बात को स्वीकार भी करेगी। परन्तु प्रश्न यह है कि कुणालकुमार से कौन कहे? आप तो जानती ही हैं कि पितृ-आज्ञा के बिना वह एक कदम भी आगे नहीं बढ़ा सकते। भगवान रामचन्द्र के लिए जो महत्व दशरथ के शब्दों का था, वही युवराज कुणाल के लिए महाराज अशोक के शब्दों का है। इसलिए प्रश्न यह है कि युवराज कुणाल से कहेगा कौन?'

'क्या आपने अभी तक युवराज से कहा नहीं?'

'जी नहीं, कहता कैसे? आपको बताये बिना कह भी कैसे सकता था? कुमार दशरथ की राजप्रतिनिधि-पद पर नियुक्ति परम्परा के अनुरूप ही होगी। इस तरह हम परम्परा को पुनर्जीवित करेंगे। लेकिन प्रस्तावित राजप्रतिनिधि का गौरव और शोभा तभी है जब आप उनके साथ रहना स्वीकार करें। और जब तक इस सम्बन्ध में मुझे आपके विचार ज्ञात न हो जायें मैं युवराज कुणाल से अपनी बात कह ही कैसे सकता हूँ। प्रेरणा तो आपको ही देनी होगी; क्योंकि सारा काम आपका ही करना होगा। वैसे तो मैं भी रहूँगा, महामंत्री खल्लाटक भी रहेंगे और हम उज्जयिनी से आर्यपुत्र को भी बुला लेंगे। लेकिन काम तभी बनेगा जब आप प्रेरणा देंगी। मैं इसी लिए आपके पास आया हूँ।'

'मैं भला क्या प्रेरणा दूँगी! मैं तो स्वयं ही युवराज से प्रेरणा ग्रहण करती हूँ। जो प्रेरित होता है वह दूसरे को क्या प्रेरित करेगा?'

'कथन तो आपका यथार्थ है; लेकिन आपके सक्रिय हुए बिना कोई कुछ न कर सकेगा।'

युवराज्ञी कांचनमाला विचारमग्न हो गयी। महामात्य की बात उसको सत्य लग रही थी। जब सभी राजकुमार भिक्खु हुए जा रहे हों तब किसी को तो शासन-व्यवस्था का भार सँभालने के लिए आगे आना ही होगा, नहीं तो देश में घोर अव्यवस्था मच जायेगी। परन्तु साथ ही कुणालकुमार का चेहरा भी उसकी आँखों में तैर रहा था। कुणाल का प्रत्युत्तर वह जानती थी। ना कहना तो उसने सीखा ही नहीं था। पिता की आज्ञा के बिना एक कदम भी इधर से उधर रखना वह जानता नहीं था। परिणाम यह होगा कि वह न 'ना' कहेगा, न 'हाँ' कहेगा, अन्तर्वेदना के विष को चुपचाप पी जायेगा

और व्यथित होता रहेगा। उस वेदना-विह्वल, करुण मुख को देखकर क्या वह अपने आँसू रोक सकेगी ? वही क्यों, क्या कोई भी रोक सकेगा ?

बड़ी देर तक कुणाल का प्यारा-प्यारा मुखड़ा उसकी आँखों के आगे तैरता रहा। फिर उसने हाथ जोड़कर कहा—महामात्य, आपकी बात मुझे शिरसा स्वीकार है। मैं भी यही समझती हूँ कि शासन-व्यवस्था का दायित्व लेने के लिए किसी को आगे आना चाहिए। विलम्ब का अर्थ विनाश ही होगा। मैं आपकी चिन्ता को समझती हूँ। सब भिक्खु हो गये तो राज कौन करेगा ? मगध की महानता को बचाने का एक ही मार्ग है—वही जो आपने सुझाया। परन्तु देव, मैं तो युवराज की छाया हूँ और युवराज इन सब बातों से परे हैं। आप, मैं और सभी जानते हैं कि वह महाराज अशोक की आज्ञा के बिना कुछ नहीं करेंगे। जब तक महाराज अशोक न कहें वह यहाँ से एक कदम भी नहीं उठायेंगे।

'लेकिन इसका परिणाम क्या होगा ?'

'देश तहस-नहस हो जायेगा।'

'और यह जानते हुए भी आप सक्रिय होना नहीं चाहतीं ?'

'हो ही कैसे सकती हूँ महामात्य ? मैं तो केवल छाया हूँ। युवराज की अनुगामिनी हूँ। कल को यदि वह सब-कुछ छोड़-छाड़कर चल दें तो क्या मैं यहाँ बैठी रहूँगी ? मुझे तो उनके साथ ही जाना होगा न ? उनके सहारे के बिना मैं तो अपने अस्तित्व की भी कल्पना नहीं कर सकती। लेकिन चन्द्रगुप्त-सभा ही इस आशय का प्रस्ताव क्यों न करे ? क्या आप यह प्रणाली नहीं अपना सकते ?'

राधागुप्त तो यह चाहता ही था। बड़ा प्रसन्न हुआ। बोला—हाँ, अन्तिम उपाय तो यही है। लेकिन आप सक्रिय हो जातीं तो काम जरा जल्दी बन जाता। आपके आगे आने पर महारानी तिष्यरक्षिता का भी विरोध करने का साहस न होगा; क्योंकि अन्ततोगत्वा महारानी तो आप ही हैं, वह नहीं।

कांचनमाला को राधागुप्त की यह बात सच प्रतीत हुई। लेकिन वह कुणाल के जरा-से भी दुःख को देख नहीं सकती थी। उसने कहा—आपकी सभी बातों को मैं समझती हूँ, वे सच भी हैं, लेकिन अपने मन को क्या करूँ ?

हाँ, यदि प्रस्ताव चन्द्रगुप्त-सभा की ओर से आया तो महाराज अशोक उसे अवश्य स्वीकार करेंगे और महाराज की स्वीकृति युवराज के लिए आदेश होगी। इस प्रकार आप भगवान कौटिल्य की परम्परा को पुनर्जीवित कर सकते हैं....

'अच्छी बात है, ऐसा ही किया जायेगा। लेकिन आप राजप्रतिनिधि दशरथ के साथ तो रहेंगी न ?'

'हाँ, यह वचन मैं देती हूँ।'

'और युवराज को अकेला जाने देंगी ?'

'यदि राजतंत्र का यही आदेश हो तो मैं रोकनेवाली कौन होती हूँ !'

'यदि युवराज की इच्छा न हुई, तब भी !'

'महामात्य, तब मुझे कहना होगा कि आप युवराज को अभी तक समझे नहीं। उनके लिए महाराज का प्रत्येक शब्द आदेश है। और महाराज की आज्ञा हो जाने के बाद वह उस पर विचार नहीं करते, तत्काल उसका पालन करते हैं। ऐसा ही उनका स्वभाव है। जहाँ महाराज अशोक ने चन्द्रगुप्त-सभा के प्रस्ताव को स्वीकार किया कि वह युवराज के लिए अनुल्लंघनीय आदेश बन जायेगा, तब इच्छा-अनिच्छा का कोई प्रश्न ही नहीं रह जायेगा....'

राधागुप्त ने भी सोचकर देखा तो कुणाल के लिए यही एक मार्ग दिखाई दिया। अब तो शीघ्रातिशीघ्र चन्द्रगुप्त-सभा के अधिवेशन का आयोजन करना चाहिए। और उसने सोचा, यह कांचनमाला दिखने में ही फूलों-जैसी कोमल है, बाकी इसका मनोबल तो इस्पात की तरह ठोस और दृढ़ है। यदि वह राज-प्रतिनिधि बन जाती है तो और भी कई प्रश्न अनायास ही सुलझ जायेंगे। सबसे बड़ी बात तो यह होगी कि तिष्यरक्षिता का महत्व घट जायेगा और स्थान गौण हो जायेगा। पता नहीं वह तिष्यरक्षिता किस प्रकार की नारी है। राधागुप्त अभी तक तो उसे समझ नहीं पाया था। जितना ही उसके बारे में सोचता, वह अनबूझ पहेली की भाँति जटिल होती जाती थी।

अन्त में उसने कांचनमाला को और भी अधिक विश्वास में लेने के उद्देश्य से कहा—देवि, युवराज कुणाल इतने कोमल और मृदु हैं कि शत्रु भी उनका दिल नहीं दुखा सकते। तो ऐसा ही करना चाहिए कि महाराज अशोक का

आदेश उन्हें प्राप्त हो जाये। परन्तु यह काम बड़ा ही विकट है। महारानी तिष्यरक्षिता चन्द्रगुप्त-सभा को प्रभावित करने का प्रयत्न करेंगी। उस समय आपको भी वहाँ उपस्थित रहना चाहिए। पता नहीं महारानी तिष्यरक्षिता कब क्या कर बैठे। सभा का नेतृत्व और नियन्त्रण उनके हाथ में जाने से पहले ही हमें उसे अपने हाथ में ले लेना होगा। आप अधिवेशन में सम्मिलित हों और राजप्रतिनिधि की माता के नाते इस प्रश्न को वहाँ प्रस्तुत कर चन्द्रगुप्त सभा को गौरवान्वित करें।

कांचनमाला ने सिर नवाकर मानो राधागुप्त की इस बात को स्वीकार कर लिया और कहा—मैं अकिंचन चन्द्रगुप्त-सभा को तो क्या गौरवान्वित करूँगी! परन्तु आपका आग्रह है तो आऊँगी अवश्य।

थोड़ी देर बाद राधागुप्त वहाँ से विदा हुआ। उसने कांचनमाला की उपस्थिति में न तो कोई क्षुद्रतापूर्ण बात कही थी और न कोई आघातजनक ही। लेकिन करने तो वह जा रहा था आघात ही।

१४ : : तिष्यरक्षिता का मनोरहस्य

राधागुप्त ने चन्द्रगुप्त-सभा का अधिवेशन आयोजित करने का जो निर्णय किया था, उसके बाद कुछ समय ऐसे ही बीत गया। इस बीच पाटलिपुत्र नगर के जीवन में कोई व्यतिक्रम नहीं हुआ। दैनन्दिन कार्य उसी गति से अबाध रूप में चलते रहे। साम्राज्य में भी सर्वत्र शान्ति रही। किसी सीमान्त में विद्रोह न हुआ, न ऐसे किसी विद्रोह के समाचार पाटलिपुत्र नगर में आये। परन्तु वातावरण में उथल-पुथल की गन्ध अवश्य थी और प्रत्येक व्यक्ति यह अनुभव करता था कि कभी भी तूफान फट पड़ेगा।

महाराज अशोक प्रतिदिन अधिकाधिक धर्माभिमुख होते जाते थे। बौद्ध-संघ की परिषदें अब पहले से अधिक होने लगी थीं। धर्म-चर्चाओं की संख्या में भी वृद्धि हुई थी। चैत्य भी अधिक निर्मित किये जाते थे। शासन-स्तम्भों की स्थापना में भी बढ़ोतरी हुई थी। धर्म-महामात्यों की संख्या पहले से कहीं अधिक बढ़ गयी थी और वे प्रचुरता से देश-देशान्तरों में भेजे जाने लगे थे। महाराज की धर्म-यात्राओं में भी वृद्धि हुई थी। अधिक औषधालयों का निर्माण

किया जाता था। अधिक वन-महोत्सव होते थे और वृक्षारोपण किये जाते थे। धर्म-उत्सवों की संख्या बढ़ी थी। उपदेशों और प्रवचनों का तो बाहुल्य ही हो गया था। मनुष्यों में पारस्परिक समझ और सद्भावना उत्पन्न करने के लिए महाराज अशोक रात दिन जुटे रहते थे। उनका यह भगीरथ प्रयत्न और कठोर परिश्रम देखकर लोग प्रभावित होते थे, साथ ही दाँतों-तले अँगुली भी दबाते थे। उनका व्यक्तित्व इतना लोकप्रिय हुआ कि कहीं कोई विरोधी नाम को भी न बचा। देवानांप्रिय राजा प्रियदर्शी अशोक सचमुच देवताओं के प्यारे और प्रियदर्शिन् हो गये। वह जहाँ भी जाते धर्म की विजय करते। उनका धर्म पुराणपन्थी पिटी लीक पर चलनेवाला धर्म नहीं था। मानव-धर्म की उन्होंने प्रतिष्ठा की थी। मानव-कल्याण और मानव-सेवा उनके इस धर्म के मुख्य सूत्र थे। सहिष्णुता इस धर्म का व्रत था। सब धर्मों को समान समझा जाता था। स्नेह, पारस्परिक समझ और सद्भावना की उपासना पर विशेष जोर दिया जाता था। इस मानव-धर्म के बड़े व्यापक परिणाम हुए। सर्वत्र शान्ति स्थापित हुई। मानव जाति युद्ध और आक्रमणों को भूलने लगी। राज-परिवार में तो भिक्खु बनने की जैसे होड़ ही लग गयी। दान देने की लोगों को ऐसी लगन लगी कि कोई लेनेवाला ही न बचा।

लेकिन राधागुप्त और उसके-जैसे दो-चार मंत्री अब भी आशंकित थे। यह शान्ति नीति उन्हें स्थायी नहीं लगती थी। सीमाओं के अतिक्रमण की आशंका उन्हें अहर्निश लगी रहती थी। महाराज की महानता और सर्वजन-प्रियता में उन्हें कोई सन्देह न था। सन्देह था केवल साम्राज्य की महानता में। उनकी दृष्टि में मगध-साम्राज्य के महान वट-वृक्ष की जड़ों में घुन लग गयी थी, जो उसे अन्दर-ही-अन्दर खोखला किये दे रही थी। यह उनकी मिथ्या आशंका नहीं, वस्तुस्थिति ही थी। प्रायः सभी प्रदेशपति अपने-अपने स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने के लिए उतावले हो रहे थे। अवन्ती से आर्यपुत्र, सौराष्ट्र से यवन तुषाश्व और आन्ध्र से सीमुक आये और सभी ने राधागुप्त की इस धारणा की पुष्टि की। किसी ने मुँह खोलकर स्पष्ट शब्दों में कहा, तो किसी ने श्लेष और यमक में। लेकिन मन की भावना सब की एक ही थी।

अब राधागुप्त ने अधिक प्रतीक्षा करना उचित न समझा।

और एक दिन जब बड़े सवेरे पाटलिपुत्र के राजमार्ग पर निम्न घोषणा सुनाई दी, तो मानो बिजली ही कड़क उठी :

'नगरवासियो, सुनो!' उद्घोषक उच्च स्वर में घोषणा कर रहा था। घोषणा के पहले ढोल बजाकर और बाद में घंटियों की आवाज करके श्रोताओं को आकर्षित किया जा रहा था। 'सुनो नगरवासियो, सुनो! वयोवृद्ध महामंत्री खल्लाटक चन्द्रगुप्त-सभा का अधिवेशन आयोजित कर रहे हैं। इस पूर्णिमा के बादवाली पूर्णिमा के दिन सभी नागरिक उसमें सम्मिलित होने और उसे देखने के लिए आयें। इस अधिवेशन में देवानांप्रिय महाराज प्रियदर्शी अशोक अपने उत्तराधिकारी की घोषणाकर उसे शासनाधिकार प्रदान करेंगे। राजप्रतिनिधि की नियुक्ति की जायेगी।....नगरजन यह घोषणा सुनें। दूसरी पूर्णिमा के दिन चन्द्रगुप्त-सभा का अधिवेशन होगा। सब आयें। इस घोषणा को सभी सुननेवाले इष्ट-मित्रों और बन्धु-बान्धवों मे प्रचारित करें। सुनो नगर-वासियो, सुनो....'

सारे शहर में उथल-पुथल मच गयी। जिसने भी सुना क्षण-भर के लिए स्तम्भित रह गया। वयोवृद्ध महामंत्री खल्लाटक चन्द्रगुप्त-सभा का अधिवेशन कर रहे हैं; अवश्य कोई बड़ी बात होनी चाहिए।

महाराज अशोक ने भी यह घोषणा सुनी और चकित रह गये। परन्तु वह चन्द्रगुप्त-सभा के वर्चस्व को मानते थे और यह सोचकर उनका समाधान हो गया कि राधागुप्त की ही प्रेरणा इसमें होनी चाहिए।

महारानी तिष्यरक्षिता ने भी सुना और स्तम्भित हुई। एक-एक कर राधा-गुप्त की बातें याद हो आयीं। अवश्य उसी का काम है। दौड़ी जाकर महा-राज से बोली—चन्द्रगुप्त-सभा का अधिवेशन कौन आयोजित कर रहा है महाराज?

'हमीं कर रहे हैं देवि।'

'लेकिन आपको तो पता भी नहीं है ...'

'हमारे पास समय ही कहाँ है? धर्म-महामात्यों, प्रतिवेदकों और धर्म-घोषणाओं के लिए ही पूरा समय नहीं मिल पाता। यही देखकर महामात्य

राधागुप्त ने मगध की प्रणाली और परम्परा का अनुसरण करने के लिए यह घोषणा करवाई प्रतीत होती है।'

'जरा राधागुप्त से तो पूछा जाये।'

महाराज ने उसी समय राधागुप्त को बुला भेजा। जब वह आया तो महाराज तन से क्लान्त, पर मन से प्रफुल्लित, एक आसन पर बैठे राजभांडारिक हिरण्यपति से कुछ कह रहे थे। राधागुप्त महाराज को प्रणाम कर एक ओर बैठ गया।

'राधागुप्त! यह क्या है?' महारानी तिष्यरक्षिता का स्वर सुनाई दिया। प्रयत्न कर के भी वह अपने स्वर का पैनापन और रोष छिपा न पायी थी।

राधागुप्त को उसके रोष का कारण समझते देर न लगी। लेकिन उसने अनजान की तरह पूछा—महारानी का आशय किससे है?

'यह घोषणा क्या तुमने करवायी है? महाराज के अस्वस्थ रहते हुए भी तुम्हारी यह धृष्टता?'

'महारानी शान्त हों। घोषणा जैसी आपने सुनी, वैसी ही मैंने भी सुनी। वयोवृद्ध महामंत्री खल्लाटक ने यह घोषणा करवायी है। जब आप इतनी-सी दूधपीती बच्ची थीं तब जो इस साम्राज्य की नींव डाल रहा था, उसी की यह घोषणा है। साम्राज्य का हिताहित और राज्य की गौरव-प्रतिष्ठा को वह हम सबसे अधिक समझता है। स्वयं महाराज उसका आदर करते हैं। सभी नगर-जन उसे सम्मान की दृष्टि से देखते हैं। घोषणा का वास्तविक हेतु तो मैं भी नहीं जानता। लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि मगध की महान प्रणाली कहीं भुला न दी जाये, इसी लिए उन्होंने यह घोषणा करवाई होगी।'

'परन्तु इसमें राजप्रतिनिधि नियुक्त करने की बात भी तो है राधागुप्त!' महाराज अशोक ने कहा।

'यह तो कोई नयी बात नहीं है महाराज! मगध में यह सदा से होता आया है। आज तक किसी भी मगधपति ने जीवन के अन्तिम क्षण तक शासन-सत्ता को कृपण की भाँति छाती से नहीं लगाये रखा। यह तो आदिकाल से चली आती एक अनकही और अनलिखी परम्परा है। परन्तु यदि महाराज सत्ता को धारण किये ही रहना चाहें तो यह महाराज की इच्छा की बात है। चन्द्रगुप्त-सभा का अधिवेशन तो परिपाटी के अनुसार आयोजित होगा ही। उसमें आश्चर्य

की क्या बात है ! महाराज की इच्छा का विरोध करनेवाला तो वहाँ कोई होगा नहीं । लेकिन इतना अवश्य है कि सर्वस्व का दान करने के लिए प्रजा को प्रेरित करनेवाली हमारी दैनन्दिन धर्म-घोषणा के साथ इस बात की संगति नहीं बैठती....'

'बात तो सच है तिष्यरक्षिता, अब इस बुढ़ापे में भी सत्ता से चिपटे रहना कृपणता ही है ।'

'कृपणता कैसी ? महाराज तो लक्षाधिक कार्षापण दान करते हैं। भांडारिक हिरण्यपति इसके साक्षी हैं । फिर कृपणता कैसी ?'

सहसा राधागुप्त ने कहा—महारानी ने ठीक याद दिलाया । महाराज, मैं निवेदन करने जा ही रहा था कि इस घोषणा के बाद, जब तक चन्द्रगुप्त-सभा का निर्णय नहीं हो जाता, हम राजकोष से एक द्रम्म भी व्यय नहीं कर सकते। यह संयम महाराज के राजधर्म की शोभा है । इसका पालन होना ही चाहिए। मैं समझता हूँ कि अब महाराज की भी यही इच्छा होगी ।

'हाँ, राधागुप्त ! यह तुमने ठीक याद दिलाया । ऐसा ही होना चाहिए। राजभांडारिक, आगे से राजकोष से एक भी कार्षापण....'

'अरे ! अरे ! महाराज, यह आप क्या कर रहे हैं ! महामात्य, क्या तुम नहीं जानते कि मैं महाराज की परिचारिका और उनकी चिकित्सक भी हूँ। महाराज की स्वास्थ्य-रक्षा का पूरा दायित्व मेरे ऊपर है । मैं ऐसी कोई बात होने नहीं दे सकती जिसका महाराज के स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव पड़े। मेरी आज्ञा का उल्लंघन किया गया तो मैं यहीं प्राण दे दूँगी। हाँ, जब महाराज स्वस्थ हो जायें और जैसा कि भिषग्वर आकाशगोत्र का कहना है, शीघ्र ही स्वस्थ हो जायेंगे, तब तुम्हारी जो मर्जी आये करना, मैं बाधा न पहुँचाऊँगी। लेकिन अभी तो महाराज की इच्छा के विरुद्ध तुम हिरण्यपति को या अन्य किसी को भी कोई आदेश नहीं दे सकते ।'

'प्रश्न मेरे या आपके आदेश देने या न देने का नहीं है महारानी । आप मगध की परम्परा से अनभिज्ञ न होतीं तो ऐसी बात कदापि न कहतीं । कोई भी मगधपति चन्द्रगुप्त सभा की अवहेलना नहीं कर सकता । एक पूरी शताब्दी की उपासना और तपस्या इस परम्परा के पीछे है । महाराज जैसा उचित समझें

राजभांडारिक को आदेश प्रदान कर सकते हैं। लेकिन मैं जानता हूँ कि अब स्वयं महाराज भी इसे उचित नहीं समझेंगे।'

'हाँ तिष्यरक्षिता, राधागुप्त की बात सच है। चन्द्रगुप्त-सभा का प्रत्येक आदेश पितृवचन की भाँति अनुल्लंघनीय और मान्य होता है। राधागुप्त ने सच ही कहा है।'

'मैं कब कहती हूँ कि महामात्य का कथन सच नहीं। मैं तो केवल यही कहती हूँ कि मेरी शुश्रूषा पर कहीं कलंक का टीका न लग जाये। इस समय मैं महाराज की परिचारिका हूँ और मेरा आग्रह यही है कि महाराज के स्वास्थ्य के सम्बन्ध में मेरी चिन्ता और मेरा कथन भी उतना ही सच और प्रामाणिक माना जाये।'

'यह ठीक है, लेकिन तिष्यरक्षिता, इस क्षण से तो राजकोष का समस्त धन राजप्रतिनिधि का हो गया। हम पराये धन की एक कौड़ी भी नहीं ले सकते।'

'लेकिन राजप्रतिनिधि है कौन ?'

'कौन जानता है, कि कौन होगा ?' राधागुप्त ने हाथ बाँधकर कहा, 'चन्द्रगुप्त-सभा जिसके भी पक्ष में निर्णय दे वही होगा। वह कुणालकुमार हो सकते हैं और आप भी हो सकती हैं, जैसा भी चन्द्रगुप्त-सभा निर्णय करे। निर्णय महाराज के गौरव के अनुरूप ही होगा। महाराज की अस्वस्थता को देखते सम्भवतः यह भार आपको ही वहन करने के लिए कहा जाये....'

राधागुप्त की इस बात ने रानी तिष्यरक्षिता के हृदय में गुदगुदी मचा दी। 'मैं भी राजप्रतिनिधि हो सकती हूँ।'—यह आकर्षण कुछ कम नहीं था। चन्द्रगुप्त-सभा का नाम और वर्चस्व उसने सुन रखा था। देखने का अवसर तो कभी मिला नहीं था, क्योंकि इधर के वर्षों में तो धर्म-सभाओं और धर्म-महामात्यों का ही बोलबाला था। वह जो भी हो, परन्तु इतना वह जानती थी कि चन्द्रगुप्त-सभा कभी भी महाराज की इच्छा के विरुद्ध नहीं जायेगी।

महाराज का मन लेने की दृष्टि से उसने पूछा—महाराज, आप तो बताइए कि आप राजप्रतिनिधि के रूप में किसे चाहते हैं ?

'मैं ? तुम्हें या युवराज कुणाल को। और किसे चाहूँगा ? तुम दोनो मेरी दो आँखों की भाँति हो। क्यों राधागुप्त, इस सम्बन्ध में तुम्हारा क्या विचार है ?'

'मेरा क्या विचार हो सकता है महाराज ? चन्द्रगुप्त-सभा जैसा भी निर्णय करे। हो सकता है कि ऐसा ही निर्णय किया जाये।'

'लेकिन वहाँ भी निर्णय तो तुम्हीं करोगे।' तिष्यरक्षिता ने कहा। 'जो भी तुम्हारे मन में हो बता क्यों नहीं देते ?'

'मैं अकेला तो सब-कुछ हूँ नहीं देवि। और लोग भी हैं। सब मिलकर ही निर्णय करेंगे। सच्चा निर्णय वही होगा जो महाराज को कष्टकर न हो, महाराज के स्वास्थ्य को आघात न पहुँचाए। वैसे पहले से कभी कोई नहीं जान पाता कि चन्द्रगुप्त-सभा का निर्णय क्या होगा। परन्तु यह तो निर्विवाद ही है कि महाराज की इच्छा के विरुद्ध वहाँ कोई नहीं जायेगा। इससे अधिक स्पष्टीकरण मैं और क्या कर सकता हूँ देवि !'

तिष्यरक्षिता को विश्वास हो गया कि महाराज उसके नाम का प्रस्ताव अवश्य करेंगे और कोई भी उसका विरोध नहीं करेगा। वह डरी कि इस समय अधिक स्पष्टीकरण कराने से कहीं बात का बतंगड़ न हो जाये। उसने राधागुप्त का मन टटोलने के उद्देश्य से पूछा—क्यों राधागुप्त, राजप्रतिनिधि का अमात्य कौन होगा ? क्या उसकी नियुक्ति के लिए कोई परिपाटी नहीं है ?

राधागुप्त को हँसी आ गयी। बोला—देवी मुझे रखना चाहेंगी तो मैं हूँ ही, लेकिन अब बूढ़ा हुआ। उचित समझें तो युवराज कुणाल को नियुक्त कर सकती हैं।

इस विचार-मात्र से कि मैं मगधेश्वरी बनूँगी, तिष्यरक्षिता हर्ष-विभोर हो उठी। उसका आनन्द हृदय में समा न सका। आन्तरिक उल्लास ढुलककर चेहरे पर छा गया। साथ ही एक अन्य कोमल भावना भी उस चेहरे पर उदित हुई और देखते-देखते सारे मनोदेश पर छा गयी। वह नववधू का-सा लज्जा-अरुण कोमल भाव बड़ा ही मृदु और मोहक था। वह अरुणाभा मुश्किल से दो क्षण रही होगी, परन्तु इतनी ही देर में तिष्यरक्षिता के मनोरहस्य को उसने प्रकट कर दिया, उसके अन्तर्मन की निगूढ़ प्रेम-लीला को उजागर कर दिया।

राधागुप्त ने यह देखा और अपना माथा ठोक लिया। उसे सहसा अपनी आँखों पर विश्वास नहीं हुआ। उसने पुनः ध्यान से देखा। वह लालिमा लुप्त

हो गयी थी, परन्तु उसके चिह्न अब भी विद्यमान थे। तिष्यरक्षिता के लिए वह एक निमिष किसी प्रेममुग्धा के उस स्नेह-स्मरण की भाँति था जो रोम-रोम को पुलकित कर स्नेह का सौरभ छोड़ जाता है। राधागुप्त ने स्पष्ट देखा कि तिष्य-रक्षिता के हृदय में कोई अमूर्त भाव आकार ग्रहण कर रहा था। राधागुप्त उस उभरते हुए आकार को भी स्पष्ट देख सका था।

बहुधा ऐसा होता है कि मनुष्य किसी अभिनय अथवा किसी हाव-भाव से अपने मनोगत रहस्य का प्रकट कर देता है। जिस रहस्य को वह सब की दृष्टि से छुपा-बचाकर रखना चाहता है वही इस प्रकार अनायास उजागर हो जाता है। तिष्यरक्षिता के मुख पर सहसा उदित हुई उस लज्जारुण आभा ने निमिष-भर में राधागुप्त को तिष्यरक्षिता के हृदय की अनेक ढकी-मुँदी बातों का पता दे दिया, जिन्हें देखकर पहले तो वह स्तम्भित रह गया, फिर उसका कलेजा काँप उठा और तब उसने अपना माथा ठोक लिया।

उसे वर्षों पुरानी वह घटना याद हो आयी जब महाराज अशोक के तिलको-त्सव में तिष्यरक्षिता ने अपने अलौकिक नृत्य से सभी को मुग्ध कर लिया था और राधागुप्त ताम्रपर्णी के महाअरिष्ठ के रत्न में उसके प्रतिबिम्ब को देखकर चौंक पड़ा था। उसके नाचते हुए प्रतिबिम्ब के पीछे उसे सहस्रों नागिनें जीभ लपलपाती दिखाई दी थीं। हलाहल विष से भरी नागकन्या का वही मोहिनी रूप इस समय राधागुप्त पुनः तिष्यरक्षिता में देख रहा था। उसे निश्चय हो गया कि इस नारी के मन में केवल मगधेश्वरी बनने की ही महत्वाकांक्षा नहीं है, यह अपने रूप की विजय भी चाहती है। इसका भुवनमोहन सुन्दर रूप चक्रवर्ती सम्राट् की भाँति विश्व-विजय करने के लिए आतुर हो उठा है। निमिष-भर के लिए जो लज्जारुण-आभा उदित हुई थी वह यही बताती थी, और साथ ही बताती थी कि पहला आक्रमण युवराज कुणाल पर होगा।

राधागुप्त ने अपना कलेजा थाम लिया। उसका हृदय अकथनीय वेदना और पीड़ा से भर आया। कुणाल का नामोल्लेख होते ही व्रीड़ा की जो लाली तिष्यरक्षिता के चेहरे को रँग गयी उसने स्पष्ट कर दिया कि वह कुणाल पर मन-प्राण से अनुरक्त थी और उसे पाना चाहती थी। और इस सत्य के उजागर होते ही राधागुप्त की समझ में वह सब आ गया, जिसे वह प्रयत्न कर के भी

अभी तक समझ नहीं पाया था। अच्छा तो यही कारण था कि वह कुणाल को सदैव अपने समीप देखना चाहती थी; इसी लिए वह महाराज अशोक की परिचारिका बनी थी; इसी लिए वह कुणाल को सदैव महाराज के समीप बनाये रखना चाहती थी; इसी लिए उसने कुणाल को तक्षशिला भेजने से मना किया था ? ओह, अब समझ में आया कि क्यों उसने चन्द्रगुप्त-सभा का विरोध नहीं किया ? वहाँ तो उसके दोनों ही हाथ लड्डू थे; स्वयं मगधेश्वरी बनती तो कुणाल उसका प्रियतम होता, कुणाल मगधपति बनता तो वह स्वयं उसकी प्रियतमा होती।

राधागुप्त इस सम्बन्ध में जितना ही सोचता था उसकी चिन्ता और वेदना बढ़ती जाती थी। यहाँ तक कि उसे लगने लगा मानो वह मगध के श्रेष्ठतम व्यक्तियों के शवों के बीच बैठा हो !

आह, कितना घातक रूप है जिसने महाराज अशोक-जैसे नरपुंगव पर भी मोहिनी डाल रखी है ! पता नहीं, यह नागिन कब महाराज अशोक-जैसे देवता पुरुष को डस ले और अपनी मीठी वाणी से युवराज कुणाल-जैसे साधु युवक की गति-मति हर ले ? रूप की लीला अपरम्पार होती है और मीठी वाणी के विष का तो कोई उतार ही नहीं होता।

जब राधागुप्त महाराज अशोक से विदा होकर अपने आवास की ओर चला तो उसके घुटनों में जैसे कोई जोर ही नहीं रह गया था।

उसे लग रहा था मानो महाराज अशोक प्रतिक्षण मृत्यु के मुँह में ढकेले जा रहे हों। पता नहीं किस क्षण क्या हो जाये। कब आसमान से वज्र कड़क-कर टूट गिरे, कुछ कहा नहीं जा सकता। ऐसी विस्फोटक स्थिति में कुणाल राजप्रतिनिधि बनाया गया तो हो चुका। फिर तो सर्वनाश में कोई भी कसर नहीं रह जायेगी।

यह रूप-मोहिनी सब को वश में कर लेगी। महाराज तो उसकी मुट्ठी में थे ही। कुणाल उसका बिनदामों का दास था; वह तो उसे स्वर्ग की देवी ही समझता था। उसका दृढ़ विश्वास हो गया था कि महाराज को वही जीवित रखे हुए है। रूप और वाणी का उसने ऐसा जाल बिछा रखा था कि उसकी भयंकरता की ओर किसी का ध्यान जाने ही नहीं पाता। उसका रूप वाणी

को मोहक और वाणी रूप को आकर्षक बनाती थी। महाराज अशोक को वह अपनी अभीष्ट-सिद्धि होने तक ही जीवित रखेगी, कांचनमाला को भी वह चाट जायेगी, खल्लाटक को उखाड़ फेंकेगी, एक-एक प्रदेशपति को वह अपनी मुट्ठी में कर लेगी। और क्या राधागुप्त को छोड़ेगी ? नहीं, कदापि नहीं !

वह बनेगी मगधेश्वरी; मगधेश्वरी ही नहीं, कुणाल की हृदयेश्वरी। अपने रूप और सौन्दर्य से वह सारे विश्व में डंके बजा देगी।

अकेले राधागुप्त को उससे लोहा लेना होगा। अकेला वही परिस्थिति को जानता है। किसी से कहा नहीं जा सकता, किसी से मदद नहीं माँगी जा सकती। सब-कुछ स्वयं ही करना होगा। सब-कुछ अकेले ही सहना होगा। सारा विष स्वयं पीकर, सारी वेदना अकेले भुगतकर प्रयत्न करते रहना होगा। अकेले ही मार्ग खोजना होगा, सब के उद्धार और निस्तार का उपाय करते रहना होगा।

लेकिन मार्ग कौन-सा है ? नहीं, राधागुप्त स्वयं नहीं जानता। चारों ओर घनान्धकार था, आशा की कोई किरण कहीं दिखाई नहीं देती थी। वह चारों ओर टटोल रहा था, लेकिन कुछ भी सुझाई नहीं पड़ता था। फिर भी उसे सब को बचाना होगा, इस मायाविनी का 'मोहपाश तोड़ना ही होगा। वह प्रयत्न करता रहेगा, अन्त तक प्रयत्न करता रहेगा, आत्मश्रद्धा से भरा निरन्तर प्रयत्न करता रहेगा....

जब अपने प्रासाद में पहुँचा तो राधागुप्त विषाद, वेदना और विचारों के त्रय-ताप में जला जा रहा था।

१५ : : सौन्दर्य-स्वामिनी

अपने सौन्दर्य के विजय की महत्वाकांक्षा प्रत्येक नारी के हृदय में सोयी पड़ी रहती है। इस आकांक्षा में सौन्दर्य का कोई महत्व नहीं होता। कुरूप-से-कुरूप नारी भी अपने सौन्दर्य की विजय चाहती है और मानती भी है कि उसके सौन्दर्य की विजय हुई।

महत्व सौन्दर्य का नहीं। वह हो सकता है और नहीं भी हो सकता है। सारा महत्व तो है देखनेवाले का, देखनेवाली आँख का। क्योंकि रूप-सौन्दर्य

किसी व्यक्ति में नहीं होता, होता है उस आँख में जो देखती है। वह आँख एक बार जिसे सुन्दर मान लेती है, वह सच ही सुन्दर हो उठता है, उसका रूप शत-सहस्र गुना अधिक सुन्दर हो जाता है। फिर तो उसे अपनी ही कल्पना में से, अपने ही प्रेमसागर की लहरों में से, अपने ही मोह में से, भ्रमों और भ्रान्तियों में से, स्वप्नों और विचारों में से रूप की उपलब्धि होती रहती है। रूप को शरीर और अंग-विन्यास में देखनेवाले मूर्ख हैं। रूप निवास करता है प्रेम में, प्रेम रहता है आँख में, आँख बसती है हृदय में और हृदय ? वह बेचारा तो नादान शिशु है—अपने ही सपनों, अपनी ही माया और अपनी ही मनःसृष्टि में मस्त एक अबोध बालक !

तिष्यरक्षिता को अपने ही रूप में सारी दुनिया का रूप निरखने की मनः-सृष्टि प्राप्त हुई थी। वह तिष्यरक्षिता न होती, तो होती दर्पणकन्या जो सदा-सर्वदा अपना ही रूप निरखती रहती है, जिसका रूप कभी मिटता नहीं, कभी पुराना नहीं होता, काल के सर्वग्रासी स्पर्श से जो अछूता रहता है; और दर्पणकन्या हो जाती है स्वयं अपने ही रूप की दासी, परन्तु समझती है वह अपने-आपको विश्व की सम्राज्ञी।

तिष्यरक्षिता महाराज अशोक की महारानी होकर भी दर्पणकन्या ही बनी रही। मगध-जैसे महान साम्राज्य की सम्राज्ञी होकर भी वह अपने रूप की दासी थी। वह चाहती थी अपने रूप की दिग्विजय, संसार के कोने-कोने में अपने रूप के डंके बजा देना। परन्तु रूप दिग्विजय कर पाता उसके पहले तो वह बन गयी एक बूढ़े, धर्मात्मा राजा की परिचारिका। विजय अवश्य हुई थी, लेकिन वह विजय उसके रूप की नहीं, चतुराई की थी। और यदि रूप की ही विजय मानें तो उसने जीता क्या? एक बूढ़ा, शिथिल अंग, शान्तिवादी, धर्म-प्रिय राजा ! यह भी भला कोई विजय थी ? विजय तो तब होती जब उसके लिए विश्व का सारा तारुण्य खम ठोककर मैदान में आ जाता, तरुणों की अठारहों अक्षौहिणियाँ उसके लिए आपस में कट मरतीं।

जब-जब वह महाराज के मुँह से बौद्ध धर्म के सूत्रों और धर्म-घोषणाओं को सुनती, त्याग, दान और निर्वाण की महिमा उसके आगे गायी जाती, उसके हृदय में अग्नि की लपटें उठने लगती थीं और मन करता था कि इसी आग

में बूढ़े को जलाकर भस्म कर दे। परन्तु उसका रूपासक्त मन सत्ता का लोलुप भी था और वह महारानी का पद छोड़ नहीं सकती थी।

अपने रूप की सामर्थ्य को वह जानती थी। उसे पता था कि उसका रूप दुनिया को हिला सकता है, उन्मत्त कर सकता है, नचा सकता है। वह यह भी जानती थी कि रूप उसके हाथ में एक अमोघ अस्त्र है। शस्त्रधारिणी नारियों की बात सुनकर उसे उन पर हँसी आती थी, दया भी आती थी। मूर्खाएँ, इतना भी नहीं जानतीं, कि दुनिया के सभी शस्त्रास्त्रों को विफल करनेवाला रूपास्त्र उनके पास है और वे हथियार लेने दौड़ रही हैं!

संयोग की ही बात थी कि वह महारानी असन्धिमित्रा की नृत्य-दासी से महाराज अशोक की महारानी बन बैठी थी, परन्तु उसका हृदय प्रतिक्षण रोता रहता था। वह अपनी स्थिति से सन्तुष्ट नहीं थी। सत्ता और स्वर्ण उसे काटे खाते थे। सोने के पिंजरे में जीवन दूभर हो गया था। उसका सौन्दर्य विफल जा रहा था। वह सौन्दर्य जो जग को जीतना चाहता था, समस्त सृष्टि पर अपना आधिपत्य स्थापित करना चाहता था, जो स्वर्ण और सत्ता से भी अधिक मूल्यवान और विरल भी होता है, व्यर्थ जा रहा था। स्वर्ण और सत्ता के उस बन्दीगृह में उसका सौन्दर्य आँसू बहाया करता था, पछाड़ें खाया करता था।

ऐसे में एक दिन उसने युवराज कुणाल को देखा। इतना सुन्दर, सुशोभन युवक था वह कि देखकर मन अघाता ही नहीं था।

वह प्रतिदिन महाराज अशोक के पास आता था। जितना सुन्दर था, उतना ही भोला, विनयी और शान्त भी था। अपने पिता के हर शब्द को वह देवाज्ञा मानता था। पिता के धर्मानुशासन के एक-एक शब्द को वह इस तरह सुनता था जैसे चातक स्वाति की बूँद को पीता है। महाराज अशोक को वह अपना पिता, मगधपति अथवा देवता नहीं साक्षात् भगवान तथागत की अमृतवाणी का पुंज ही समझता था। पिता में उसकी श्रद्धा की कोई सीमा नहीं थी। वीरता में वह एक ही था, लेकिन श्रद्धा के गहरे रंग के आगे और सब रंग फीके पड़ गये थे। श्रद्धा उसका जीवन-रंग, त्याग उसका जीवन-परिमल और रूप का तो वह भंडार ही था। रंग, रूप और सुगन्ध का ऐसा संयोग विरल ही होता है। महाराज के आग्रह पर वह जब कभी उनके उपदेशों की घोषणा

नहीं, केवल परिचारिका हूँ। अपने भूतकाल को भूलकर इतराने लगूँ, ऐसी मूर्ख मैं नहीं हूँ।

महाराज अशोक को दोनो का वार्तालाप सुनते-सुनते झपकियाँ आने लगी थीं। तिष्यरक्षिता अभी तक कुणाल के नेत्र-सौन्दर्य की प्रशसा किये जा रही थी। सहसा महाराज ने चौंककर विनोद-भरे स्वर में कहा—दोनो में जो अधिक सुन्दर हो-वह अधिक दान करे।

तिष्यरक्षिता बोली—मैं ही अधिक सुन्दर हूँ। कुमार कुणाल मेरी तुलना में ठहर नहीं सकते।

कुणाल ने कहा—नहीं, मैं अधिक सुन्दर हूँ। मेरी तुलना में कोई ठहर नहीं सकता।

और महाराज अशोक ने प्रेम से लबालब भरे स्वर में कहा—देखी दान की महिमा! वह कलह को तत्काल शान्त कर देता है। इसी लिए तो हम कहते हैं कि दान करो, जितना दिया जा सके मुक्तहस्त होकर दो। संग्रह से सड़ता है, वितरण से विकास होता है। दान महानतम धर्म है।

'देखा कुमार, महाराज ने इसमें से भी धर्म का एक पुछल्ला निकाल ही दिया।'

तिष्यरक्षिता के रोम-रोम में प्रेम के शत-सहस्र महाकाव्य घुमड़ रहे थे। वह उन्हें अभिव्यक्त करना चाहती थी, परन्तु कर नहीं पाती थी और अभिव्यक्त न कर पाने की यह विवशता उसके मन-प्राणों को घोटे डालती थी। वह कुणाल का स्पर्श पाने के लिए व्यग्र हो उठी थी। लेकिन जहाँ वह प्रेमातुरा प्रमदा थी, प्रेम की अभिसारिका थी, वहीं मगध की महारानी, महाराज अशोक की परिचारिका और एक बूढ़े की धर्मपत्नी भी थी। वह अपने प्रेमावेश को व्यक्त नहीं कर सकती थी। इसलिए कभी व्यंग्य वाक्यों से और कभी स्वर्ण घुँघरुओं की मधुर रिणकिण-जैसी हँसी से अपने मनोगत भावों को व्यक्त करती रहती थी। ऐसे समय उसका सौन्दर्य और भी निखर जाता था, हँसी और भी मधुर और प्रेमपूर्ण हो जाती थी और जब कभी वह सामने की स्फटिक दीवाल में अपना प्रतिबिम्ब देखती तो स्वयं मोहित हो जाती थी।

इस समय भी ऐसा ही हुआ। प्रेम का समीर उसके हृदय में गुदगुदी मचाने

लगा। महाराज पर्यंक पर लेटे जागृति से तन्द्रा और तन्द्रा से स्वप्नावस्था की ओर बढ़े जा रहे थे। तिष्यरक्षिता ने चन्दन के लेपवाला पंखा उठा लिया था और एक सामान्य परिचारिका की भाँति हवा कर रही थी। वह रह-रहकर कुणाल की ओर देखती जाती थी, जो कुछ दूर बैठा नये धर्मानुशासन की पांडुलिपियों को पलट रहा था।

तिष्यरक्षिता से रहा न गया। वासना के अग्नि-जैसे आवेग को मन्द मधुर प्रेम-भरे शब्दों में व्यक्त करते हुए उसने कहा—कुमार, समीप आ जाओ न, तुम्हें भी हवा करती जाऊँ।

कुणाल खिलखिलाकर हँस पड़ा—देवि, आप महाराज का विनोद करती हैं, परन्तु देखता हूँ कि उनका रंग आप पर भी चढ़ गया है। यह सेवा इसी बात की द्योतक है।

'बस, इतनी ही सेवा लेना चाहते हो? मैं तो जाने कितनी सेवा करने को आतुर हूँ।'

महाराज ने करवट बदली और उधर तिष्यरक्षिता ने बात बनायी—उसके बिना मैं अनृण्ये (उऋण) कैसे हो सकूँगी।

महाराज ने मानो कुछ जागते और कुछ ऊँघते हुए कहा—महारानी, श्रद्धा और भक्ति तो रूप को भी पवित्र कर देती है। युवराज कुणाल की श्रद्धा-भक्ति तुम्हारे रूप को बदल देगी।

'मैं तो बदली ही बैठी हूँ महाराज!' तिष्यरक्षिता ने कुछ क्रोध में और कुछ विनोद में कहा, 'बस कुणालकुमार के कहने-भर की देर है। वह कहें कि रूप बदल दो, यह रूप नहीं चाहिए तो मैं तत्काल रूप को इस तरह उतार फेंकूँगी जैसे साँप केंचुल उतार देता है। मैं तो महाराज के कथनानुसार ही करना चाहती हूँ। मुझे भी अनृण्ये होना है। मैं तो सर्वस्व का दान देने बैठी हूँ, लेकिन कोई लेनेवाला भी तो मिले।

महाराज सहसा उठकर बैठ गये और बोले—महारानी, तुम अवश्य अनृण्ये होवोगी।

रानी ने अपने हृदय की धधकती ज्वाला को शान्त करने के लिए श्लेष का सहारा लेते हुए कहा—महाराज, और सब वस्तुओं का दान करना ता

सरल है, परन्तु रूप का दान नहीं किया जा सकता। फिर भी मैं, कुणाल-कुमार कहें तो उनके कहने पर और महाराज कहें तो महाराज के कहने पर रूप को यों उतारकर फेंक दूँ। मानव-प्रेम के बिना रूप को रखकर होगा ही क्या !

और वह हँस दी।

महाराज को उसके इन शब्दों में धर्म की गहन ध्वनि सुनाई दी। उन्होंने कहा—महारानी, तुम निस्सन्देह अनृण्ये के पथ पर हो।

'महाराज, मैं तो एक बार कुणालकुमार देख लें तो अपना समस्त सौन्दर्य ही लुटा दूँ।'

'अरे देवि, यह तुम क्या कह रही हो ?'

तिष्यरक्षिता को तत्काल अपनी भूल समझ में आ गयी। रागात्मक आवेग में वह आवश्यकता से कुछ आगे बढ़ गयी थी। उसने उसी समय लीपापोती कर दी—मेरा तात्पर्य यह है महाराज, कि धरती पर स्वर्ग-जैसा मेरा जो सौन्दर्य-भवन है उसे लुटा दूँ, दान कर दूँ....

'वाह, क्या बात है उस सौन्दर्य-भवन की ! कुणाल, तुमने उसे देखा है ?'

'नहीं देव, देखा तो नहीं, देखना अवश्य चाहता हूँ।'

'जिसे देखकर शिल्पी देवाधिदेव भी....' महाराज कहते-कहते सहसा चुप हो गये। तिष्यरक्षिता समझ गयी कि महाराज को भूतकाल की दुःखद स्मृति कष्ट पहुँचा रही है। उसने बात को सँभाल लिया।

'चार दिन बाद ही पूर्णिमा है, राजकुमार एक बार आओ। मेरा सौन्दर्य—मेरा सौन्दर्य-भवन देख लो। पता नहीं अनृण्ये होने के आवेश में मैं कब सौन्दय को लुटा बैठूँ। महाराज आज्ञा प्रदान करें....'

'कुणाल, एक बार अवश्य देखना चाहिए, दर्शनीय है। देश-देशान्तरों का इतना सौन्दर्य एक स्थल पर क्वचित् ही देखने को मिलेगा। महारानी तिष्यरक्षिता की वह सौन्दर्य-सृष्टि निश्चय ही धरती पर स्वर्ग है।'

'महाराज भी एक बार मेरे सौन्दर्य-भवन में पधारें। बाद में तो वह दान कर दिया जायेगा।'

'परन्तु देवि, हमें तो अभी कुक्कुटाराम जाना होगा। शतकोटि दान

अभी तक दिया नहीं जा सका। उसी के सम्बन्ध में वहाँ जाना आवश्यक है। भदन्त मोगलिपुत्त तिस्स हिमालय की ओर जाना चाहते हैं। उनके वहाँ जाने से पहले शतकोटि दान का संकल्प तो कर लेना चाहिए। पुण्यकर्म और उसका जितना भी संकल्प कर लिया जाये वही अपना है। कल की कौन जानता है!'

प्रत्युत्तर में तिष्यरक्षिता मौन रह गयी।

१६ : : महामाया

तिष्यरक्षिता का मनोरहस्य जान लेने के बाद तो राधागुप्त को घड़ी-पल की भी चैन नहीं थी। उसे अहर्निश चिन्ता लगी रहती थी। उसने महामाया को और भी ताकीद कर दी कि राजमहल की एक-एक बात, राई-रत्ती खबर उसे सुनाती रहे। वह जानता था कि बातूनी आदमी जहाँ अनायास भेद दे देते हैं वहीं भेद लेने में भी कुशल होते हैं। उसने इसी लिए महामाया को तिष्यरक्षिता के पास भेजा था। वैसे जालौकवाला प्रसंग भी एक कारण था और स्वयं तिष्यरक्षिता ने भी एक विश्वस्त दासी की माँग की थी।

जिन दिनों दासी की माँग की थी तिष्यरक्षिता के मन में केवल मगध की सम्राज्ञी बनने की ही धुन थी। अपनी इस महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए वह राधागुप्त की सहायता चाहती थी। उसे विश्वास था कि राधागुप्त इस कार्य में उसका हाथ बँटायेगा और आवश्यकता पड़ी तो महाराज अशोक को समाप्त भी कर देगा। इसी लिए वह दौड़-दौड़कर उसके पास आती और उसकी मनचीती बातें करती थी; उसकी राजनीति में रस ही नहीं लेती, हर तरह से उसे प्रोत्साहित भी करती थी।

परन्तु शीघ्र ही उसे यह पता चल गया कि विन्ध्य पर्वत भले ही डिग जाये, राधागुप्त को डिगाना सम्भव नहीं। कौटिल्य की परिपाटियों का ऐसा कट्टर और अविचल भक्त उसने कोई नहीं देखा था। फिर उधर वह कुणाल पर अनुरक्त भी होती जा रही थी। जैसे-जैसे समय बीतता गया, कुणाल के प्रति उसका प्रेम और अनुराग बढ़ता गया। अन्त में स्थिति यहाँ तक पहुँची कि कुणाल की महारानी की तुलना में मगधेश्वरी का पद उसे हेय जँचने लगा। थोड़े ही दिनों के बाद कुणाल की प्रियतमा का पद कुणाल की महारानी के पद की तुलना

में महान और काम्य हो उठा। और अन्त में तो उसकी केवल यह कामना रह गयी कि जैसे भी बने कुणाल की भोग्या और पर्यंकशायिनी बनकर अपने सौन्दर्य को सार्थक करे। इसी लिए वह कुणाल को एक क्षण के लिए भी अपनी आँखों की ओट नहीं होने देती थी। और जब से चन्द्रगुप्त-सभा के अधिवेशन की बात उठी थी तब से तो वह कुणाल को पाटलिपुत्र में ही बनाये रखने की उधेड़-बुन में लगी रहती थी। सौन्दर्य-भवन को देखने का निमन्त्रण भी उसने कुणाल को इसी उद्देश्य से दिया था।

बातूनी महामाया ने कुणाल के सौन्दर्य-भवन और महाराज के कुक्कुटाराम में जाने की खबर उसी रात राधागुप्त को पहुँचा दी थी। दोनो समाचार सुनकर राधागुप्त की चिन्ता और भी बढ़ गयी। महाराज के कुक्कुटाराम जाने का अर्थ तो था साधु उपगुप्त से मिलकर विचार-विमर्श करना। इधर महाराज अशोक साधु उपगुप्त की सम्मति के बिना कोई भी महत्वपूर्ण कार्य नहीं करते थे। वहाँ कुणाल के राजप्रतिनिधित्व के सम्बन्ध में अवश्य ही विचार किया जायेगा। पता नहीं साधु उपगुप्त का क्या रुख रहे? कहीं वह अस्वीकार कर दे, और कुणाल को तक्षशिला न जाने दे, तो क्या होगा? इसी मुंडी ने तो अन्य सभी राजकुमारों को भिक्खु बनाया था। यदि कुणाल पर भी इसके दाँत हों तो आश्चर्य नहीं। अवश्य ही यह साधु चन्द्रगुप्त-सभा के अधिवेशन में विघ्न डालेगा। लेकिन अभी से इस सम्बन्ध में चिन्ता करके क्या होगा? समय पर जैसा होगा देख लिया जायेगा।

अभी तो कुणाल का सौन्दर्य-भवन में जाना ही राधागुप्त की चिन्ता का मुख्य कारण था। तिष्यरक्षिता ने उसे अपने रूप-पाश में बाँधने का निश्चय कर लिया था। वैसे है तो असम्भव, परन्तु मान लो, कुणाल तिष्यरक्षिता के प्रेमपाश में पड़ ही गया, तो मगध का क्या होगा और बेचारी कांचनमाला किस घाट लगेगी? भावी मगधपति दशरथ के क्या हाल होंगे और स्वयं महाराज अशोक की क्या दशा होगी?

तिष्यरक्षिता के पास प्रेम था, अधिकार था, अपने मोहिनी रूप की शक्ति थी, महाराज का विश्वास भी उसे प्राप्त था; ऐसी स्थिति में पता नहीं वह क्या कर गुजरे? और यदि कुणाल उसके प्रेम-पाश में बाँधा न जा सका तो प्रति-

हिंसा में भरी तिष्यरक्षिता तब कितनी विकराल हो उठेगी ?

स्थिति दोनो ही तरह से भयंकर थी । तो क्या करना चाहिए ? राधागुप्त ने बहुत सोचा, परन्तु कोई उपाय समझ में नहीं आया। अन्त में उसने निश्चय किया कि अभी तो स्वयं सौन्दर्य-भवन में जाकर सब बातों को अपनी आँखों देखा जाये और तब जैसा उचित लगे किया जाये ।

उसने महामाया से कहा—सौन्दर्य-भवन के पृष्ठभागवाले खंड से एक सोपान-श्रेणी गंगा तक जाती है । रात में कुक्कुटाराम जाने के लिए महाराज बहुधा इसी मार्ग का उपयोग करते हैं । इन दिनों वहाँ किसका पहरा है ?

'सेनापति हिमवन्त का ।'

'अच्छा, स्वयं हिमवन्त का !' राधागुप्त ने आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा, 'तो ठीक है । पूर्णिमा के दिन तू वहीं, समीप ही रहना । जैसा कि तूने कहा, महाराज तो उस दिन कुक्कुटाराम जायेंगे, इसलिए तेरी छुट्टी भी रहेगी । तू सरलता से वहाँ आ सकेगी । वहीं, समीप ही मँडराती रहना । जैसे ही वहाँ कोई आता दिखाई दे मुझे तत्काल सूचित करना । समझ गयी न ? लेकिन देख, इस बार जरा भी गड़बड़ी की तो सीधे बन्दीगृह भेज दी जायेगी....'

'कोई गड़बड़ी नहीं होगी प्रभु । मैं वहीं रहूँगी और चौकस देखती रहूँगी ।'

'अच्छा, महारानी तिष्यरक्षिता तुझसे बोलती-बतलाती भी हैं या नहीं ?'

'बोलती-बतलाती क्यों नहीं ? सारा दिन और करती ही क्या हैं ? कभी कहती हैं, कुणालकुमार की आँखें तुझे कैसी लगती हैं ? कभी पूछती हैं, क्या तू पहले देवी कांचनमाला की परिचर्या में थी ? कभी कहती हैं, मैं उन्हें अपना सौन्दर्य-भवन दिखाना चाहती हूँ....'

'किसे ? देवी कांचनमाला को ?'

'पहले युवराज कुणाल को और तब देवी कांचनमाला को । दो-एक बार तो उन्होंने यहाँ तक कह डाला कि मुझे सब-कुछ उन्हें समर्पित कर देना है । फिर जाने क्या सोचकर बोली कि "मैं भी कैसी पगली हूँ; यह भवन और सौन्दर्य तो मेरे ही साथ लुप्त हो जायेगा ।" ऐसी ही अनेकों बातें किया करती हैं ।'

महामाया की इन बातों से राधागुप्त को तिष्यरक्षिता के मन का कुछ भेद और भी जानने को मिल गया । उसने उसे पूर्णिमा के दिन सतर्क रहने की

बात बार-बार समझाकर विदा किया। जब वह चली गयी तो राधागुप्त ने सेनापति हिमवन्त को बुला भेजा।

जब से सेनापति यश धर्माभिमुख हुआ सेना में और सैनिक मामलों में भी हिमवन्त का अधिकार बहुत बढ़ गया था। मागधी सैनिक तो उसकी वीरता, साहस और रणनीति पर प्राण न्योछावर करते थे। केवल युद्ध के लिए युद्ध करने में उसकी जरा भी प्रवृत्ति नहीं थी। आततायियों को दंड देने के पुनीत कर्तव्य से प्रेरित होकर ही वह युद्धाभिमुख होता था। वह योद्धा होने के साथ ही धार्मिक वृत्तिवाला और महाराज का परम आज्ञाकारी भी था।

महाराज अशोक को वह देवपुरुष मानता था। उनकी हर आज्ञा उसके लिए अनुल्लंघनीय होती थी। लेकिन साथ ही वह राधागुप्त की भाँति यह भी मानता था कि मगध की शान्ति केवल ऊपरी और अस्थायी शान्ति है। यह बात भी उसकी जानकारी में थी कि प्रायः प्रत्येक प्रदेशपति अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने के लिए उत्सुक है और अवसर की प्रतीक्षा कर रहा है। तिष्यरक्षिता की महत्वाकांक्षा से भी वह परिचित था और जानता था कि वह मगधेश्वरी बनना चाहती है। इसी लिए उसने अपने सबसे विश्वस्त सैनिकों की टुकड़ी महाराज की अंगरक्षा के लिए नियुक्त कर रखी थी।

राधागुप्त के लिए उसके मन में अगाध भक्ति थी। मगध की परम्परा का वह उसे कट्टर समर्थक मानता और उसके हर आदेश का पालन करने के लिए सदैव उद्यत रहता था। राधागुप्त का भी उस पर बड़ा विश्वास था। लेकिन यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि जब महाराज अशोक और राधागुप्त में चुनाव करना हो तो वह किस ओर झुकेगा। राधागुप्त इस बात को भी जानता था और इसी लिए कुछ चिन्तातुर हो रहा था।

थोड़ी ही देर में सेनापति हिमवन्त वहाँ आ पहुँचा। वह नख-शिख आयुधों से सज्ज सिंह की भाँति दर्राता चला आ रहा था। राधागुप्त ने उससे कहा—हिमवन्त, तुम्हें तक्षशिला जाना होगा....

'कब ?'

'चन्द्रगुप्त-सभा के अधिवेशन की घोषणा तो सुनी ही होगी। महाराज अशोक राजप्रतिनिधि नियुक्त करेंगे। तब युवराज कुणाल तक्षशिला के लिए....'

'प्रयाण नहीं करेंगे देव ।' हिमवन्त ने उसकी बात काटकर कहा ।

राधागुप्त के आश्चर्य का पार न रहा । क्या इसे भी पता चल गया है ? उसने विस्मय-भरे स्वर में पूछा—किसने कहा ?

'महारानी तिष्यरक्षिता की ऐसी ही इच्छा है । महाराज भी यही चाहते हैं और साधु उपगुप्त भी ।'

अच्छा, तो इसी लिए महाराज कुक्कुटाराम में उस साधु से मिलने गये हैं । ठीक है, देख लिया जायेगा उसे भी ।—राधागुप्त ने मन-ही-मन सोचा और तब हिमवन्त से कहा—प्रश्न किसी के चाहने-न चाहने का नहीं, चन्द्रगुप्त-सभा के निर्णय करने का है । वहाँ जो निर्णय होगा उसी के अनुसार किया जायेगा । लेकिन सब से पहले तो हम एक बात समझ लें । महाराज अशोक देवपुरुष हैं, परन्तु जिसने उनका विश्वास सम्पादन कर लिया है उसे तुम क्या समझते हो ?

'दानवी भी नहीं ।' हिमवन्त ने अपना स्पष्ट अभिप्राय कह सुनाया ।

'बस, बस ! मैं भी तुमसे यही कहनेवाला था ।'

'वह तो विष-वल्लरी है देव; लेकिन हम देवपुरुष की आज्ञा के बिना कुछ भी नहीं कर सकते....'

'और न हम कुछ करना चाहते हैं । हमारा तो केवल एक ही काम है—सतत जाग्रत रहना । क्या यह सच है कि इसी पूर्णिमा को युवराज कुणाल सौन्दर्य-भवन जा रहे हैं ?'

'जी हाँ, सच है !'

'क्यों जा रहे हैं ?'

'यह तो नहीं जानता ! लेकिन परिचारिकों को कहते सुना है कि सौन्दर्य-भवन का दान कर दिया जायेगा । सम्भवतः यही कारण हो ।'

मैंने स्वयं वहाँ जाकर पता लगाने का निश्चय किया है । सौन्दर्य-भवन के पृष्ठभाग में जो प्रकोष्ठ है वहाँ से गंगा तक जानेवाली सोपान-श्रेणी पर इन दिनों तुम्हारा पहरा है न ? मैं जाकर देखूँगा कि इस नागिन ने किसी प्रदेशपति को अपनी रूप-माधुरी से प्रमत्तकर षड्यन्त्र का आयोजन तो नहीं किया है ? हम सोये ही रह जायें और यह दुष्टा मगध को तहस-नहस कर दे । तुम उस समय कहाँ रहोगे ?'

कहा जाता है कि जिस दिन महान नगर खंडहर बनने को होते हैं, महान साम्राज्य धूलि-धूसरित होने को होते हैं, महान राज्यों के विनिपात की घड़ी आ लगती है, महान पुरुषों के जाने का समय हो जाता है, महान जातियों का पतन हो रहा होता है, उसी दिन ऐसी चाँदनी खिलती है।

सामान्य जन के लिए तो ऐसी चाँदनी आवेष्टन में बन्द पोथी के समान है, जिसकी लिपि को न वे देख पाते हैं, न पढ़ ही पाते हैं। या तो इतिहास के वेत्ता या कल्पना के धनी कवि ही जानते हैं कि जब एक महान युग विदा ले रहा होता है तब और केवल तभी ऐसी चाँदनी खिलती है।

एक दिन ऐसी चाँदनी खिली थी राम के राज्यकाल में और आदिकवि वाल्मीकि ने उसे देखा था। हस्तिनापुर में भी ऐसी ही चाँदनी खिली थी और वेदव्यास का हृदय विषाद से परिपूर्ण हो उठा था। कृष्ण के नगर द्वारिका में और वैशाली में, राजगृह में, चम्पानगर में, कौशाम्बी और श्रावस्ती आदि सभी महान नगरों में एक दिन ऐसी ही चाँदनी खिली थी और वह उनकी अन्तिम चाँदनी थी।

जब कुणाल अपनी स्वर्ण शिविका में बैठकर तिष्यरक्षिता के सौन्दर्य-भवन की ओर चला तो ठीक वैसी ही चाँदनी खिली हुई थी और पाटलिपुत्र के पशु-पक्षी, जंगल-वनस्पति, जड़-चैतन्य सब मुग्ध होकर उसका आकंठ पान कर रहे थे। उस दिन पाटलिपुत्र में यदि कोई भास-जैसा कवि होता तो निश्चय ही उस चाँदनी को देखकर शोक-विह्वल हो जाता।

स्वर्ण शिविका बढ़ी चली जा रही थी। भारवाही भृत्य के हाथ की यष्टिकाओं में लगे स्वर्ण घुँघरुओं का मंजुल स्वर ऐसा लग रहा था मानो धरती रानी की रुपहली ओढ़नी में टँकी स्वर्ण किंकिणियाँ बज रही हों।

नगर का व्यस्त जीवन शान्त हो गया था। राह-बाट सब खाली पड़ी थीं। किसी आवारा कुत्ते के निरर्थक विलाप के अतिरिक्त कोई स्वर सुनाई नहीं देता था। शुभ्र-धवल चाँदनी का सन्नाटा ऐसा था कि उसमें किसी भी मनुष्य का हृदय आँसुओं का बाँध तोड़कर हाहाकार करने को व्यग्र हो उठता। ऐसे समय में कुणाल तिष्यरक्षिता के सौन्दर्य-भवन को देखने के लिए नहीं, अपितु अपने अन्धकारपूर्ण भविष्य को आमन्त्रित करने के लिए ही जा रहा था।

तिष्यरक्षिता का वह सौन्दर्य-भवन पाटलिपुत्र का दर्शनीय स्थान था। सारी दुनिया में उस सौन्दर्य भवन के नाम की धूम थी। क्या कवि और क्या शिल्पी, कारीगर और वणिक्, नर्तक और नर्तकियाँ सभी उसे देखने के लिए देश-विदेश से दौड़-दौड़कर आते थे।

देश-विदेश की एक-से-एक अनुपम कलाकृतियाँ वहाँ सग्रहीत की गयी थीं। पत्थर, धातु, लकड़ी, शंख, सीपी, लाख, हीरा-माणिक हर माध्यम से अभिव्यक्त की गयी कलाकृतियाँ वहाँ देखने को मिलती थीं। भित्तियों पर विभिन्न प्रसंगों और दृश्यों के भव्य चित्र आलेखित किये हुए थे। नयनाभिराम रंगावलियों के मनोरम फलक थे। तिष्यरक्षिता ने अपने हृदय में संचित शृंगार-रस की सारी सरिता ही वहाँ प्रवाहित कर दी थी। उस सौन्दर्य-भवन में उसने रूप-सौन्दर्य की सोलहों कलाओं से भगवान पुष्पधन्वा को शृंगारित किया था।

कुणालकुमार वहाँ आकर प्रवेश-द्वार में खड़ा हो गया और प्रशस्त प्रांगण के बीचोबीच डेढ़ सौ गज ऊँचे उस अनुपम सौन्दर्य-भवन को टक लगाये देखता रहा। नीचे से ऊपर तक प्रत्येक खंड की शोभापूर्ण अलंकृतियाँ ही दर्शक की दृष्टि को बाँधे रखने के लिए काफी थीं। आज विशेष रूप से दीपमालाएँ सँजोई गयी थीं और उनके प्रकाश में स्तम्भों, भित्तियों, गवाक्षों और पट्टिकाओं में उत्कीर्ण शिल्प-सृष्टि मानो सजीव हो उठी थी। कहीं नारी-समुदाय सरोवर के तट पर जल-क्रीड़ा के लिए उद्यत हो रहा था और पशु-पक्षी ही नहीं पेड़-पौधे और लता-पुष्प भी उनके सौन्दर्य-दर्शन में सुधबुध बिसार बैठे थे। कहीं किसी ढीठ भ्रमर ने किसी ललना को लगभग विवस्त्रा ही कर दिया था। कहीं जल-सिंचन करती हुई प्रमदा उन्नत कुचों पर जलघट थामे स्वयं शृंगार-सरिता-सी प्रतीत हो रही थी। कहीं पक्षी बैठे किलोल कर रहे थे, कहीं पत्थर में फूल खिले थे। सर्वत्र सौन्दर्य और प्रेम का महासागर तरंगित होता दिखाई दे रहा था। कितनी ही देर बाह्य अलंकृतियों की सौन्दर्य-शोभा को देखते रहने के बाद कुणालकुमार आगे बढ़ा।

भवन के मुख्य प्रवेश-द्वार तक पहुँचने के लिए नीचे से ऊपर तक सीढ़ियाँ बनी हुई थीं। प्रत्येक पंक्ति के दोनों ओर स्वर्ण दीपाधारों में सुगन्धित तेल का एक-एक दीपक जल रहा था और उसके पास एक-एक सशस्त्र यवनी सिर

नवाये चुप खड़ी थी। कुणाल सीढ़ियों पर सीढ़ियाँ चढ़ता चला गया। सीढ़ियों के पारदर्शी स्फटिकों मे ऊपर की अलंकृतियों का प्रतिबिम्ब ऐसा लग रहा था मानो सुन्दरियाँ जल-क्रीड़ा कर रही हों।

सौन्दर्य-भवन की भव्यता से अभिभूत कुणाल चढ़ता चला जा रहा था। उसने सपने में भी नहीं सोचा था कि पृथ्वी पर एक साथ इतना सौन्दर्य देखने को मिलेगा। लेकिन धन्य है राजमाता, जिसने इस सारे वैभव, समस्त सौन्दर्य और अतुलित ऐश्वर्य का दान करने का निश्चय कर लिया। और धन्य है महाराज का धर्मोपदेश, जिसने राजमाता को इस महान दान के लिए अनुप्राणित किया।

जब वह मुख्य प्रदेश-द्वार पर पहुँचा तो वहाँ स्वयं तिष्यरक्षिता उसके स्वागतार्थ खड़ी थी। और उसके दोनो ओर दो अनुपम लावण्यवती नारियाँ हाथ में पंखे लिये हुए थीं। रूप-रंग और दिखावे मे वे दोनो तिष्यरक्षिता से बढ़-चढ़कर ही थीं। विस्मित कुणाल समझ नहीं पाया कि ये स्त्रियाँ कौन हैं!

फिर उसने आगे बढ़कर तिष्यरक्षिता को प्रणाम किया; लेकिन झुकने से पहले ही उसने उसके दोनो जुड़े हुए हाथो को अपने हाथो मे थाम लिया और अनुराग-भरे मन्द स्वर में प्रेम-निमन्त्रण देती हुई बोली—कुमार, क्या यहाँ भी मुझे लज्जित कर के हा रहोगे ? यह क्या कर रहे हो ? मेरे आगे झुकते हो, जो कभी तुम्हारी परिचारिका रही है ! तुम भूल जाओ, पर मैं अपने भूतकाल को कैसे भुला सकती हूँ ? आओ, आओ, प्री....

प्रेम के आवेग मे वह इतनी विह्वल हो उठी थी कि अनायास ही प्रीतम शब्द उसके ओठों पर आ गया था। परन्तु तत्काल उसने अपने पर काबू पा लिया और बोली—आओ, आओ प्रभु !

कुणाल ने जैसे ही कदम आगे बढ़ाया उन दोनो अपरूपसी सुन्दरियों का रहस्य उसकी समझ में आ गया। वे रंग-रचना से निर्मित तिलोत्तमाएँ थीं और ऐसी यान्त्रिक व्यवस्था की गयी थी कि ज्योंही अतिथि उनके आगे से गुजरे दोनो के हाथ के पंखे हिल उठें और स्वागतार्थ चन्दन-भीनी बयार बहने लगे।

कलाकार की इस अद्भुत कलाकृति पर मुग्ध विस्मित कुणाल वहाँ से आगे

बढ़ा। तिष्यरक्षिता पथ-प्रदर्शन करती हुई उसे सौन्दर्य-भवन के मुख्य प्रकोष्ठ में ले गयी। वहाँ पहुँचकर कुणाल ने जो देखा उसे देखकर सहसा उसे अपने नेत्रों पर विश्वास नहीं हुआ। वह निर्णय नहीं कर पाया कि जो दिख रहा है वह सत्य है, स्वप्न है या निरा भ्रम है।

सामने स्फटिक धवल दीवाल में से जल की धारा अविरल गति से बहती हुई वहीं कहीं ओझल भी हो जाती थी। उस झरने में कई जल-सुन्दरियाँ विविध अंग-भंगिमाओं में खड़ी थीं। अनेक मत्स्यकन्याएँ वहाँ अपने देह सौष्ठव का प्रदर्शन कर रही थीं। स्वर्ण दीपिकाओं के प्रकाश में उनके पारदर्शी शरीरों की शोभा देखते ही बनती थी। क्षण-भर तो कुणाल वहीं मंत्रमुग्ध-सा खड़ा देखता रह गया। फिर आगे बढ़ा।

आगे-आगे चलती हुई तिष्यरक्षिता सामने रखे एक स्वर्ण सिंहासन पर जा बैठी।

न तिष्यरक्षिता को पता था, न कुणाल को कि किसी की दो आँखें उन दोनो की प्रत्येक हलचल को छिपकर देख रही हैं। वे आँखें राधागुप्त की थीं, जो वहाँ आकर खड़ा हो गया था। उसने आस-पास खड़ी यवनियों को महारानी की आदेश मुद्रा दिखाकर वहाँ से हटा दिया था।

तिष्यरक्षिता उस स्वर्ण सिंहासन पर राजरानी के रोब-दाब से बैठी थी। लेकिन उसका अंग-अंग जैसे पुकार-पुकारकर कह रहा था कि मैं नारी हूँ, नितान्त नारी हूँ, किसी के प्रेम की प्यासी, किसी के अवलम्बन की भीख माँगती हुई एक नारी हूँ।

यों ऊपर से वह शान्त और स्वस्थ मालूम पड़ती थी, लेकिन उसके मन के अन्दर अशान्ति और उद्वेग के तूफान उठ रहे थे। उसने नेत्रों के संकेत से ही कुणाल को आगे बढ़ने का इशारा किया। मुँह से वह कुछ न बोली; उसे अपने ही शब्दों का विश्वास नहीं रह गया था; डरती थी कहीं मन के गुप्त भावों को वे असमय ही प्रकट न कर दें!

कुणाल आगे बढ़ा और तिष्यरक्षिता के सिंहासन के ठीक सामने रखे मोती-माणिक जड़े चन्दन के आसन पर बैठ गया। वह अभी तक उस प्रकोष्ठ के सौन्दर्य को ही देखने-निरखने में मग्न था। कभी स्तम्भों को देखता था और

कभी छतों को, कभी दीवारों को देखता था और कभी विभिन्न सुशोभनों को। वह जितना ही देखता था उसका विस्मय बढ़ता जाता था और देखने की उसकी उत्कण्ठा भी उतनी ही तीव्र होती जाती थी।

वहाँ की प्रत्येक वस्तु और उन वस्तुओं में निहित सौन्दर्य उसे सतत परिवर्तनशील और गतिमान प्रतीत होता था। जितनी ही बार देखता प्रत्येक वस्तु नये रूप में दिखाई पड़ती थी। उसे ऐसा लगने लगा था कि जो पल-पल परिवर्तित नहीं होता वह जीवित होकर भी मृत है और जो पल-पल नये रूप धारण करता है, कर सकता है वह जड़ होकर भी जीवित है। वहाँ न सौन्दर्य की सीमा थी और न सौन्दर्य के वैचित्र्य की।

तिष्यरक्षिता ऊँचे आसन पर बैठी कुणाल की ओर टक लगाये देख रही थी। लेकिन सच में वह उसे देख नहीं रही थी, अपनी दृष्टि से उसके एक-एक अंग का स्पर्श कर रही थी। कितना प्रेम भरा था उसकी उन आँखों में! फिर उसने अनुराग-भरे मन्द मदिर स्वर में कहा—जहाँ शब्दों की भाषा नहीं होती वहाँ किस भाषा का प्रयोग किया जाता है कुमार?

कुणाल ने हँसकर कहा—मौन का। लेकिन इस समय इस प्रश्न का प्रयोजन मेरी समझ में नहीं आया।

कहने को तो वह कह गया, परन्तु दूसरे ही क्षण यह सोचकर लज्जित भी हो उठा कि मेरी यह राजमाता भगवती असंधिमित्रा, संघमित्रा और कुमार महेन्द्र के ही पथ का अनुसरण करने जा रही है और इतने सौन्दर्य का दान करने को उद्यत होकर भी उसका ढिंढारा नहीं पीटना चाहती, मौन की ही भाषा का प्रयोग करना चाहती है। उसने तत्काल अपनी झेंप मिटाते हुए कहा—राजमाता, आप महाराज की बातों की कितनी ही हँसी क्यों न उड़ायें मैं तो आपको हम सबसे पहले धर्मपथ की ओर प्रवृत्त होते देख रहा हूँ। जो इतना सौन्दर्य और ऐश्वर्य दे सकता है वह क्या नहीं दे सकता?

कुमार के इन शब्दों को सुनकर तिष्यरक्षिता थोड़ा झुँझला उठी। हाय, इतना स्पष्ट संकेत भी यह समझ नहीं पाया। उसने कुछ तिक्त, कुछ अनुतप्त स्वर में कहा—कुमार, बात तो तुम्हारी सही है। मैं तो देने ही के लिए बैठी हूँ। लुटाना चाहती हूँ अपना सौन्दर्य, दे डालना चाहती हूँ अपना भवन, बाँट

देना चाहती हूँ अपना प्रेम और समर्पित कर देना चाहती हूँ....

लेकिन उसका स्वर टूट गया। वह अपनी बात पूरी न कर सकी। कुमार ने उत्सुक होकर पूछा—क्या है जिसे समर्पित कर देना चाहती हैं ?

'कुमार, यहाँ चले आओ। मेरे पास आकर बैठो। वृक्ष की उस टहनी पर बैठे हुए पक्षी-युग्म की भाँति हम भी मन्द स्वर में मधुर आलाप करेंगे।'

कुणाल ने तिष्यरक्षिता की दृष्टि का अनुसरण करते हुए देखा कि फूलों से लदी हुई एक डाल पर पक्षियों का जोड़ा बैठा था। उस टहनी से सोने के घुँघरू लटक रहे थे। जब पक्षी फुदकते तो घुँघरू बज उठते थे। पक्षी कभी फुदकते, कभी चहकते और कभी आपस में चोंच मिलाकर आँखें मूँद लेते थे। जब कुणाल ने उनकी ओर देखा तो वे चहक रहे थे और उनकी मन्द मंजुल ध्वनि से पी-पी-पी-पीतम शब्द का-सा आभास हो रहा था। फिर दोनो फुदके, और स्वर्ण घुँघरू बज उठे और तब दोनो चोंच मिलाकर किलोल करने लगे। कुणाल ने उस ओर से अपनी दृष्टि हटाकर तिष्यरक्षिता की ओर देखा। उसकी आँखों में प्रेमोन्माद भरा हुआ था। उन आँखों को देखकर कुणाल तो बेचारा स्तब्ध ही रह गया।

तभी तिष्यरक्षिता ने कहा—कुमार, तुम मुझे राजमाता मत कहा करो। यह शब्द मेरे रोम-रोम में अग्नि प्रज्वलित कर देता है। मैं राजमाता नहीं हूँ; तुम्हारी तो कदापि नहीं। एक सामान्य परिचारिका हूँ और तुम भी मुझे अपनी परिचारिका ही समझो—अपनी दासी, पुजारिन, प्रिया, प्रियतमा, प्रेयसी, प्रेमिका जो चाहे समझो, पर राजमाता तो मैं तुम्हारी नहीं ही हूँ।

'अरे, अरे, देवि !' कुणाल ने अपने दोनो कानो पर हाथ रख लिये थे और वह उठकर खड़ा हो गया था। वह दो कदम आगे भी बढ़ आया परन्तु दूसरे ही क्षण मानो वहीं जड़ीभूत हो गया।

तिष्यरक्षिता के संयम के सारे बाँध ढह गये थे। वह अपने को रोक न सकी। सिंहासन से नीचे उतर आयी और दोनों हाथ फैलाये कुणाल की ओर इस तरह बढ़ी मानो उसे आलिंगन में बाँध लेगी।

राधागुप्त साँस रोके देख रहा था। कुणाल अपनी जगह पर पत्थर की मूर्ति की भाँति खड़ा था। उसकी समझ में नहीं आ रहा था कि क्या कहना

और क्या करना उचित होगा। वह वहीं खड़ा रहा। एक कदम भी आगे या पीछे हटाने का उसका साहस न हुआ।

तिष्यरक्षिता बढ़ी चली आ रही थी—अंग-अंग में मनुहार भरे, आँखों में प्रेम का ज्वार लिये, ओठों पर प्रेम का उद्‌गार सँजोये। कुणाल को अपने सामने की हर चीज घूमती हुई मालूम होने लगी। दो कदम और और....तिष्यरक्षिता वहीं रुक गयी—चार कदम दूर ही। वहीं खड़े-खड़े कुणाल को अपनी अनुरक्त आँखों से मानो पीते हुए उसने प्रेम-उमंग-भरे उलहने के स्वर में कहा—कुणाल, मैंने तुम्हें कितनी बार बरजा कि मुझे राजमाता मत कहा करो, मैं तुम्हारी राजमाता नहीं।

'महारानी, यह शब्द आपको इतना अरुचिकर लगता है तो मैं भविष्य में भूलकर भी इसका प्रयोग नहीं करूँगा।'

'कुमार, बताओ तो, तुम कुछ समझते नहीं, या समझना ही नहीं चाहते?'

'मुझे और समझना ही क्या है महादेवि? कई बातें मैं समझता हूँ और समझ नहीं पाता। कई बातें समझ नहीं पाता और फिर भी समझता हूँ।'

'तुम्हारा सिर! यह मेरे प्रश्न का उत्तर है या गोरखधन्धा!' तिष्यरक्षिता ने बनावटी क्रोध प्रदर्शित करते हुए कहा, 'बोले, तो भी महादेवी! हाय राम, कितनी बार समझाऊँ कि न मैं देवी हूँ और न महादेवी, न रानी हूँ और न महारानी! मैं तो कुछ भी नहीं हूँ कुमार।'

'तो आप मगधेश्वरी हैं। मैं आपका आदेश सिर-माथे चढ़ाता हूँ। अब से आपको मगधेश्वरी कहकर ही सम्बोधित करूँगा।' कुणाल के स्वर का संयम और निरुद्विग्नता आश्चर्यजनक थी।

तिष्यरक्षिता ने एक डग आगे बढ़ाया और कृत्रिम रोष में बोली—फिर मगधेश्वरी कहा? तुम्हें बोलना भी आता है या नहीं? बोलना न भी आता हो तो कोई हानि नहीं। यह विषय तो मौन भाषा का है। तुम्हारी वह भाषा कहाँ गयी कुमार? मुझे तो तुम्हारे मौन की भाषा चाहिए। यहाँ इस जीवन में क्या हम बातें करने ही के लिए आये हैं?

'नहीं तो देवि, आये हैं काम करने के लिए।'

'यह तुमने मेरे मन की बात कही।' तिष्यरक्षिता मुदित हो उठी। वह एक

डग और आगे बढ़ आयी और बोली, 'जीवन का आनन्द क्या है, इसे तुम जानते हो कुमार, या नहीं?'

कुणाल ने कहा—जैसा महाराज कहते हैं, अनृण्ये; जीवन का सुख है उऋण होना। जब मनुष्य इस संसार से चलने लगे तो उस पर किसी का कोई ऋण न रहे—न अपना, न पराया, न नगर का, न धरती का, न देह का, न मन का। किसी प्रकार का ऋण न रहने का ही नाम आनन्द है, चिदानन्द। मैं तो इसी आनन्द को समझता हूँ, अथवा कहूँ कि समझने का प्रयत्न करता हूँ। लेकिन आप किस आनन्द की बात कह रही हैं?

'तुम्हें मुझमें रूप दिखाई देता है?' तिष्यरक्षिता ने अतिशय आग्रह-भरे स्वर में पूछा।

'रूप? आप मुझसे पूछती हैं? मुझे तो इस सारी पृथ्वी पर आपके अतिरिक्त और कहीं रूप दिखाई ही नहीं देता।'

यह उत्तर सुनकर तिष्यरक्षिता जितनी प्रसन्न और उमंगित हुई राधागुप्त उतना ही उद्विग्न और चकित।

'तब तो कुमार,' तिष्यरक्षिता ने उसे प्रेम-कोमल दृष्टि से आप्लावित करते हुए कहा, 'मुझे प्रतीति चाहिए।'

'प्रतीति? किस बात की प्रतीति?'

'प्रतीति तुम्हारे प्रेम की।'

'मेरा प्रेम तो जैसा आपके चरणों में समर्पित है मगधेश्वरी, वैसा अन्यत्र कहीं भी नहीं।'

राधागुप्त का हृदय धड़कने लगा। कुणाल का क्या आशय है, यह उसकी समझ में जरा भी नहीं आया। क्योंकि यह उत्तर कुणाल के अभी तक के समस्त उत्तरों से भिन्न था।

तिष्यरक्षिता थोड़ा और आगे बढ़ आयी। उसके रोम-रोम से प्रेम की ध्वनि उठ रही थी। अंग-अंग पुकार रहा था कि आगे बढ़, और इस लज्जा-भीरु युवक को अपनी बाँहों में समेट ले। इसे जो कहना था, कह चुका। अब इससे अधिक की आशा करना व्यर्थ है। घड़ियाँ बीती जा रही हैं। विलम्ब में कहीं अवसर ही हाथ से न निकल जाये। वह प्रेमोन्मत्त हो उठी। प्रमावेग

में अपनी सुध-बुध ही बिसार बैठी। ललक-भरी बाँहों को फैलाये वह कुणाल की ओर बढ़ी....

राधागुप्त और अधिक न देख सका। असह्य वेदना से उसने आँखें झुका लीं। उसकी समझ में नहीं आ रहा था कि इस समय क्या करना उचित है। अवाक् और निःस्पन्द खड़ा था।

तभी उसने कुणाल को कहते सुना—देवि, मगधेश्वरी, अपना प्रेम आपके चरणों में समर्पित करने से पहले मुझे आपसे बहुत कुछ कहना है—हजार-हजार बातें बतानी हैं। पहले मेरी उन बातों को तो सुन लीजिए। इतनी बातें हैं कि सब-की-सब आज समाप्त नहीं हो सकतीं। विश्व में जो कहीं नहीं हुआ वह हमें अपने इस मगध मे कर दिखाना है। भविष्य हमारा है। लेकिन ये बातें तो मैं आपको फिर कभी बताऊँगा और तभी आप मुझे समझ पायेंगी।

'तुम्हारी कौन-सी बात है जिसे मैं नहीं समझती?' तिष्यरक्षिता ने प्रेमाकुल कण्ठ से कहा, 'तुम मुझे वेदना का आसव पिला रहे हो, और मैं पी रही हूँ। लेकिन वेदना दो, विषाद दो, आनन्द दो, शोक दो, हर्ष दो, दुःख दो ओ मेरे प्रियतम, अब मैं तुम्हें छोड़ने की नहीं। अपने प्रेम के बन्धन से मैं तुम्हें कभी मुक्त नहीं करूँगी। तुम्हारे इन रतनारे, अपांग नेत्रों में मुझे तीनों लोकों का प्रेमानन्द लहराता दिखाई दे रहा है मेरे प्रीतम....'

दूसरे ही क्षण वहाँ क्या हुआ होता, यह कहना कठिन है। तिष्यरक्षिता के केवल एक डग भरने की देर थी, और कुणाल या तो उसके बाहुपाश में आबद्ध हो जाता, या उसने, पता नहीं, क्या कर डाला होता। उसके सामने अनुराग-भरी समर्पणमयी नारी अपने नारीत्व का थाल लिये खड़ी थी; और केवल एक क्षण की देर थी।

सहसा एक यवनी दौड़ी हुई वहाँ आयी। उसकी साँस फूल रही थी। किसी तरह वह इतना ही कह पायी—महारानी, भदन्त मोगलिपुत्त तिस्स....

तिष्यरक्षिता का सारा उन्माद, सारा नशा यह सुनते ही हवा हो गया; वह जैसे सोते से जाग पड़ी।

और सामने से साधु उपगुप्त चले आ रहे थे।

१८ : : साधु उपगुप्त

साधु उपगुप्त को इस समय अकस्मात् आया देख राधागुप्त को बड़ा आश्चर्य हुआ। वह समझा कि यह साधु कुणाल को अपने फन्दे में फँसाने के ही लिए इस समय यहाँ आया है। इसी ने महाराज के पुत्र महेन्द्र को साधु बनाया और संघमित्रा को भिक्षुणी बनाकर सुदूर ताम्रपर्णी भेज दिया। राज-परिवार के एक-एक सदस्य को इसने त्रिरत्नों की लौ लगाकर बुद्ध, धर्म और संघ की शरण में पहुँचा दिया। असंधिमित्रा, उसका भतीजा भांडु, तिष्यकुमार. न्यग्रोध सभी को चीवर पहिनाकर उनके हाथ में भिक्षापात्र थमा दिये। महाराज की पुत्री चारुमती और उसके पति देवपाल को भी 'बुद्ध शरण, धर्म शरण, संघ शरण गच्छामि' का जाप कराते-कराते नेपाल चलता किया। स्वयं महाराज अशोक पर तो इसने ऐसा मन्त्र फूँका कि वह राज-पाट छोड़कर धर्म-यात्राएँ और धर्म-घोषणाएँ करने और शासन-प्रबन्ध से मुँह मोड़ भिक्षु-भिक्षुणियों के संघों में अनुशासन-पालन की खबरदारी रखने लगे।

जो कभी मथुरा का एक सौगन्धिक था वही आज मगध का सर्वेसर्वा बना हुआ था। स्वयं मगधपति भी उसकी इच्छा के दास थे और उसके प्रत्येक शब्द को देवाज्ञा समझते थे। जिस दिन यह साधु पाटलिपुत्र आया, स्वयं महाराज तीन कोस भूमि पैदल चलकर उसकी अगवानी को गये थे। इसके आगमन के समाचार लेकर आनेवाले को महाराज ने अपने सभी अलंकार उतारकर दे दिये थे। इसके स्वागत में सारा नगर सजाया गया था। क्रीतदास की भाँति महाराज ने स्वयं इसे हाथ पकड़कर नौका में से नीचे उतारा था। महाराज के जीवन को प्रभावित करनेवाला, उनका नया निर्माण करनेवाला यही साधु था।

इसी ने महाराज को लुम्बिनी वन की धर्म-यात्रा करवायी और उन्हें वहाँ से धर्म-कर उठाने और वहाँ का भूमि-कर षष्ठमांश से अष्टमांश करने की प्रेरणा दी थी। भगवान तथागत ने जहाँ-जहाँ विहार किया यह साधु महाराज को उन सभी स्थानों की धर्म-यात्रा के लिए ले गया था।

लोगों में इसका नाम साधु उपगुप्त प्रसिद्ध था, परन्तु बौद्ध संघ में तो यह मोग्गलिपुत्त तिस्स के नाम से ही जाना जाता था।

इस तरह अकस्मात् आते देख राधागुप्त समझ गया की इस साधु को न तो चन्द्रगुप्त-सभा के अधिवेशन की बात पसन्द आयी होगी, न राजप्रतिनिधि की नियुक्ति का प्रस्ताव। कुणाल के हिमवन्त प्रदेश में जाने की बात भी इसे अच्छी नहीं लगी होगी; क्योंकि यह स्वयं वहाँ जाना चाहता था। इसका इरादा यही होना चाहिए कि जिस प्रकार महाराज अशोक को अपने साथ ले गया था उसी प्रकार कुणाल को भी धर्म-यात्राओं पर ले जाये और धर्म-विजय करवाये।

राधागुप्त को वर्षों पहले की एक घटना याद हो आयी। महाराज ने बोधिवृक्ष के नीचे बैठकर एक लाख स्वर्ण कार्षापण दान किये थे। राधागुप्त, खल्लाटक और सुबन्धु सहित सभी मंत्री साथ थे। अपार जन-समुदाय महाराज की दान-शीलता को प्रत्यक्ष देखने के लिए आ जुटा था। महाराज का इस प्रकार स्वर्ण उलीचना मंत्रियों को जरा भी पसन्द न था। वे सब मुँह लटकाये बैठे थे; परन्तु लोक-समूह महाराज की दानशीलता के गुण गा रहा था, जयजयकार का घघनभेदी उद्घोष कर रहा था।

संभवतः कुणाल के लिए भी इस साधु के मन में यही बात हो!

राधागुप्त और भी सतर्क हो गया। उसने अपने-आपको और भी छिपा लिया। ऐसी जगह खड़ा हो गया जहाँ से उपगुप्त का एक-एक शब्द सुना और तिष्यरक्षिता की प्रत्येक हलचल देखी जा सके।

तिष्यरक्षिता के प्रेमोन्माद को देखकर वह बहुत ही उद्विग्न हो गया था और यह आशंका उसके मन मे जमकर बैठ गयी थी कि अब मगध में कोई सुरक्षित रह नहीं सकता। वह मायाविनी या तो कुणाल को अपना बनाकर रहेगी या पृथ्वीतल से उसका नाम ही मिटा देगी और जो भी उसकी उद्देश्य-प्राप्ति में बाधक होगा उसे मौत के घाट उतार देगी।

वहीं खड़े-खड़े राधागुप्त ने एक निर्णय किया। अभी तक वह महाराज का दिल दुखाते डरता था, ऐसे देवोपम पुरुष को वह तनिक-सा भी कष्ट नहीं पहुँचाना चाहता था; लेकिन अब उसने निश्चय कर लिया कि कुणाल यहाँ, पाटलिपुत्र में रहने नहीं पायेगा, उसे जाना ही होगा और इस निश्चय की कार्यान्विति को कोई रोक न सकेगा।

वह अपनी जगह पर खड़ा देख रहा था। साधु उपगुप्त चला आ रहा था।

और तिष्यरक्षिता....अरे, कहीं वह सपना तो नहीं देख रहा ? उसने आँखें फाड़-फाड़कर देखा। अभी क्षण-भर पहले की प्रेम-मुग्धा, उत्सर्ग-आतुरा, सर्वस्व-निवेदिता तिष्यरक्षिता वहाँ थी ही नहीं। वह पलक मारते ही अदृश्य हो गयी थी और उसके स्थान पर भगवान बुद्ध की परम उपासिका, शान्त और सुशील, प्रज्ञापारमिता-जैसी त्रिरत्नों की सेविका भदन्त मोगलिपुत्त तिस्स को शिरसावनत प्रणाम करती खड़ी थी।

कुणाल ने भी आगे बढ़कर साधु उपगुप्त को प्रणाम किया।

जब साधु उपगुप्त एक बार चारों ओर अपनी स्निग्ध करुणापूर्ण दृष्टि डालकर सुस्थिर मन बैठ गया तो तिष्यरक्षिता ने पूछा—भदन्त, महाराज का स्वास्थ्य....

'आकाशगोत्र सूर्यास्त होने तक वहीं थे। महाराज अब श्रम-योग्य हो रहे हैं। एकाध मास में तो काश्मीर का प्रवास भी कर सकेंगे।'

'महाराज स्वयं जायेंगे ?' तिष्यरक्षिता ने चकित होकर पूछा। सुनकर राधागुप्त को भी कम आश्चर्य नहीं हुआ। उसे लगा कि इस साधु ने तो सारी योजना ही बदल डाली है। इस समय संभवतः यही कहने के लिए यहाँ आया है।

राधागुप्त उत्तर सुनने के लिए सतर्क हो गया।

साधु उपगुप्त सुन्दर, सशक्त, ऊँचा-पूरा और बूढ़ा होते हुए भी लुभावने चेहरेवाला प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति था। आत्मविश्वास उसमें कूट-कूटकर भरा था। न वह भय जानता था, न अविश्वास। शब्दों पर इस तरह जोर देकर बोलता था कि जो कुछ कह रहा है वह होकर ही रहेगा। उसने कहा—हाँ महारानी, महाराज स्वयं ही जायेंगे। काश्मीर, योन, गांधार, तक्षशिला आदि प्रदेशों के निवासी महाराज का धर्म-सन्देश स्वयं उन्हीं के मुँह से सुनने के लिए उत्सुक हैं। मैं भी साथ जाऊँगा। भदन्त माध्यमिक काश्मीर प्रदेश में निर्मित हो रहे पाँच सौ स्तूपों का निरीक्षण करने जायेंगे। उस समय एक अन्य राजपुरुष भी साथ रहेगा और उसके लिए तुम्हारी अनुमति मिलनी चाहिए, ऐसा महाराज का कहना है....

'मेरी अनुमति मिलनी चाहिए, ऐसा महाराज का कथन है ? भदन्त, आप

संभवतः महाराज के स्वभाव से परिचित नहीं। बड़े ही विनोदप्रिय हैं हमारे महाराज। कभी-कभी तो ऐसी बात कह बैठते हैं कि सुननेवाले हँसते-हँसते दुहरे हो जाते हैं। यह भी महाराज का कोई ऐसा ही विनोद प्रतीत होता है। क्यों राजकुमार ? अरे, आप मौन क्यों हैं ?'

'इन्हीं की बात है।' साधु उपगुप्त ने कहा।

'क्या इनकी ? कुणालकुमार की ?' तिष्यरक्षिता के स्वर में उत्सुकता भी थी और व्यग्रता भी।

'हाँ ! राजकुमार कुणाल, तुम्हें महाराज के साथ तक्षशिला जाना होगा।'

'महाराज की आज्ञा....'

'यही है और यही होगी।'

'परन्तु भदन्त, चन्द्रगुप्त-सभा का अधिवेशन जो होने जा रहा है !'

'वह होता रहे,' तिष्यरक्षिता ने कहा, 'हमें तो गुरुजनों का आदेश सिर-माथे चढ़ाना चाहिए। महाराज के साथ तक्षशिला जाने की ही तो बात है।'

'बात यह है कुमार कि महाराज धर्म-विजय की एक नयी परम्परा स्थापित करना चाहते हैं। आगे से वही प्रचलित राजनीति होगी। अभी से ऐसे प्रयत्न होने चाहिए कि लोग उस नीति को श्रद्धा की दृष्टि से देखने लगें। महाराज यही करना चाहते हैं। तक्षशिला के विद्रोह की बात महाराज जानते हैं; परन्तु कौन-सा विद्रोह है जो त्रिरत्नों के प्रताप से शान्त नहीं किया जा सकता। महाराज अपनी उद्बोधक वाणी से मनुष्यों के हृदयों को जीतना चाहते हैं, प्रदेशों को नहीं। देश तो बहुत जीते गये। लेकिन ऐसी कोई विजय सत्य और स्थायी नहीं हो सकी। प्रेम से जीतनेवाले की ही जीत वास्तविक और स्थायी होती है। हम भारतवर्ष को ही नहीं, समस्त संसार को बदल देना चाहते हैं। यह सौभाग्य कुणालकुमार का हो और साथ ही मेरा भी हो। महाराज की इच्छा है कि जब वह वहाँ जायें तो तुम भी उनके साथ रहो; हमारे भिक्खु-संघ की भी ऐसी ही इच्छा है। कितना अलौकिक दृश्य होगा ! वहाँ धर्म-महामात्य, मज्जन्तिक, महारक्खित, कश्यप आदि सभी साथ रहेंगे। एक नयी परिपाटी प्रारम्भ की जायेगी। पहले देशों को जीतने के लिए सेनाएँ भेजी जाती थीं अब लोगों को जीतने के लिए साधु भेजे जायेंगे। जो कहीं नहीं हुआ वह यहाँ मगध

में होंगा। लोगों के हृदयों को जीता जायेगा त्रिरत्न से, ज्ञान, प्रेम और अहिंसा से। ऐसे नूतन धर्म-विजय की परम्परा तुम प्रारम्भ करोगे। इस परम्परा का उत्तरोत्तर विकास करने के लिए भविष्य में राज्य-धुरा भी तुम्हीं को वहन करनी होगी। इसी लिए तुम्हें उस समय हमारे साथ चलना होगा; अभी नहीं, चन्द्रगुप्त-सभा कहे तो भी नहीं।'

कुणाल ने हाथ बाँधकर पूछा—परन्तु महाराज की क्या आज्ञा है ? मेरे लिए तो महाराज की आज्ञा ही शिरोधार्य है।

'यह महाराज की आज्ञा लेकर ही आये हैं कुमार !' तिष्यरक्षिता ने कहा, 'तुम्हें अभी से वहाँ जाने की ऐसी क्या जल्दी पड़ी है ? यहाँ क्या नहीं है ? महाराज हैं, मैं हूँ, धर्म है, प्रेम है, महाराज की सेवा-शुश्रूषा है। मैं तो अभी तुम्हें जाने न दूँगी। महाराज के साथ जा सकोगे। मैं तुम्हें छोड़ नहीं सकती। छोड़ूँ कैसे ? महान प्रेम-धर्म की विजय का, नयी परम्परा की स्थापना का प्रश्न जो है....'

साधु उपगुप्त ने तिष्यरक्षिता की यह बात सुनकर भी जैसे नहीं सुनी और बोले—कुणाल, एक बात समझने-जैसी है, चन्द्रगुप्त-सभा कौटिल्य की नीति थी। महाराज की नीति प्रेम की नीति है। बताओ दोनो में श्रेष्ठ कौन है—प्रेम की नीति या कौटिल्य की नीति ?

तिष्यरक्षिता ने हँसकर कहा—बोलो, बोलो कुमार, कहो प्रेम की नीति। लेकिन भदन्त यह तो बोलना जानते ही नहीं। इन्हें बोलना सुहाता नहीं।

'कई लोगों को नहीं सुहाता।' साधु उपगुप्त ने कहा, 'क्योंकि ऐसे लोगों की आस्था बोलने में नहीं, काम में और जीवन में होती है।'

'हमारे यह राजकुमार भी ऐसे ही लोगों में हैं। इनका विश्वास न प्रेम की नीति में है और न प्रेम की बातों में। इनकी आस्था तो है प्रेम के कार्यों में, प्रेम के जीवन में। क्यों कुमार, सच कह रही हूँ न ?'

'मेरी आस्था तो मनुष्य को प्रेम से जीतने में है।' कुणाल ने प्रत्युत्तर दिया। 'महाराज देवपुरुष हैं। उन्होंने राजनीति को सर्वप्रथम प्रेम-नीति की यह अनुपम भेंट प्रदान की है। मगध की तो अब यह अटल नीति ही है।'

'तो हम महाराज की आज्ञानुसार ही करें।'

'लेकिन चन्द्रगुप्त-सभा के अधिवेशन की घोषणा जो की जा चुकी है ? उसकी एक परम्परा है और महाराज भी उस परम्परा को मानते हैं।'

'होती रहे घोषणा। हम तो अपनी नयी नीति बनायेंगे।' तिष्यरक्षिता ने कहा, 'तुम चन्द्रगुप्त-सभा में दृढ़ता से इस बात की घोषणा करना कि मैं तो महाराज के साथ तक्षशिला जाकर वहाँ का विद्रोह महाराज की ही नीति के अनुसार शान्त करना चाहता हूँ; अब यह परम्परा होगी....'

'क्यों भदन्त, क्या महाराज की यही इच्छा है ?' कुमार ने पूछा।

'उनसे क्या पूछते हो ? मुझसे पूछो। मैं कहती हूँ, हाँ, यही इच्छा है।'

साधु उपगुप्त ने भी कहा—हाँ कुमार, महाराज की यही इच्छा है। उनका आग्रह तो धर्म-विजय का है ही ! लेकिन वह तभी हो सकता है जब तुम दृढ़ रहो, नया मार्ग बनाने के लिए उद्यत हो। महाराज तो अग्रणी हैं। अनुसरण की तुम्हारी तत्परता भी तो होनी चाहिए।'

'मैं तो महाराज का एक विनम्र आज्ञाकारी हूँ, उनका दासानुदास। उनकी हर इच्छा मेरे लिए आदेश है।'

'बस, बस ! यही तो चाहिए। तुम अपने मन को ऐसा ही दृढ़ बनाये रखना। शीघ्र ही यह प्रश्न उपस्थित होनेवाला है कि मगध अपनी धर्म-परम्परा को बनाये रख सकेगा या खो देगा। राधागुप्त तो इसे मिटाने पर तुला हुआ है। सभी प्रादेशिक उसके कहने में हैं। इधर महाराज अपनी धर्मनीति को प्रचलित राजनीति के स्थान पर अभिषिक्त करना चाहते हैं। ऐसे समय महाराज के सभी समर्थकों और राज-परिवार के सभी सदस्यों का दृढ़ बने रहना आवश्यक है। मैं यही कहने के लिए आया हूँ। तुम दृढ़ रहो। कांचनमाला दृढ़ रहे। नन्हा दशरथ भी दृढ़ता दिखाये। तभी धर्म-विजय की परम्परा स्थापित हो सकती है। हमारी सारी आशाएँ तुम्हीं पर निर्भर हैं कुमार।'

कुमार जैसा कि उसका स्वभाव था, दुविधा में पड़ गया। बड़ी देर तक कुछ निर्णय न कर सका। अन्त में बोला—भदन्त, आपकी इच्छा पूर्ण हो। महाराज की आज्ञा भी पूर्ण हो।

तिष्यरक्षिता बोली—मैं तो राजकुमार की अनुगामिनी हूँ। जहाँ यह वहाँ मैं। सब-कुछ महाराज की इच्छानुसार ही होगा।

साधु उपगुप्त ने उठते हुए कहा—तो सब दृढ़ रहना। मैं आया ही इसलिए था। यह बड़ा ही मंगल अवसर है। आज एक शुभ कार्य का जन्म हो रहा है। विश्व से युद्ध की समाप्ति मानव-जाति का महानतम अनुष्ठान है। भगवान तथागत की चरण-रज से पावन मगध की भूमि विश्व को यह मंगल सन्देश देने के लिए उद्यत हुई है। प्रतिदिन साठ सहस्र ब्राह्मणों को भोजन करवाकर भी महाराज अशोक को जो शान्ति और सन्तोष उपलब्ध नहीं हुआ वह आज होगा। आज उन्हें सम्यक् ज्ञान मिला। शान्ति उसी को मिलती है जो शान्ति देता है। महाराज ने इस महान सूत्र को अपना जीवन-सूत्र बनाया है। और आज वह शान्ति का, आनन्द का, सुख का....

'और प्रेम का भी।' तिष्यरक्षिता ने कहा।

'हाँ, प्रेम का भी महासागर तरंगित होते देख रहे हैं। असीम और अथाह है यह समुद्र। इसी लिए तो शासन की धुरा धारण करके भी महाराज साधु-श्रेष्ठ हैं। हाँ, महाराज अभी कुछ समय कुक्कुटाराम में ही विश्राम करेंगे। आकाशगोत्र की भी यही सम्मति है।

'हैं!' कुणाल ने घबराकर कहा।

'ओ-हो!' तिष्यरक्षिता बोली, 'तब तो महाराज की शुश्रूषा के लिए मैं भी वहीं चलती हूँ। कुणाल, महाराज का राजप्रासाद तब तक तुम्हारे जिम्मे रहा। मैं आती-जाती रहूँगी। भदन्त की बात तुम्हारी समझ में आयी न? जीतता प्रेम ही है।'

'और धर्म भी।' साधु उपगुप्त ने जाते-जाते कहा।

'धर्म और प्रेम में पार्थक्य ही कहाँ है प्रभु? जिसने एक को पा लिया उसे दूसरा अनायास ही मिल जाता है।'

राधागुप्त उसकी यह बात सुनकर चकित रह गया। उसका अक्षर-अक्षर झूठ होते हुए भी सच लग रहा था।

१६ : : दन्तमुद्रा

अब राधागुप्त को यह चिन्ता सताने लगी कि चन्द्रगुप्त-सभा के अधिवेशन का क्या होगा, मेरी अपनी योजनाएँ क्या होंगी और क्या होगा कुणाल तथा

महाराज का भवितव्य ? उसे सब-कुछ अनिश्चयात्मक लग रहा था। निश्चित थी केवल एक बात—तिष्यरक्षिता का दुर्दमनीय प्रेमोन्माद। लेकिन यह नहीं कहा जा सकता कि पराजित होने पर वह क्या करेगी।

राधागुप्त को पाटलिपुत्र पर ही नहीं, समस्त मगध देश पर विपत्ति के बादल घुमड़ते दिखाई दे रहे थे, जो किसी भी क्षण गर्जन-तर्जन के साथ बरसना शुरू कर सकते थे।

उसने सौन्दर्य-भवन में जो कुछ देखा और सुना था वह सब-का-सब जाकर कांचनमाला से कह देना चाहता था। लेकिन फिर यह सोचकर चुप रह गया कि कहीं कुणाल का कोमल हृदय टूट न जाये। एक प्रतिक्रिया यह भी हो सकती थी कि कुणाल भिक्खु बन जाता। और यदि वह भिक्खु बन जाता, तब तो मगध के उद्धार की सारी आशाएँ ही नष्ट हो जातीं। इसलिए उसने चुप रहना ही ठीक समझा।

अब उसने अपनी सारी शक्ति और ध्यान चन्द्रगुप्त-सभा का अधिवेशन करने पर केन्द्रित कर दिया। उस राज्य-सभा को पुनर्जीवित करने के साथ-साथ उसके गौरव की पुनः-प्रतिष्ठा भी तो करनी थी। यह भी देखना था कि कुणाल तक्षशिला जाने से इनकार न कर दे, महाराज राज्य का परित्याग न कर बैठें और तिष्यरक्षिता सर्वसत्ताधीश न हो जाये। इस बात की सतर्कता भी आवश्यक थी कि न तो धर्म-यात्राओं और धर्म-घोषणाओं में कमी होने पाये और न कहीं विद्रोह ही हो।

महाराज स्वयं तक्षशिला जाना चाहते थे। अपने प्रभावशाली व्यक्तित्व के कारण वहाँ वह धर्म-घोषणा के द्वारा शान्ति स्थापित करने मे निस्सन्देह सफल होते। इस तरह सर्वत्र सुशासन की स्थापना हो जाती। लेकिन राधा-गुप्त के मतानुसार चन्द्रगुप्त-सभा के अधिकार और क्रियाशीलता की पुनः-स्थापना के बिना सुशासन की स्थायी व्यवस्था असम्भव ही थी। सुशासन की परम्परा तभी विकसित हो सकती थी जब कि कुणाल को अग्रणी बनाया जाता, एक युवराज के नाते वह तक्षशिला जाता और दैनन्दिन शासन-कार्य का संचालन चन्द्रगुप्त-सभा के हाथ में आ जाता।

उसने एक साथ दो काम किये—चन्द्रगुप्त-सभा के अधिवेशन की घोषणा

एक बार और करवायी; और तिष्यरक्षिता पर अपनी दृष्टि पहले से अधिक कड़ी कर दी। उसने महामाया को बुलाकर ताकीद कर दी कि तिष्यरक्षिता के एक-एक काम की, एक-एक बात की खबर उसे बराबर देती रहे। यह भी समझा दिया कि तिष्यरक्षिता को जरा-सा भी सन्देह नहीं होना चाहिए। तदनुसार महामाया रोज रात में आकर उसे दिन भर का पूरा कच्चा चिट्ठा सुना जाती थी।

चन्द्रगुप्त-सभा के अधिवेशन को आठेक दिन शेष रह गये थे। एक दिन महामाया ने आकर बताया कि तिष्यरक्षिता महाराज को कुक्कुटाराम से समझा-बुझाकर राजप्रासाद में ले आयी है। दूसरे दिन आकर उसने बतलाया कि तिष्यरक्षिता ने महाराज की सेवा-शुश्रूषा का अधिकांश भार युवराज कुणाल पर डाल दिया है। राधागुप्त सतर्क हो गया। कुणाल को सतत अपने समीप बनाये रखने के ही लिए तिष्यरक्षिता ने यह चाल चली थी। प्रेम की दुहरे अर्थवाली बातें भी वह अवश्य करती होगी। महामाया से पूछने पर राधागुप्त की इस धारणा की पुष्टि भी हो गयी। अधिक पूछने पर यह भी पता चला कि कुणाल अपना जगह पर दृढ़ था। लेकिन तिष्यरक्षिता प्रेम के मार्ग पर इतनी आगे बढ़ गयी थी कि या तो कुणाल को झुकाकर रहती या मिटाकर।

राधागुप्त महाराज से एकान्त में दो क्षण बातें करना चाहता था। एक दिन वह राजमहल गया। महाराज की सेवा-शुश्रूषा का उत्तम प्रबन्ध था। थोड़ी-थोड़ी देर मे आकाशगोत्र आता था; थोड़ी-थोड़ी देर में महाराज को औषधि दी जाती थी; थोड़ी-थोड़ी देर में कुछ उपचार किये जाते थे। कुणाल पिता की शय्या के पास से हटता ही न था। तिष्यरक्षिता स्वयं हाथ में पंखा लिये खड़ी थी। महाराज सम्भवतः इतने अधिक अस्वस्थ नहीं थे जितना कि तिष्य-रक्षिता ने प्रसिद्ध कर रखा था। राधागुप्त ने सोचा, सामान्य अस्वस्थता को सौगुनी बढ़ाकर प्रचारित करने में भी तिष्यरलिता का कोई दुष्ट हेतु अवश्य होना चाहिए।

राधागुप्त ने स्पष्ट देखा कि बन्दी न होते हुए भी महाराज मुक्त नहीं थे। तिष्यरक्षिता ने उन्हें एक तरह से अपने बन्दीगृह में डाल रखा था। उनके एक-एक अक्षर का पालन किया जाता था। बात मुँह से निकलने भी न पाती

थी और पूरी कर दी जाती थी। दान तो महाराज इस तरह कर रहे थे मानो दोनों हाथों से समुद्र उलीच रहे हों। नये-नये स्तूपों, स्तम्भों और स्मारकों के निर्माण की चर्चा बराबर होती रहती थी। बौद्ध संघ का अधिवेशन करने की योजना भी बनाई जा रही थी। महाराज इन सब बातों में उत्साहपूर्वक भाग लेते थे। उनके उत्साह को देखकर यह जरा भी नहीं लगता था कि वह रुग्ण और अस्वस्थ है। लेकिन यह देखकर आश्चर्य होता था कि महाराज फिर भी अपने को अस्वस्थ ही मानते थे।

इधर महाराज के स्वभाव और व्यवहार में एक परिवर्तन और भी हुआ था। अब वह किसी को आज्ञा नहीं देते थे। कभी ऐसी आवश्यकता पड़ ही जाती तो उन्हें बड़ी हिचकिचाहट होती थी। सोचते कि आज्ञा देनेवाला मैं कौन होता हूँ! कहीं सामनेवाले का दिल न दुखे। हर आदमी के मन को समझने और उसके विचारों का आदर करने के लिए वह प्रयत्नशील रहने लगे थे। आज्ञा को भी वह एक प्रकार की हिंसा ही मानने लगे थे। किसी से कुछ करने को कहना ही होता तो वह आदेशात्मक शैली के स्थान पर सुझावात्मक शैली का प्रयोग करते थे।

राधागुप्त ने यह सब देखा, परन्तु जिस उद्देश्य से आया था वह उद्देश्य पूरा न हुआ। उसे एक क्षण का भी एकान्त नहीं मिला। वह मौन लौट गया।

दूसरे दिन भी ऐसा ही हुआ। तिष्यरक्षिता महाराज की शय्या के पास से एक क्षण के लिए भी नहीं हटी।

तीसरे दिन वह फिर आया। इस बार उसके साथ वृद्ध महामंत्री खल्लाटक भी था। आज दोनों निश्चय करके आये थे। दोनों महाराज के पर्यंक के निकट गम्भीर चिन्ता में निमग्न बैठे अवसर की प्रतीक्षा करते रहे। जैसे ही तिष्यरक्षिता इधर-उधर हुई कि महामंत्री खल्लाटक ने कहा—महाराज, बिलकुल अकेले में दो क्षण चाहिए। कोई ऐसी ही भयंकर बात कहने का दुर्भाग्य हमारे भाग्य मे लिख गया है।

'क्या बात है मंत्रीश्वर?'

'अकेले आपसे ही कहने की बात है महाराज। दूसरा कोई भी सुन नहीं सकता।'

और जिस प्रकार महाराज ने एकान्त के लिए आज्ञा दी उसे देखकर तो दोनों-के-दोनों मंत्री गद्गद हो उठे। महाराज ने मनुष्य की मर्यादा को इतना ऊँचा उठा दिया था, मानवी गौरव को इतने ऊँचे आसन पर प्रतिष्ठित कर दिया था कि युद्ध और रक्त-पात की शत-सहस्र शताब्दियाँ भी ऐसा न कर पातीं। दोनों मंत्रियों ने महाराज की इस महनीयता को मन-ही-मन प्रणाम किया।

महाराज के ताली बजाते ही एक यवनी आदेश ग्रहण करने के लिए दौड़ी चली आ रही थी। लेकिन तिष्यरक्षिता ने उसे अधबीच ही रोक दिया और महाराज के निकट आकर स्नेह कोमल स्वर में पूछा—महाराज, क्या आज्ञा है?

'यही....' महाराज अशोक ने मन्द स्वर में कहा, 'कि हमारी आज्ञा को कोई आज्ञा न समझे!'

'देव, यह आप क्या कह रहे हैं? महाराज की आज्ञा को आज्ञा न समझने-वाला कापुरुष यहाँ कौन है? क्या मंत्रिगण से कुछ कहना है या इन्होंने कुछ कह दिया है?'

'देवि, ये मंत्रिगण नहीं, मगधभूमि के सपूत हैं। बचपन में हम तीनों ने मिलकर माता मगध-भूमि को निश्चय ही बहुत खिझाया होगा। आज उसी बात को लेकर ये कुछ हास-परिहास करने चले आये हैं। मेरा तो अब कुछ भरोसा नहीं, इसलिए यह सोचकर आ गये हैं कि इसके जाने से पहले एक बार आनन्द गोष्ठी हो जाये। बचपन की ऐसी बातों का मजा तभी आता है जब बिलकुल एकान्त हो। बस बात इतनी-सी है! यह इच्छा स्वाभाविक भी है। आखिर तो हम साथ खेले-कूदे और साथ बड़े हुए हैं। तो यवनियाँ यहाँ से थोड़ी इधर-उधर हो जायें। आकाशगोत्र आयें तो समीप के कक्ष में बैठें। तुम भी थोड़ी देर के लिए वहीं कुणालकुमार के पास बैठना। वह कुमार अब तुम्हारा ही है और तुम्हीं को प्रेम से उसका संगोपन करना है।'

'अरे महाराज!' बस इतना ही कहकर तिष्यरक्षिता वहाँ से चली गयी। वह समझ गयी थी कि चन्द्रगुप्त-सभा के सम्बन्ध में ही मंत्रियों को कुछ कहना होगा। लेकिन उसे तो अब कुणाल के प्रेम की लौ लगी थी। उसकी ओर से चन्द्रगुप्त-सभा और मंत्रिगण और बूढ़े महाराज सभी भाड़ में जायें। कुणाल उसे मिल जाये, कुणाल के साथ प्रेम-सम्भाषण का सुखद अवसर मिल जाये,

फिर उसे कुछ भी नहीं चाहिए। वह तो चाहती थी कि अपने कुणाल को लेकर यहाँ से दूर, इतनी दूर निकल जाये जहाँ वह हो और उसका प्रियतम कुणाल हो और वह उसके हाथ में हाथ दिये चली जा रही हो प्रेम के अनन्त पथ पर।

इसी लिए वह महाराज की बात मानकर शीघ्रतापूर्वक समीप के कक्ष में चली गयी। लेकिन वहाँ न तो आकाशगोत्र था और न कुणाल ही। उसे बड़ी निराशा हुई। वह थोड़ा झुँझला भी उठी। फिर उसे खयाल आया कि देखें यह राधागुप्त एकान्त में महाराज से ऐसी कौन-सी बात कहने आया है। हठात् उसका कलेजा जोरों से धड़कने लगा। कहीं यह दुष्ट मेरे ही सम्बन्ध में कहने तो न आया हो? फिर तो बुड्ढा कुणाल को देश निकाला ही दे देगा। हाय राम! मैं भी कैसी मूरख हूँ!

वह झपटती हुई महाराज के कक्ष के प्रवेश-द्वार के समीप आयी। वहाँ उसने कुछ यवनियों को खड़ा किया और यह कहती हुई कि 'आगन्तुक कोई भी क्यों न हो, उसे भीतर न जाने देना' महाराज के शयनागार के समीपवाली छोटी कोठरी में घुस गयी। इस कोठरी का उपयोग रात में महाराज के अंगरक्षकों के लिए किया जाता था। महाराज की सुरक्षा के लिए वे वहाँ छिपकर पहरा देते थे।

इस समय वहाँ कोई नहीं था। काठ की एक चौकी पड़ी हुई थी। तिष्य-रक्षिता ने उस पर चढ़कर चारों ओर देखा। एक दीवार में ऊपर गवाक्ष बना हुआ था। चौकी को सावधानी से उठाकर वह गवाक्ष के नीचे लायी। वहाँ रखकर ऊपर चढ़ गयी और टोह लेने लगी। वह महाराज और दोनो मंत्रियों को देख सकती थी, उनकी बातें भी सुन सकती थी, परन्तु उसे कोई देख नहीं सकता था।

शायद राधागुप्त ने कुछ कहा था और महाराज उसकी बात का उत्तर दे रहे थे।

'निश्चय ही परम्परा की हमें रक्षा करनी है राधागुप्त! साथ ही यह भी देखना है कि हमारी नयी परम्परा भी चलती रहे। शासन की सफलता अन्ततोगत्वा शासन करनेवाले की समझदारी पर ही तो निर्भर है न? चन्द्रगुप्त-सभा का अधिवेशन हमें करना ही है। तुमसे किसने कह दिया कि हम नहीं करना चाहते?'

'अधिवेशन तो आयोजित करें, परन्तु चन्द्रगुप्त-सभा की मर्यादा न रखी गयी, उसकी प्रतिष्ठा को धक्का पहुँचा तो क्या सौ वर्षों की साधना मिट्टी में नहीं मिल जायेगी ?' खल्लाटक ने कहा।

'ऐसा कभी हो सकता है मंत्रीश्वर ? आप निधड़क अधिवेशन आयोजित कीजिए।'

'लेकिन उसके निर्णयों का पालन किया जाये तभी बुलाना उचित होगा, नहीं तो व्यर्थ बुलाकर क्या होगा ?'

'किस निर्णय की बात कह रहे हो राधागुप्त ?'

'महाराज, जैसा कि मैंने निवेदन किया था, मगधपति सदैव एक नियम का पालन करते आये हैं। वृद्धावस्था में वह नृपति-पद से चिपटे नहीं रहते।'

'नृपति-पद से अब मुझे करना ही क्या है राधागुप्त ?'

'महाराज, आप तो देवता हैं। नृपति मनुष्य होता है। हम मंत्रियों ने निर्णय किया है कि दशरथकुमार को राजप्रतिनिधि नियुक्त किया जाये। राजमाता कांचनमाला हों। युवराज कुणाल तक्षशिला जायें। क्या महाराज इस व्यवस्था से प्रसन्न और सन्तुष्ट होंगे ? हमने सुना है कि महाराज बौद्ध संघ का अधिवेशन आयोजित करने जा रहे हैं। क्या ऐसे समय महाराज को यह व्यवस्था रुचिकर लगेगी ? हम महाराज की इच्छा जानना चाहते हैं।'

'इच्छा तो मेरी भी यही है राधागुप्त। प्रश्न केवल समय का हो सकता है।'

'यदि अनुमति हो तो मैं महाराज को एक विज्ञप्ति करना चाहता हूँ।'

'अवश्य करो राधागुप्त, जो कहना चाहते हो कहो।'

राधागुप्त क्षण-भर असमंजस में पड़ गया। कुणाल को यहाँ से हटाकर तक्षशिला भेजने की बात किस रूप में कहे। तिष्यरक्षिता के प्रेमोन्माद का उल्लेख करना तो साँप की बाँबी में हाथ डालना था। राजपरिवार में संघर्ष छिड़ जाता और कुणाल उसी समय प्रव्रज्या ले लेता। मगध की महान परम्परा के विलुप्त हो जाने की आशंका के रूप में ही इस तथ्य को प्रस्तुत करना उसे उचित प्रतीत हुआ। उसने हाथ जोड़कर कहा—महाराज, मैं अपने-आपको अधिक महत्व नहीं दे रहा। मेरे जीने-मरने से मगध का बाल भी बाँका न

होगा। लेकिन यदि भगवान कौटिल्य-द्वारा प्रवर्तित राजनीति नहीं रही. मगध-वंश नहीं रहा, मगध की परम्परा नहीं रही तो भारतवर्ष की अपार हानि होगी। उस क्षति की पूर्ति शत-सहस्र वर्षों में भी न होने पायेगी। मौर्यवंश ने ताम्रलिप्ति और ताम्रपर्णी से लेकर ठेठ काश्मीर, यौन और पार्शव देश तक सब लोग समझ सकें ऐसी एक भाषा की नींव डाली है। एक चक्रवर्ती शासन-सत्ता के अन्तर्गत सभी छोटे-बड़े शासकीय दलों को सम्पुजित कर दिया है। इसी वंश ने इतिहास में पहली बार धर्मानुशासन का प्रवर्तन किया है। आज मगध की गणना विश्व-शक्ति के रूप में की जाने लगी है और इधर चीन और उधर बेबीलोन तक के लोग इस देश की यात्रा करना अपना सौभाग्य समझने लगे हैं। यह सारी महानता यों चुटकी बजाते नष्ट हो जायेगी यदि मौर्यकुल का कोई वंशज मगध की शासन-सत्ता को दृढ़ हाथों से सँभालने के लिए आगे न आया, यदि कुणालकुमार अब एक क्षण भी यहाँ रहे....

'ऐसा क्या हो गया है राधागुप्त ? मुझे तो कोई कारण दिखाई नहीं देता।'

'महाराज, कुणालकुमार को अब शासन का भार उठा ही लेना चाहिए। नहीं तो जो गति महेन्द्रकुमार और तिष्यकुमार आदि की हुई वही इनकी भी हो जायेगी। यदि इन्होंने भी प्रव्रज्या ले ली, तो महाराज ही बतायें, शासन करने के लिए कौन रह जायेगा ?'

'तुम व्यर्थ ही डर रहे हो राधागुप्त। यदि ऐसा हो ही जाय तो हम तो उसे देश का महान सौभाग्य समझेंगे। सच्चे राजा का सच्चा साधु होना देश के लिए वरदान ही होगा। संयोग से कुणाल में ये दोनो ही गुण विद्यमान हैं। वह अच्छा राजा होने के साथ ही साथ अच्छा साधु भी बन सकता है।'

'महाराज, धर्म में प्रीति रखना और धर्म-शासन करना दोनों अलग-अलग बातें हैं। शासन धर्म से चलता है, धर्म से ही शासन किया जाता है, परन्तु सच्चा राजा वही है, जिसका अपना कोई धर्म नहीं होता। समस्त प्रजाजनों के सभी धर्म उसके अपने धर्म होते हैं। जिस प्रकार राज्य का कोई धर्म नहीं उसी प्रकार राजा का भी कोई धर्म नहीं होता। राजा और राज्य दोनो ही धर्म-निरपेक्ष होते हैं....लेकिन अभी इस लम्बी चर्चा का अवकाश नहीं है। मुझे तो संक्षेप में अपनी बात आपसे कहनी है। मैं और मेरा परिवार शत-शत वर्षों

से मौर्यों का दास रहा आया है। मौर्यों का नमक मेरे रक्त के कण-कण में भिदा हुआ है। यदि मौर्यवंश का विनिपात हुआ तो मेरे लिए जलसमाधि के अतिरिक्त कोई गति नहीं है। यदि मौर्यवंश का एक नन्हा-सा बालक भी अकाल काल-कवलित हुआ तो विषपान ही मेरे लिए एक मार्ग रह जाता है। मंत्री होने के नाते मेरा यही धर्म है महाराज। मैं दोनो हाथ जोड़कर महाराज से अपने मंत्री-धर्म की रक्षा किये जाने की याचना करता हूँ। यदि मैंने अपने कर्तव्यपालन में कहीं भी भूल की हो, असावधानी बरती हो तो महाराज बतायें और मैं यहीं, महाराज के समक्ष, संन्यास ले लूँगा। बाकी मेरा निवेदन यही है कि जैसे ही चन्द्रगुप्त-सभा आदेश दे कुणालकुमार को यहाँ से तत्काल विदा हो जाना होगा। मंत्रियों का यही निर्णय है महाराज। महाराज भी उन्हें मुक्त मन अनुमति प्रदान करें। सेनापति हिमवन्त भी कुणालकुमार के रक्षणार्थ साथ जायेंगे....'

'लेकिन ऐसी जल्दी क्या है राधागुप्त?'

'कारण कई हैं महाराज। लेकिन महाराज ऐसा ही समझ लें कि कोई कारण नहीं है। केवल मेरी बात का विश्वास किया जाये।'

'हाँ, महाराज! राधागुप्त का कथन यथार्थ ही है।' खल्लाटक ने राधागुप्त का समर्थन करते हुए कहा, 'यह कार्य यदि आज नहीं किया गया तो भविष्य में कभी भी नहीं किया जा सकेगा। कुणालकुमार के तत्काल तक्षशिला जाने से ही परम्परा की रक्षा हो सकती है। हमारे समय में साम्राज्य की सुरक्षा का निर्णय युद्ध से होता था। अब समय बदल गया है। कुणालकुमार अविलम्ब जाकर तक्षशिला का शासन-भार नहीं सँभाल लेते तो मगध टिक नहीं सकता।'

महाराज कुछ बोले नहीं, विचारमग्न हो गये। वह इतना तो समझ ही गये कि कोई ऐसी बात अवश्य है जिसे कहना चाहकर भी ये मंत्री कह नहीं पा रहे हैं। थोड़ी देर सोचते रहने के बाद उन्होंने कहा—महामंत्री, महामात्य! जैसा आप लोग चाहते हैं वैसा ही होगा। परन्तु हमें तो इसमें भविष्य अन्धकारमय दिखाई देता है। तक्षशिला के विद्रोह का कारण केवल प्रजा का भ्रम है। लोगों की यह भ्रान्त धारणा हो गयी है कि हम राजधानी से इतनी दूर हैं और कोई हमारी बात पूछनेवाला नहीं। इसी लिए तो हम काश्मीर में

पंचशत स्तूपों का निर्माण करवा रहे हैं और धर्म-घोषणा के लिए स्वयं वहाँ जाने को प्रस्तुत हुए हैं।

'यह भी होता रहे महाराज ! लेकिन यदि लोगों की यह धारणा बद्धमूल हो गयी कि शासकों में सभी धर्म-घोषणा करानेवाले हैं, शासन करनेवाला कोई भी नहीं, तो उसका परिणाम बड़ा ही भयंकर होगा। इसी लिए यह आवश्यक है कि महाराज कुणालकुमार को वहाँ जाने की अनुमति प्रदान करें। वह वहाँ धर्म-घोषणा भी करेंगे।'

'हम तो अनुमति दे देंगे, लेकिन भदन्त उपगुप्त को यह सब अच्छा नहीं लगेगा। वैसे अच्छा तो स्वयं हमें भी नहीं लग रहा। भय का शासन देवानां-प्रिय को जरा भी अच्छा नहीं लगता। युद्ध का तो सर्वथा अन्त ही हो जाना चाहिए।'

'तो युद्ध हमें करना ही कहाँ है देव ! समझने की बात यह है कि शान्ति के लिए हम कहीं इतना न झुक जायें कि अपने व्यक्तित्व का ही लोप कर दें। अपने मूर्खतापूर्ण आदर्शों के कारण जो प्रजा का विनाश करता है वह अक्षम्य अपराधी है। मूर्खतापूर्ण आदर्शोंवाले ऐसे मूर्ख के लिए शासन में कोई स्थान नहीं होता, न होना ही चाहिए। महाराज कुणालकुमार को तक्षशिला जाने की अनुमति प्रदान करें। वह युवराज हैं। उन्हें तक्षशिला जाना ही होगा। महाराज भूले न होंगे कि एक बार स्वयं उन्हें भी जाना पड़ा था।'

'तुम्हारा आग्रह है राधागुप्त, तो भले ही जाये, परन्तु मुझे भविष्य अन्धकार-मय दिखाई दे रहा है।'

राधागुप्त ने इस बात का कोई उत्तर नहीं दिया। थोड़ी देर वह चुप लगाये कुछ सोचता रहा, फिर सहसा कुछ याद आ गया हो इस प्रकार बोला—महाराज, एक विज्ञप्ति और भी है। महाराज कुणालकुमार को यहाँ से जो भी सन्देश भेजें उस पर अपनी दन्तमुद्रा लगाकर ही भेजें। केवल राजमुद्रा लगाकर भेजना सुरक्षित न होगा। किसी भी प्रादेशिक का मन इतना बड़ा राज्य हस्त-गत करने के लिए ललच सकता है। महाराज के नाम पर कोई भी अवांछ-नीय आदेश भेजकर अव्यवस्था उत्पन्न कर सकता है। इसलिए महाराज का कोई आदेश, कोई सन्देश कुणालकुमार के पास दन्तमुद्रा के बिना नहीं जाना

चाहिए। और ऐसे प्रत्येक आदेश का कुणालकुमार को धर्मादेश की भाँति पालन करना चाहिए।

महाराज अशोक खिलखिलाकर हँस पड़े, बोले—राधागुप्त तुम शत-प्रतिशत भगवान कौटिल्य के शिष्य हो। तुम्हें किसी पर रंचमात्र भी विश्वास नहीं। और हमारा किसी पर अविश्वास नहीं। अविश्वास है तो केवल युद्ध पर। लेकिन ठीक है, जैसा तुम कह रहे हो वही होगा। बिना दन्तमुद्रा के कुणाल को कोई सन्देश नहीं भेजा जायगा। अब मुझे भी एक बात कहनी है। तुम्हें पता तो होगा ही कि शतकोटि कार्षापण दान किये बिना मैं अनृण्ये नहीं हो सकता।

राधागुप्त तो हिचकिचाया परन्तु खल्लाटक ने तत्परता से कहा—महाराज अनृण्ये होने के लिए जो भी कर रहे हैं और आगे करना चाहेंगे उसमें कोई बाधा नहीं पहुँचाई जायेगी।

सारा वार्तालाप सुनकर तिष्यरक्षिता की तो जैसे देह ही फुँक गयी। उसका बस चलता तो राधागुप्त का वहीं गला घोंट देती। मूल बात कहे बिना भी उस दुष्ट ने बहुत कुछ कह दिया था। जिस कुणाल को वह अपने से एक क्षण भी विलग नहीं करना चाहती थी, कर नहीं सकती थी उसी को ठेठ तक्षशिला भेजने की सारी तैयारियाँ पूरी हो गयी थीं। ठीक है, वह भी इस बात का उचित उत्तर देगी। देखें किसकी मजाल है कि कुणाल को यहाँ से भेजे। अब कुणाल यहाँ से कदापि नहीं जाने पायेगा। तिष्यरक्षिता सभी मर्यादाओं और आदर्शों को तोड़ फेंकेगी। रूप सदा से विजयी हुआ है और इस बार भी होगा। जिस दिन रूप विजयी न होगा उस दिन यह पृथ्वी हो जायेगी निर्जीव शिला-खंड। हुँ! मेरे रहते वह छोकड़ा होगा राजप्रतिनिधि और उसकी मा होगी राजमाता! पर मुझे इससे मतलब ही क्या? कुणाल मेरा रहे, बस इससे अधिक मुझे और कुछ नहीं चाहिए।

लेकिन बहुत विचार करने पर भी एक बात उसकी समझ में नहीं आ रही थी। राधागुप्त ने दन्तमुद्रा का इतना आग्रह क्यों किया?

उसी समय उसने खल्लाटक और राधागुप्त को विदा होते देखा। वह भी चुपके से नीचे उतरी और बाहर खिसक आयी।

बाहर आकर राधागुप्त ने खल्लाटक से कहा—महामंत्रीश्वर, आपने महाराज

को शतकोटि कार्षापण का वचन तो दे दिया लेकिन देंगे कहाँ से ?

'देना है ही किसे ?'

'क्यों, अभी वचन जो दिया है ?'

'वचन दिया है। वचन रहेगा भी, लेकिन हम तो सर्वेसर्वा नहीं हैं। हमारे ऊपर भी चन्द्रगुप्त सभा है, राजप्रतिनिधि दशरथकुमार हैं। महाराज को अब उन्हीं से पूछना होगा। नहीं तो चन्द्रगुप्त-सभा को पुनर्जीवित करने से लाभ ही क्या ?'

राधागुप्त को पहली बार यह विश्वास हुआ कि महाराज अशोक का समय अब पूरा हो गया है।

३० : : चन्द्रगुप्त-सभा

जब तिष्यरक्षिता महाराज के कक्ष में आयी तो वह अकेले और गहन विचारों में निमग्न थे। आते ही उसने कहा—महाराज, आज तो मैंने आपकी बात रख ली लेकिन आगे से यदि किसी ने इस कक्ष में प्रवेश किया तो यवनियाँ उसे निकाल बाहर करेंगी। मैं प्रण करती हूँ कि यदि मेरी सेवा-टहल से आप स्वस्थ न हुए तो भिक्षुणी-संघ में चली जाऊँगी। आगे से मंत्री-सेनापति किसी को यहाँ नहीं आने दिया जायेगा। महाराज राजप्रतिनिधि नियुक्त कर दें तो यह सारी झंझट ही समाप्त हो जाये।

'चन्द्रगुप्त-सभा का अधिवेशन इसी लिए तो आयोजित किया जा रहा है देवि ! यह काम हो जाये, हम कुछ स्वास्थ्य-लाभ कर लें तो फिर हमें काश्मीर जाना है। वहाँ पचशत स्तूपों का निर्माण करवाना है।'

'राधागुप्त को ऐसा क्या काम था ? उसे तो महाराज की शान्ति-नीति में जरा भी विश्वास नहीं। राजनीति-कूटनीति का कुछ जोड़-तोड़ मिलाना चाहता होगा।'

'हाँ देवि, कुछ ऐसी ही बात थी। वह चाहता है कि कुणालकुमार को शासन-कार्यों में दीक्षित किया जाये।'

'ऐसी ही बात उसने एक बार पहले भी कही थी महाराज ! उसके आग्रह को मानकर क्या आपने युवराज कुणाल को तक्षशिला भेजना स्वीकार तो नहीं

कर लिया ? भदन्त उपगुप्त तो कह रहे थे कि वह स्वयं कुणाल को अपने साथ ले जायेंगे ।'

'इस सम्बन्ध में अन्तिम निर्णय तो चन्द्रगुप्त-सभा ही करेगी । परम्परा यही है । हमें उस परम्परा का मान रखना ही होगा । दो दिन पहले या दो दिन बाद हमें भी तो उस ओर जाना है । यदि कुणाल कुछ पहले ही चला जाये तो हानि क्या है ?'

तिष्यरक्षिता ने इस समय चुप रहना ही ठीक समझा । इतना तो वह जान ही गयी थी कि चन्द्रगुप्त-सभा क्या निर्णय करेगी । ठीक है, करे चन्द्रगुप्त-सभा निर्णय, दें महाराज आदेश, करे कुणाल जाने की तैयारी । उसका काम बाद में ही आरम्भ होगा । अपने रूप-सौन्दर्य पर उसे पूर्ण विश्वास था और वह जानती थी कि ऐसे रूप के आगे टिका रहनेवाला धरती पर शायद ही जन्मा होगा । कुणाल के मन को वह टटोल चुकी थी और ऐसा मानती थी कि केवल अपनी ओर से आरम्भ करने की देर है । क्या वह इस रूप की अवहेलना कर सकेगी ? उसने सामने की स्फटिक भित्ति में अपना रूप देखा । अपने सौन्दर्य पर वह स्वयं ही मुग्ध हो गयी । नहीं, ऐसा कोई जितेन्द्रिय नहीं है, जो इस सुन्दरता की अवहेलना कर सके । और यदि यह रूप कुणाल को भी न मोह सका तो उसे राग-रंग छोड़कर भिक्षुणी ही बन जाना चाहिए । जिस नारी का रूप विजय प्राप्त न कर सके वह पराजित सेनापति की भाँति है । पराजित सेनापति के लिए केवल एक ही मार्ग है—जलसमाधि; पराजित सौन्दर्य के लिए भी केवल एक ही मार्ग है—काषाय वस्त्र !

वह इन्हीं विचारों में तल्लीन थी कि उसे चन्द्रगुप्त-सभा के अधिवेशन की घोषणा पुनः सुनाई दी । राधागुप्त लगातार घोषणाएँ करवा रहा था । इसका स्पष्ट अर्थ यह था कि वह अपने निश्चय को पूरा करके रहेगा । करे वह अपने मन की । तिष्यरक्षिता भी अपने मन की करके रहेगी । उसे तो कुणालकुमार चाहिए, फिर इससे कोई मतलब नहीं कि वह कौन है—मगधपति या युवराज या प्रादेशिक ! वह तो केवल मात्र नारी थी—रसप्यासी, रूपप्यासी, रोम-रोम में अपरूप सौन्दर्य-भरी, समर्पणमयी केवल नारी, जो अपने युग्म को खोजने निकली थी और जो उसे कुणाल के रूप में मिल गया था । वह इन्हीं

विचारों में मग्न रहने लगी थी कि कुणाल के सौन्दर्य के साथ उसका अपना सौन्दर्य एकाकार हो सके तो वह विश्व के लिए कितना महान वरदान होगा।

*

नियत समय पर चन्द्रगुप्त-सभा का अधिवेशन आरम्भ हुआ। उसमें सम्मिलित होने के लिए आन्ध्र का प्रदेशपति सीमुक आया था। सौराष्ट्र से राज्जुक तुषाश्व भी आया था। उज्जयिनी से आर्यपुत्र आया था। कलिंग से भी किसी के आने की खबर थी, जो अभी तक पहुँच नहीं पाया था और ऐसा सोचा जाता था कि अब शायद ही पहुँच पाये। महाराज अशोक के पितामह के समय की अमात्य-परिषद् एक बार फिर जीवित हो उठी थी। पाँच सौ अमात्य वहाँ आये थे। वृद्ध महामंत्री खल्लाटक तो था ही। सेनापति हिमवन्त भी था। राधागुप्त को मंत्रधर का कार्य सौंपा गया था। चन्द्रगुप्त-सभा का अधिवेशन कुछ इस शान-शौकत से आरम्भ हो रहा था कि देखनेवालों की आँखों के आगे मगध का पुरातन युग सजीव हो उठा।

सभी अमात्य और मंत्री आ गये थे। चारों ओर शान्ति छा गयी थी। तब युवराज कुणाल आता दिखाई दिया। जब कोई आने को शेष न रहा तो महाराज अशोक भी आये। उनके पीछे-पीछे तिष्यरक्षिता भी अपनी स्वर्ण शिविका में बैठकर रानी के दर्प से आयी। परन्तु उसे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि अधिवेशन में सम्मिलित होनेवाले एक भी व्यक्ति के मुँह पर कोई निश्चयात्मक भाव नहीं था। सभी 'क्या कहना होगा, क्या करना होगा' की दुविधा में पड़े हुए थे।

महाराज अशोक अपने लिए निर्दिष्ट आसन पर बैठ गये। उनके सिंहासन के समीप एक आठ-दस वर्ष का कोमलमति किशोर बैठा हुआ था। प्रसंग के अनुरूप वह गम्भीर था और चुपचाप बैठा हुआ था। उसके नन्हे-से हाथ में एक कृपाण थी। आज वर्षों बाद पहली बार महाराज के सिंहासन के पास कृपाण दिखाई दे रही थी। कांचनमाला वहाँ, समीप ही बैठी हुई उस किशोर को उपस्थित जनों का परिचय दे रही थी। राधागुप्त उनसे कुछ दूर इस तरह बैठा था मानो दोनो का सूत्र-संचालक और पथ-प्रदर्शक वही हो।

ठीक समय पर घंटाघोष हुआ। घंटे की गूँज अभी प्रतिध्वनित हो ही

रही थी कि चन्द्रगुप्त-सभा का प्रतिवेदक रणायु खड़ा हुआ और अपने प्रशस्त उच्च स्वर में बोला—परिषद् के सम्माननीय पौरजानपदो! महाराज चन्द्रगुप्त के समय से सतत चली आती परिपाटी के अनुसार आज चन्द्रगुप्त-सभा का अधिवेशन आरम्भ होता है। महाराज ने अपनी वृद्धावस्था के कारण महत्व-पूर्ण राजकीय और शासकीय निर्णयों के लिए यह अधिवेशन आयोजित किया है। अस्वस्थ होते हुए भी महाराज का पदार्पण इस बात का द्योतक है कि वह चन्द्रगुप्त-सभा का कितना सम्मान करते हैं। यहाँ मंत्रिगण द्वारा जो भी निर्णय विज्ञापित होंगे मंत्रधर राधागुप्त उन निर्णयों की सूचना महाराज को प्रदान करेंगे। अनुमति प्राप्त होते ही सभा की कार्यवाही इस प्रकार चलाई जायेगी—महामंत्री खल्लाटक मंत्रिगण का निर्णय आपके सम्मुख प्रस्तुत करेंगे। आप अपनी इच्छानुसार अपना छन्द (मत) व्यक्त करेंगे। लाल शलाका अनुमति की सूचक है। श्याम शलाका विरोध प्रदर्शन के लिए है। शलाकापुरुष आपके पास आयेगा। आप अपनी इच्छानुसार लाल अथवा श्याम शलाका ग्रहण करें। फिर सभी शलाकाएँ संगृहीत की जायेंगी। गणक अपना निर्णय देंगे। वही निर्णय परिषद् का निर्णय समझा जायेगा। मंत्रधर महाराज को उस निर्णय से अवगत करेगा। महाराज की अनुमति प्राप्त होते ही कार्यपुरुष तदनुसार अन्तिम निर्णय कर उसे घोषित करेंगे। अब वयोवृद्ध महामंत्री खल्लाटक अपनी विज्ञप्ति प्रस्तुत करने के लिए महाराज के सिंहसान के सम्मुख उपस्थित हों। सभी पौरजानपद शान्तिपूर्वक महामंत्रीश्वर की विज्ञप्ति सुनें और यथा विवेक उस पर अपना निर्णय प्रदान करें।

परिषद्-प्रतिवेदक के बैठते ही वृद्ध महामंत्री खल्लाटक अपने स्थान से उठकर आगे आया। लोगों के दिलों में उसके पुराने कार्यों की स्मृति अब भी सजीव थी। जब महाराज अशोक उग्र और प्रचंड थे और कोई उनके सामने खड़ा होने का साहस नहीं कर सकता था उस समय अकेला एक यही मंत्री था, जिसने सुमनकुमार का समर्थन किया था और उसके बाद उसके पुत्र न्यग्रोध को भी मगधपति बनाने का प्रयत्न करता रहा था। यदि न्यग्रोध साधु न बन जाता तो आज वही मगधपति होता। खल्लाटक के सम्बन्ध में ऐसी कई बातें लोग आज भी नहीं भूले थे।

खल्लाटक ने महाराज के सिंहासन के सामने आकर उन्हें प्रणाम किया। अमात्य-परिषद् की हाथ जोड़कर वन्दना की। कांचनमाला और दशरथकुमार की ओर उसने केवल थोड़ा-सा सिर झुका दिया। फिर उसने बोलना आरम्भ किया। वृद्धावस्था के रहते भी उसका स्वर स्पष्ट, उच्च, प्रशस्त और आत्म-विश्वास से पूर्ण था। जीवन के अन्तिम वर्षों में भी मगध की सेवा कर पाने के सन्तोष ने उसकी वाणी को भरा-पूरा कर दिया था।

उसने कहा—पौरजानपदो, महाराज अशोक वृद्ध हैं, अस्वस्थ हैं। इस समय किसी को शासन-सत्ता सँभालने के लिए राजप्रतिनिधि के रूप में आगे आना चाहिए। परम्परा यह है कि युवराज तक्षशिला का शासन-भार सँभालें। इस परिपाटी का महत्व यदि आप तक्षशिला के भूतकाल पर दृष्टि डालें तो स्पष्ट हो जाता है। वहाँ के अभी तक के इतिहास से आप परिचित हैं। वहाँ का भूगोल भी आप जानते हैं। विदेशी आक्रमणकारियों की दृष्टि में उस प्रदेश का कितना महत्व है, यह भी आपसे छिपा हुआ नहीं। महाराज देव-पुरुष हैं, विश्वविजेता हैं। महाराज की धर्म-घोषणाओं ने एक नये ही वातावरण का निर्माण किया है। लेकिन कहीं कोई यह न मान बैठे कि दूर-दूर के सीमावर्ती प्रदेशों का शासन करनेवाला अब बचा ही नहीं; इसलिए युवराज कुणाल का वहाँ तत्काल जाना आवश्यक हो गया है। मैं तत्काल इसलिए कह रहा हूँ कि साम्राज्य के समस्त प्रदेशों में धर्म-घोषणाओं का जहाँ अनुकूल प्रभाव हुआ है वहीं कुछ प्रतिकूल प्रभाव भी पड़ा है। दुर्जन, शठ और अपराधी मनोवृत्तिवाले दुष्ट लोग ऐसा मानने लगे हैं कि मगध से कभी सेना भेजी जाती रही होगी, अब तो वह जमाना बीत ही गया....

'बीत तो गया ही है खल्लाटक! शान्ति ही मगध की घोषित राजनीति है। मेरे पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र सभी उसी का अनुसरण करें।' महाराज अशोक ने कहा।

'महाराज का कथन यथार्थ ही है। शान्ति ही मगध की राजनीति है, सभी इस बात को जानते और मानते है। महाराज के अद्भुत व्यक्तित्व ने इस बात को सम्भव कर दिखाया है। भारत मे ऐसा एक भी प्रदेश नहीं है जो मगध-पति की शान्ति-नीति का समर्थक और पालन करनेवाला न हो। लेकिन अति-

विश्वास कहीं हमें गहनगर्त में न फेंक दे, इसलिए इतने उदार और उच्चादर्शों के रहते हुए भी हम अपनी सेना को तक्षशिला भेज रहे हैं। उसका नेतृत्व सेनापति हिमवन्त करेंगे। युवराज कुणाल तक्षशिला के कुमारामात्य होंगे। पौर-जानपद इस प्रस्ताव को स्वीकार करते हों तो अपना छन्द समर्थन में, अस्वीकार करते हों तो अपना छन्द विरोध में दें। छन्द देने में आप स्वतन्त्र हैं। छन्द दे चुकने के बाद निर्णय जो भी हो वह आपका निर्णय होगा, चाहे छन्द आपका उसके अनुसार रहा हो या नहीं। अब शलाकापुरुष छन्द एकत्रित करें। किसी को कुछ कहना हो तो कह सकता है।'

'महाराज ने वर्षों के भगीरथ प्रयत्न से युद्ध-घोषणा बन्द की है, क्या मंत्रीश्वर उसे पुनः प्रारम्भ करना चाहते हैं?' आन्ध्र के प्रदेशपति सीमुक ने खड़े होकर कहा।

सीमुक की विरोध-भावना से राधागुप्त परिचित था। इसलिए उसने खल्लाटक को, जो सीमुक को उत्तर देने जा रहा था, रोककर स्वयं उत्तर दिया—प्रदेश-पति, मगधपति ने युद्ध की नीति का सर्वथा परित्याग कर दिया है, परन्तु युद्ध का नहीं। युद्ध का परित्याग न किया है, न किया जायेगा। जो स्वयं होकर माँगेंगे उन्हें युद्ध दिया जायेगा और विद्युत् वेग से दिया जायेगा। आक्रमण किसी पर नहीं होगा, लेकिन युद्ध सब के लिए है। तक्षशिला के विद्रोह के लिए कुणालकुमार के पास दोनो उत्तर होंगे—धर्म भी, युद्ध भी। तक्षशिला दोनो में जो चाहे चुन ले।

'बराबर है, बिलकुल बराबर है। महामात्य की बात एकदम विवेकपूर्ण है। मगध में अब युद्ध की नीति नहीं रही, लेकिन माँगनेवाले के लिए युद्ध अब भी है और वह माँगनेवाले को अवश्य दिया जायेगा। हमारा छन्द महामात्य के लिए है।'

'हमारा भी....'

'और हमारा भी....'

'और हमारा....'

'महामात्य मैं भी यही कहनेवाला था।' प्रदेशपति आर्यपुत्र बोला।

'ऐसी ही नीति हमारे यहाँ भी लाभदायी हो सकती है। धर्म-घोषणाएँ

तो हमने बहुत कीं, अब भी करते रहते हैं, लेकिन व्यवस्था बनाये रखने के लिए कड़े आदेश प्रचारित करना भी आवश्यक हुए हैं।' तुषाश्व ने कहा।

ऐसा लग रहा था कि इस विज्ञप्ति की स्वीकृति के लिए छन्द लेने की आवश्यकता नहीं होगी। पौरजानपद बिना छन्द के ही उसे स्वीकार किये ले रहे थे।

इसके बाद राधागुप्त ने महाराज की ओर मुड़कर कहा—अब महाराज प्रस्ताव करेंगे कि कुणालकुमार के तक्षशिला जाने पर राजप्रतिनिधि कौन हो ! प्रस्ताव बड़ा ही महत्वपूर्ण है। पौरजानपद सावधान होकर महाराज का वक्तव्य सुनें।

सब-कुछ महाराज पर ढोलकर राधागुप्त बैठा गया। तिष्यरक्षिता तिलमिला उठी। वह जानती थी कि होगा वही जो राधागुप्त चाहता है। कोई उसके विरुद्ध जायेगा नहीं।

उधर महाराज की कड़ी अग्नि-परीक्षा थी। राजपरिवार में और तो कोई बचा नहीं था। सभी ने चीवर धारण कर लिये थे। इसलिए महाराज ने कहा—पौरजानपद, मंत्रिगण और प्रदेशपति मेरा वक्तव्य सुनें। युद्ध से शान्ति प्राप्त नहीं होती, शान्ति से ही शान्ति मिलती है। लेकिन मनुष्य के अन्दर से पशुता धीरे-धीरे ही निर्मूल होती है। वातावरण ऐसा बन रहा है। जिस दिन पशुता का पूर्ण लोप हो जायेगा, युद्ध किसी के भी लिए अनिवार्य नहीं रहेगा। उस दिन युद्ध की बात करनेवाला पशु समझा जायेगा। ऐसा वातावरण बनाने और धर्मानुशासन की वृद्धि करने के लिए कुमार दशरथ राजप्रतिनिधि हो सकते हैं, यदि आप सब सहमत हों।

चन्द्रगुप्त-सभा ने उच्च घोषणा के द्वारा इस प्रस्ताव का समर्थन किया। दशरथकुमार के नाम का जयजयकार भी किया गया।

महाराज अशोक ने स्वयं उठकर दशरथ का हाथ पकड़ा और उसे आदरपूर्वक ले जाकर सिंहासन पर बिठाया। चन्द्रगुप्त-सभा के अधिवेशन में उपस्थित सभी लोगों ने एक बार फिर जयजयकार किया और दशरथकुमार की राजप्रतिनिधि-पद पर नियुक्ति हो गयी।

अभी हर्ष-ध्वनि शान्त भी नहीं होने पायी थी कि राधागुप्त पुनः उठकर

खड़ा होता दिखाई दिया। वह सभी बातों का निपटारा ताबड़तोड़ कर लेना चाहता था। उसने कहा—यदि पौरजानपद को स्वीकार हो तो मगध के हित के लिए अपने गार्हस्थ्य जीवन का बलिदान करनेवाली राजमाता कांचनमाला अपने राजप्रतिनिधि शिशु का सदैव पथ-प्रदर्शन करती रहें, अन्यथा कोई विकल्प सुझाया जाये।

'राजमाता कांचनमाला ही इस उत्तरदायित्व को ग्रहण करें।'

'तो महाराज आदेश प्रदान करें कि कुणालकुमार पाटलिपुत्र से विदा हों और चतुरंगिणी सेना का संचालन करें।'

महाराज ने हाथ जोड़कर अनुमति प्रकट की और तब शान्त, मधुर स्वर में बोले—पौरजानपदो, हम वृद्ध हुए। अब परम्परा को आप धारण करें, शासन-सूत्र का संचालन भी आप ही करें। हम तो अनृण्ये होने के लिए धर्म-घोषणाएँ करते हुए सर्वत्र धर्म-यात्राएँ करने के इच्छुक हैं। आपसे हमारा यही कहना है कि युद्ध के देवता को जगायें नहीं। जो उसे जगाता है वह विनाश को आमंत्रित करता है। मनुष्य के लिए युद्ध अनिवार्य नहीं। युद्ध मनुष्य की सृजनात्मक नहीं, विनाशात्मक प्रवृत्ति है....

'इसी लिए तो महाराज, हमने यह मर्यादा स्वीकार की है कि युद्ध भले ही रहे, पर युद्ध की नीति न....' अभी राधागुप्त का कथन समाप्त होने भी नहीं पाया था कि वहाँ एक सशस्त्र यवनी आती दिखाई दी। वेश-भूषा से वह तक्षशिला की ओर की प्रतीत होती थी। उसके शरीर पर लम्बी यात्रा के चिह्न स्पष्ट दिखाई दे रहे थे। सभी चिन्तित हो उठे कि कहीं तक्षशिला के विद्रोह ने उग्र रूप न धारण कर लिया हो।

वह सीधे महाराज के सिंहासन के आगे आकर रुक गयी। महाराज को प्रणामकर उसने अपने हाथ की राजमुद्रा आगे करते हुए कहा—महाराज, मैं तक्षशिला से आ रही हूँ। ईशानदेवी ने मुझे भेजा है।

'ईशानदेवी! कौन ईशानदेवी! वहाँ का प्रदेशपति तो जालौक है न? क्यों राधागुप्त? यह ईशानदेवी कौन है? और उसने क्या सन्देश भेजा है?'

'यह ईशानदेवी जालौक की पत्नी है। उस प्रदेश को नियन्त्रण में रखने में इस ईशानदेवी ने भी अपने पति के साथ बड़ा काम किया है। शक्ति की

उपासिका है और काश्मीर में उसने एक शिव मन्दिर का निर्माण करवाया है।'

'हाँ, याद आ गयी। तो क्या सन्देश है उसका ? लेकिन सन्देश उसने क्यों भेजा ? उसके पति ने क्यों नहीं भेजा ? स्थिति गम्भीर तो नहीं है ?'

यवनी ने आगे बढ़कर सन्देश-मंजूषा महामात्य के हाथों में थमा दी। सारी चन्द्रगुप्त-सभा की आँखें राधागुप्त पर टिक गयीं। सन्देश पढ़ा तो राधागुप्त की चिन्ता का पार न रहा। यवनों ने अपनी आक्रमणात्मक हलचलें आरम्भ कर दी थीं। जालौक काश्मीर के सीमावर्ती प्रदेश में सुरक्षा-प्रबन्धों को दृढ़ करने के लिए पहुँच गया था। ईशानदेवी ने मगध की चतुरंगिणी सेना मँगवाते हुए लिखा था कि किसी राजपुरुष को उसके साथ आना चाहिए; जब तक आक्रमणकारियों को, और काश्मीर तथा तक्षशिला के निवासियों को भी, यह विश्वास नहीं हो जाता कि शान्ति-नीति का समर्थक होते हुए भी, मगध युद्ध कर सकता है, तब तक न आक्रमणकारी चुप होंगे और न तक्षशिला का विद्रोह शान्त किया जा सकेगा। उसके सन्देश के अन्तिम शब्द थे, "आक्रमणकारी केवल हथियार की भाषा समझते हैं, और किसी भाषा का ज्ञान उन्हें नहीं होता। समझ उन्हें युद्ध से आती है, प्रीति भय से उत्पन्न होती है, ज्ञान वह मार खाकर ही सीखते हैं। इसलिए आवश्यक है, नितान्त आवश्यक है कि मगध की चतुरंगिणी सेना यहाँ तत्काल पहुँच जाये। यदि नहीं पहुँच सकती तो स्वयं हमीं इस प्रदेश को सँभालेंगे।"

ईशानदेवी के इन्हीं शब्दों ने राधागुप्त को चिन्तित कर दिया था। अपने प्रदेश को अपना सार्वभौम राज्य समझकर उसकी रक्षा और व्यवस्था करने की इस तरह की भावना प्रायः सभी प्रदेशपतियों के मन में थी। चन्द्रगुप्त-सभा के इसी अधिवेशन में कई प्रदेशपति आये हुए थे। उनके मन में भी यही बात थी। यदि उन्हें यह बात मालूम हो गयी तो जिस अनुकूल अवसर की प्रतीक्षा कर रहे थे उसे आया जान उत्साहित हो उठेंगे। अब तो कुणालकुमार को अविलम्ब तक्षशिला जाना ही चाहिए। लेकिन कुणाल कुछ कर भी पायेगा ? वहाँ ईशानदेवी है, जो देर-अबेर अपने स्वतन्त्र प्रदेश की रानी बनना चाहती है, उसका पति जालौक है। यहाँ तिष्यरक्षिता है। उसने कांचन-

माला की ओर देखा। तेजस्विता तो इस नारी में भी ईशानदेवी अथवा तिष्यरक्षिता से कम नहीं, लेकिन अभी धर्म और शान्ति के अतिरेक के कारण राख चढ़े अंगारे की भाँति पड़ी हुई है। महाराज से कोई आशा की ही नहीं जा सकती। कुणाल कभी स्वतन्त्र निर्णय नहीं कर पाता। दशरथ अभी बच्चा है। मगध को बचानेवाला यहाँ कोई नहीं। वह निराश हो गया, परन्तु दूसरे ही क्षण उसने मन को दृढ़ किया। राजवंश में मगध को बचानेवाला कोई नहीं है तो वह स्वयं ही मगध की रक्षा करेगा। यह क्षण निराश होने का नहीं स्वयं आशा से अनुप्राणित होने और दूसरों को आशान्वित करने का है।

वह चन्द्रगुप्त-सभा की ओर मुड़ा और सभी को सम्बोधित कर बोला—पौरजानपदो, सन्देश तक्षशिला से आया है। महाराज के लिए है। हमने अभी जो निर्णय किया है यह सन्देश उसी का समर्थन और पुष्टि करता है। तक्षशिला के प्रदेशपति जालौक मगध की चतुरंगिणी सेना की प्रतीक्षा कर रहे हैं। इस सम्बन्ध में मेरी यही विज्ञप्ति है कि कुणालकुमार को वहाँ भेजने का हमारा निर्णय अविलम्ब कार्यान्वित किया जाना चाहिए। परिवर्तन तो उसमें बिलकुल ही नहीं होना चाहिए।

'क्या किसी ने आक्रमण किया है राधागुप्त? बात क्या है? क्या सेल्यूकस का पौत्र आगे तो नहीं बढ़ रहा?' महाराज अशोक ने पूछा। वह कुणाल को साधु-संघ के साथ भेजने और स्वयं भी वहाँ जाने का विचार कर रहे थे।

राधागुप्त ने प्रत्युत्तर दिया—जी नहीं! न किसी ने आक्रमण किया है और न कोई आगे बढ़ रहा है। परन्तु कुछ नासमझ ऐसे भी हैं जो महाराज की धर्म-घोषणाओं को समझ नहीं पा रहे। कुणालकुमार जाकर उन्हें समझा दें। बस बात इतनी-सी है। महाराज अनुमति प्रदान करें तो कुणालकुमार तत्काल तक्षशिला के लिए चतुरंगिणी सेना लेकर चल पड़ें; सेनापति हिमवन्त को भी अपने साथ लेते जायें। चन्द्रगुप्त-सभा निर्णय कर ही चुकी है। केवल महाराज की अनुमति मिलने की देर है।

सारी चन्द्रगुप्त-सभा राधागुप्त की दूरदर्शिता पर मन-ही-मन वाह-वाह कर उठी। उसने सत्य ही कहा था। यदि मगध से चतुरंगिणी सेना ने प्रस्थान नहीं किया तो सभी प्रदेशपति स्वतन्त्र हो जायेंगे। परन्तु महाराज अशोक को

राधागुप्त की यह जल्दबाजी अच्छी नहीं लग रही थी। वह कुणाल को साधु उपगुप्त के साथ भेजना और स्वयं भी साथ जाना चाहते थे। लेकिन तक्षशिला से सन्देश आने पर यह देखकर कि ऐसा हो न सकेगा, वह कुछ निराश हो गये।

राधागुप्त की तीक्ष्ण, सतर्क दृष्टि से महाराज का यह मनोभाव छिपा न रहा। वह किसी प्रकार का संघर्ष नहीं चाहता था, मतभेद भी नहीं रहने देना चाहता था। इसलिए उसने कहा—महाराज की एक अन्तिम इच्छा है, पौरजानपदो, हम उसे समझें। महाराज की घोषणा यह है कि लोग सब धर्मों का जो मूलतत्व है उसे समझें और ग्रहण करें। लेकिन लोगों ने केवल धर्म को पकड़ लिया है और तत्व को छोड़ दिया है। सारा विवाद इसी लिए है। सभी अपने धर्म की प्रशंसा और दूसरे के धर्म की निन्दा करते हैं और यह भूल जाते हैं कि सब धर्मों का मूलतत्व एक ही है। यह तो गाय को छोड़कर उसकी पूँछ पकड़ने-जैसी बात हुई। यह इसी का परिणाम है कि लोगों ने भगवान तथागत के शान्ति-सन्देश को भी विवाद का विषय बना डाला है। इसी लिए महाराज ने एक नया सन्देश सर्वत्र भेजने का निश्चय किया है। भदन्त माध्यमिक उस सन्देश को यहाँ पढ़कर सुनायेंगे। सभी सावधान होकर सुनें। बौद्ध-संघ में लेशमात्र भी मतभेद और कलह न रहे, यह महाराज की हार्दिक अभिलाषा है।

राधागुप्त के इस नये प्रस्ताव को सुनकर सभी को आश्चर्य हुआ। चन्द्रगुप्ता-सभा का एक भी सदस्य इस प्रस्ताव को समझ न सका। आज तक कभी इस तरह की बात चन्द्रगुप्त-सभा के आगे आयी नहीं थी। महाराज को भी कुछ कम आश्चर्य न हुआ और महामंत्री खल्लाटक की तो कुछ भी समझ में न आया। परन्तु राधागुप्त का इस बात में दुहरा हेतु था। एक तो वह महाराज का ध्यान राजनीति से हटाकर धर्मनीति पर केन्द्रित करना चाहता था, जिससे वह कुणाल के भेजे जाने पर मन में भी कोई आपत्ति न करें और दूसरे उनका भावी कार्यक्रम चन्द्रगुप्त-सभा की जानकारी के बाहर न रहने पाये।

बौद्ध-संघों में भगवान तथागत के वचनों को लेकर बड़ा विवाद मचा हुआ था। हर कोई बुद्धवचन का मनमाना अर्थ करता था। इस अन्धाधुन्धी को मिटाने के लिए साधु उपगुप्त की प्रेरणा से भारतवर्ष और भारत के बाहर के भी बौद्ध भिक्षुओं का एक विराट् सम्मेलन महाराज अशोक ने आयोजित किया

अशोक की शासन-धुरा को स्वयं धारण करें और महाराज को उस सभा में शान्तिपूर्वक सम्मिलित होने का अवसर प्रदान करें। भिक्खु-संघ केवल इतना ही चाहता है। महाराज अशोक की जय हो !

सब ने खड़े होकर गगनभेदी स्वर में महाराज अशोक का जयजयकार किया।

२१ :: पराजित सौन्दर्य

चन्द्रगुप्त-सभा का सफल अधिवेशन राधागुप्त की बहुत बड़ी विजय थी। वहाँ उसने किसी प्रकार का संघर्ष अथवा मतभेद उत्पन्न नहीं होने दिया था। सब काम उसकी इच्छानुसार ही सम्पन्न हुए थे। अब तो कुणाल तक्षशिला चला जाये तो वह गंगा नहाया।

कुणाल के तक्षशिला जाने की तैयारियाँ हो रही थीं। सैनिक हलचल बहुत बढ़ गयी थी। कलिंग से हाथियों की टुकड़ी आ पहुँची थी। नौकाएँ तैयार की जा रही थीं। सेनापति हिमवन्त को दम मारने का अवकाश नहीं था।

कांचनमाला के लिए यह समय कड़ी अग्नि-परीक्षा का था। उसका पति तक्षशिला जा रहा था, परन्तु वह साथ नहीं जा सकती थी। किशोर राज-प्रतिनिधि दशरथ की अभिभावक होने के कारण उसका यहीं रहना अनिवार्य हो गया था।

महाराज अशोक, अधिवेशन की तैयारियों में व्यस्त, अपना अधिकांश समय या तो कुक्कुटाराम में या अशोकाराम में व्यतीत करते थे। राजप्रासाद का आवास उन्होंने बिलकुल छोड़ ही दिया था। परिषद् के प्रचारार्थ उन्होंने क्षिप्रगामी 'यक्षों' को सारे देश में भेजा था, जो भारत के कोने-कोने में बौद्ध साधुओं को पाटलिपुत्र आने का निमन्त्रण देते घूम रहे थे। पीत चीवरधारी भिक्खुओं के दल-के-दल पाटलिपुत्र आने भी लगे थे। आगन्तुकों की अभ्यर्थना और परिषद् की व्यवस्था के लिए हजारों कार्षापण पानी की तरह बहाये जा रहे थे। इस अतिव्यय ने राजकोष खाली कर दिया था। राजभांडारिक, महामात्य, महामंत्री और मंत्रिगण सभी चिन्तित और उद्विग्न थे; परन्तु महाराज को रोकने का कोई उपाय किसी की समझ में नहीं आता था। राधागुप्त यह देख

रहा था कि जब तक कुणाल यहाँ से विदा नहीं हो जाता, अपव्यय की सीमा तक पहुँची हुई महाराज की दानशीलता पर अंकुश नहीं लगाया जा सकता। पितृ-भक्त कुणाल महाराज के किसी भी कार्य पर किसी भी प्रकार का नियन्त्रण सह नहीं सकता था।

तिष्यरक्षिता को न महाराज की इस दानशीलता के कारण कोई चिन्ता थी और न बौद्ध-परिषद् के लिए उनके अपार परिश्रम के प्रति कोई लगाव। वह तो एक कुशल सेनापति की भाँति शत्रु-पक्ष की प्रत्येक गतिविधि को ध्यानपूर्वक देखती हुई आक्रमण के उचित अवसर की प्रतीक्षा कर रही थी। महाराज का राजप्रासाद में न रहना उसके हित में ही था। वह यही चाहती भी थी। रूप ही उसके हाथ में अपनी विजय का अमोघ अस्त्र था। उसे यह विश्वास भी था कि वह अपने इस आयुध का सफलतापूर्वक उपयोग कर सकेगी। अपने शस्त्रास्त्रों को सँवारने और तेज करने का कार्य उसने आरम्भ कर दिया था। वह बार-बार भित्तिदर्पण में अपना रूप निहारती। भौंहों के आकुंचन और नेत्रों के स्फुरण का, अधरोष्ठों की वक्रता और कपोलों के वर्तुलों का घटिकाओं तक अभ्यास करती रहती थी। वह प्रायः सोचती रहती थी कि भगवान ने उसे इतना रूप दिग्विजय के ही लिए तो प्रदान किया है; यह भाग्यनियन्ता का संकेत ही है कि कुणाल और उसका संयोग हो। ऐसे दो अद्वितीय सौन्दर्यों के मिलन से निश्चय ही एक ऐसे मगधपति का जन्म होगा जिसकी समता में कोई ठहर नहीं सकेगा। इतने रूप-सौन्दर्य का निरर्थक जाना उसकी दृष्टि में अभिशाप ही होता।

आकृति की दर्शनीयता और सुडौलता को रूप समझने की भूल प्रायः ही की जाती है। परन्तु सौन्दर्य तो एक भिन्न ही वस्तु है। उसकी तुलना समुद्रमन्थन में उपलब्ध हलाहल से ही की जा सकती है। सौन्दर्य में सृष्टि और विनाश दोनो की सामर्थ्य है। वह सर्वनाश और स्वर्ग दोनो का निर्माण कर सकता है। इतना ओजस्वी सौन्दर्य सैकड़ों-हजारों वर्षों में कभी-कभार ही देखने को मिलता है। ऐसा रूप मिला था क्लिओपाट्रा को और उस रूप ने रोम-साम्राज्य का विध्वंस कर दिया। ऐसा रूप मिला था हेलेन को और उसके कारण यूनान का सर्वनाश हो गया। ऐसा रूप मिला था सीता को और उसके कारण पूरा लंकाकांड

ही हो गया। ऐसा रूप मिला था दमयन्ती को, पद्मिनी को, नूरजहाँ को। जब-जब ऐसा रूप इस धरती पर आया, उसने एक क्रान्ति ही मचा दी। एक रूप-सुन्दरी जहाँ समस्त प्रचलित परम्पराओं को नष्ट-भ्रष्ट कर देती है वहीं समस्त आसुरी शक्तियो को देवत्व में परिवर्तित भी कर सकती है। रूप शक्ति है, रूप सामर्थ्य है, रूप प्रकृति का वरदान है। जो रूप को तुच्छ समझते हैं, जो रूप के निन्दक हैं वे भी इसके आकर्षण से बच नहीं सकते, एक ही वार में घुटने टेक देते हैं, परास्त हो जाते हैं।

तिष्यरक्षिता को ऐसा ही रूप मिला था। अपने इस रूप की शक्ति के प्रति वह सजग थी। अपने रूप को वह अजेय मानती थी। अभी तक उसके रूप के आगे सभी पराजित होते आये थे। कोई अविजित भी रह सकता है, यह मानने को वह कदापि तैयार नहीं थी। अपने इसी रूप से उसने कुणाल को जीतने का निश्चय किया; और जब उसके तक्षशिला जाने की सभी तैयारियाँ पूरी हो गयीं तो वह एक रात अपने आयुध सँभालकर शत्रु के गढ़ पर चढ़ दौड़ी। कोई सेनापति इतने आत्मविश्वास के साथ किसी विजय-यात्रा पर नहीं गया होगा; कोई धर्मात्मा इतनी आस्था से किसी ज्ञान-यात्रा के लिए नहीं निकला होगा; कोई प्रेमी, कोई प्रेमिका इतनी लगन से किसी अभिसार के लिए नहीं चली होगी।

आधीरात का समय था, जब वह सज-सँवरकर अपने सौन्दर्य-भवन से बाहर निकली। उसे अपने नेत्र-कटाक्षों से कटारियों का काम लेना था, इसलिए बारीक-सी कज्जल रेखा से उसने उन पर तीक्ष्ण धार चढ़ा ली थी। कुंकुम बिन्दी की तीक्ष्ण नोक से उसे सामनेवाले का हृदय वेधना था, इसलिए उसने अपनी सारी कला एक छोटी-सी बिन्दी पर खर्च कर दी थी। प्रसाधन ने उसके रूप-सौन्दर्य की सोलहों कलाओं को अन्तिम निखार पर पहुँचा दिया था। अंग-उपांगों की झलक से अपने प्रिय को सम्मोहित करने के लिए उसने झीने, पारदर्शी चीनांशुक का उपवीत धारण किया था। इस प्रकार, सौन्दर्य की दिग्विजय के लिए, अनंग रंग से भरी वह आधीरात में अपने सौन्दर्य-भवन से बाहर निकली।

चारों ओर सन्नाटा था। हवा भी जैसे रुक गयी थी। आकाश स्थिर मालूम पड़ता था। राह-बाट सब बन्द हो गयी थीं। कभी-कभी सन्नाटे को तोड़ता किसी

प्रतिहारी का 'सावधान रहो ! जागते रहो !' शब्द गूँजकर पुनः सन्नाटे में विलीन हो जाता था। दिन में सुनाई पड़ते सभी शब्द और ध्वनियाँ मौन की गोद में सो गयी थीं। एक पत्ता भी नहीं हिल रहा था। तारे भी जैसे टिमटिमाते हुए डरते थे। चारों ओर निःशब्द मौन व्याप्त था—रूपहीन, आकारहीन, रंगहीन। ऐसा लगता था मानो रजनी रानी मौन पदों से संचरण करती नीरव गान गा रही हो। उस गीत की विशेषता यह थी कि बिना सुनाई दिये ही मन भरा-भरा लगने लगता था। वह ध्वनि से परे शब्दातीत नीरव गान मानो विश्व की समस्त शब्द-सम्पदा को अपने में समेटे हुए था। भीरु को भय, निराश को आँसू और आशावान को आश्वासन देनेवाली वह नीरवता निराकार और रूपहीन होते हुए थी प्रेमी हृदयों के लिए सब प्रकार के सौन्दर्य से परिपूर्ण थी। रात के धुँधले आवरण से झाँकता हुआ वह आकार-विहीन सौन्दर्य ऐसा लग रहा था मानो शिशु अपनी समस्त इन्द्रियों को निश्चेष्ट किये मा के झीने अंचल की ओट शान्त सोया पड़ा हो।

अन्धकार से आच्छादित ऐसी नीरव रात अभिसारिकाओं के लिए सदैव आदर्श और काम्य रही है। तिष्यरक्षिता भी अभिसारिका बनी अपने सौन्दर्य-भवन से निकली और महाराज अशोक के राजप्रासाद की ओर चली, जो उसी विशाल उद्यान में, उसके सौन्दर्य-भवन के समीप ही था।

वह कुणाल से मिलने जा रही थी। उसे मालूम था कि आज की रात कुणाल अकेला महाराज के राजमहल में सोया है। प्रायः वह अकेला इस तरह रातें बिताया करता था। तिष्यरक्षिता उसके इस स्वभाव से परिचित थी और आश्चर्य किया करती थी कि वह सन्नाटा-भरी लम्बी रातों में अकेला क्या किया करता है! अधिक-से-अधिक वह यही सोच पाती थी कि कुणाल भिक्खुओं की भाँति ध्यान-धारणा में मग्न रहता होगा। उस नादान को क्या पता था था कि शान्त, नीरव रातों का भी एक सौन्दर्य होता है, जिसे बिरली आँखें ही देख पाती हैं।

वह इस विचार से मन-ही-मन मुदित होती जा रही थी कि आज की रात वह भावी मगधपति का उसकी मगधेश्वरी से मिलन करायेगी, संसार से विरक्त व्यक्ति को प्रेम-रस से आप्लावित कर देगी, भावी की मनोरम कल्पनाएँ और

महान स्वप्न प्रदान करेगी, जो उसके लबालब भरे रूप-कुम्भ से छलके पड़ रहे थे। वह जा रही थी अपने प्रेमी को युग-युगों की सौन्दर्य-तृषा को शान्त करने और स्वयं अपने प्रेम-कलश को प्रियतम के सुधा-रस से भरने।

अपने प्रेम-पाश में आबद्ध कर वह कुणालकुमार को संसार का श्रेष्ठतम नरपति बना देगी। आज वह उसकी सभी दुविधाओं का अन्त कर देगी। कितनी द्विधा है उसके मन में—साधुमना होते हुए भी साधु नहीं बन सकता, राजत्व होते हुए भी राजा नहीं हो सकता, वीरत्व होते हुए भी वीरता का प्रदर्शन नहीं कर सकता! दो डग आगे बढ़ता है तो तीन डग पीछे हट जाता है। दुविधा में पड़ा अपने अनमोल जीवन को नष्ट किये दे रहा है। आज वह उसे निश्चयात्मक कदम उठाना सिखाकर रहेगी।

वह उससे कहेगी—आओ प्रियतम! मेरे प्रेमोदधि में अवगाहन कर स्वर्ग-सुख का अनुभव करो, जिसका एक नन्हा-सा क्षण भी अनन्त जीवनों तक भुलाया न जा सके, ऐसा सौन्दर्योपभोग करो, और उस बूढ़े जर्जर अशोक महाराज को निष्कासित कर स्वयं मगध और मेरे हृदय के सिंहासन पर विराजमान हो!

कुणाल से कहने की ऐसी कितनी ही बातें वह मन-ही-मन गुनती जा रही थी। लेकिन क्या वह कह पायेगी? उसका प्रेमावेग उसे कहने भी देगा? रोम-रोम से गुंजारित होता, अदम्य, उत्कट प्रेम, चक्रवर्ती सम्राट्-जैसा सर्व-सत्ताशाली प्रेम तो निकला था विजय-यात्रा के लिए, कुणाल को प्रेम के बन्धन में बाँधने। इसी लिए तो वह आज बनी थी रूप की रानी, सौन्दर्य की सम्राज्ञी।

वह चलती हुई राजमहल के आगे पहुँची। वहाँ उसे एक भी सशस्त्र यवनी नहीं दिखाई दी। कुणाल अपनी रक्षा के लिए किसी को रखता ही नहीं था। राजा-महाराजा जिन वस्तुओं से डरा करते हैं, उन सब को कुणाल ने तिलांजलि दे दी थी। प्रवेश-द्वार पर उसे महामाया मिली। तिष्यरक्षिता को आधीरात में अकेली वहाँ आयी देख उसके आश्चर्य का पार न रहा। मार्ग देने के लिए प्रणाम कर वह एक ओर हट गयी। अभी महामाया अपना झुका हुआ सिर उठाने भी नहीं पायी थी कि तिष्यरक्षिता आगे बढ़ती हुई आँखों से ओझल हो गयी।

सीढ़ियाँ चढ़ती हुई वह ठेठ सातवें तल्ले पर पहुँच गयी। कुणाल यहीं

कौमुदी-भवन में सो रहा था। यहाँ आकर वह कौमुदी-भवन के प्रांगण में एक क्षण को ठिठकी और उसने अपने चरणों में बिछे हुए पाटलिपुत्र नगर पर एक दृष्टि डाली। चारों ओर गहन निस्तब्धता थी। सारा नगर अन्धकार के आच्छादन में लिपटा हुआ था। कहीं-कहीं टिमटिमाते दीये नीले नभ के सितारों-जैसे मालूम पड़ रहे थे।

फिर उसने दबे पाँव कौमुदी-भवन के अन्दर प्रवेश किया। उस प्रशस्त और विशाल प्रकोष्ठ के एक कोने में केवल एक सुगन्धित दीया जल रहा था। उसके मन्द शीतल प्रकाश में उसने कुणालकुमार को एक विशाल स्वर्ण पर्यंक पर सोते देखा, जो ऐसा लग रहा था मानो सरोवर में राजहंस तैर रहा हो।

तिष्यरक्षिता टक लगाये देखती रही और कुणाल के सौन्दर्य से अभिभूत होती गयी, यहाँ तक कि उसका स्वयं अपने पर कोई वश नहीं रह गया। उसकी दृष्टि कुणाल की मुँदी हुई सुन्दर आँखों पर चिपककर रह गयी। मुँदी हुई होने पर भी वे आँखें कमल की बन्द पँखुड़ियों-जैसी सुन्दर लग रही थीं।

सहसा तिष्यरक्षिता को ऐसा लगा मानो रात का अन्धकार फुसफुसाकर उसका सारा भेद प्रकट किये दे रहा है। वह एकबारगी घबरा उठी। लेकिन दूसरे ही क्षण उसे अपनी भीरुता पर ग्लानि हो आयी। सब विधि-निषेधों को ठुकराती हुई इतनी दूर चलकर सौन्दर्य सरोवर के तट पर पहुँची, पर अवगाहन करते, अन्दर कूदते इतना भय, इतना असमंजस! क्या यही है तेरा प्रेम? इसी बिरते पर घर से निकली थी? चल, आगे बढ़! प्रेम और सौन्दर्य का समुद्र छलक रहा है, आकण्ठ पान कर। अब डर कैसा? लज्जा कैसी? भय क्यों?

वह शीघ्रता से आगे बढ़ी। उसके प्यासे ओठ कुणालकुमार के कमल-नयनों की मुँदी पलकों को चूमने जा ही रहे थे कि वह हठात् रुक गयी, जैसे उसे कोई भूली बात याद आ गयी हो। वह उलटे पाँव लौट पड़ी। नहीं, उसकी प्रेम-केलि का कोई साक्षी नहीं होना चाहिए। इस क्षण उसे प्रकाश नहीं अन्धकार की आवश्यकता थी। वह दीपिका के पास पहुँची। समीप रखे एक पुष्प आच्छादन को उसने दीये के सामने इस तरह रख दिया कि उजाला पर्यंक तक पहुँच न सके।

पर्यंक अन्धकार में डूब गया। वह टटोलती हुई पलंग के पास आयी। अब

उपवीत का व्यवधान कैसा ? झटके से उसने चीनांशुक को उतार फेंका। अन्धकार में भी अपने अंग-उपांगों की सुघड़ता देखकर वह मुस्करा उठी। वासना की तरंगों पर चढ़ी वह आगे बढ़ी और कुणाल के दाहिने पाँव के अँगूठे को धीरे से हिलाकर उत्कट प्रेम-भरे शब्दों में फुसफुसाकर बोली—कुमार ! कुमार ! कुणालकुमार, जागो ! जागो ! यहाँ अन्धकार है और मुझे डर लगता है। जागो कुमार, जागो !

कुणाल गाढ़ निद्रा में मग्न था। वह कुछ सुगबुगाया लेकिन जाग न सका। तिष्यरक्षिता ने अब उसके बाहु का स्पर्श किया, कपाल पर हाथ फिराया, उसके मुँदे हुए मनोरम नयनों को अँगुली से सहलाया और प्रबल आन्तरिक आवेग से अपने बिम्बा ओष्ठ उन पलकों पर रख दिये और एक क्षण रस-विभोर हो गयी।

कुणाल हड़बड़ाकर जाग उठा। वह स्वप्न देख रहा था कि परिषद् के अधिवेशन में एक विरोधी क्रोधोन्मत्त होकर महाराज पर आघात करने के लिए लपका आ रहा है। उसने सोचा, शायद कोई सन्देशवाहक वही अशुभ समाचार लेकर आया है। उसने व्यग्र स्वर में पूछा—कौन है ? यह अन्धकार कैसा ? दीपक कहाँ गया ?

'कुणालकुमार ! यह तो मैं हूँ। तुमसे मिलने के लिए आयी हूँ। घबराने की कोई बात नहीं। अँधेरा मैंने ही किया है। तुम्हारे पर्यंक के आगे केवल अँधेरा ओढ़े खड़ी हूँ कुमार ! नहीं चाहती कि हमारे प्रेम-मिलन में कोई बाधा, कोई व्यवधान, कोई अन्तराय हो। इसी लिए इस आधीरात में चलकर आयी हूँ। यह हम दोनो के जीवन की अनमोल घड़ी है कुमार। इसे व्यर्थ न जाने दो, रीता न बीत जाने दो। उठो, जागो कुमार ! हम दोनो....'

तिष्यरक्षिता के इन शब्दों का अभिप्राय तो कुणाल की समझ में न आया, परन्तु आवाज उसने पहचान ली। वह झटके से उठकर बैठ गया और बोला—मा, मा ! तुम आयी हो ? क्या बात हुई है माता ? महाराज तो कुशल से हैं न ? बौद्ध संघ में कोई विद्रोह या उत्पात तो नहीं हो गया ? इतनी रात में आपके आने का कारण क्या है माताजी ?

'नहीं कुमार, न कोई विद्रोह हुआ है और न कोई उत्पात। न महाराज को ही कुछ हुआ है। तुम्हारे प्रेम-सागर की लहरों में तरंगित होने के लिए

मैं ही दौड़ी आयी हूँ । आओ कुमार, आज हम आनन्द मनायें । उस क्षण को अपना बनायें, जो स्वयं तो अमर होता ही है, हमें भी अमर कर जाता है। प्रेम का ऐसा अनुभव तो क्वचित् ही मिलता है कुमार ! आओ....'

अब तो कुणाल सच ही घबरा उठा । वह पर्यंक से नीचे उतर आया और बोला—माताजी, यह आप क्या कह रही हैं ! मेरी तो कुछ भी समझ में नहीं आ रहा। क्या नगर में कोई उपद्रव तो नहीं हो गया ? आप इस समय कैसे आयीं ?

'क्या स्पष्ट ही मेरे मुँह से सुनना चाहते हो कुमार ? तुम्हारी प्रसन्नता के लिए मैं यह भी करने को प्रस्तुत हूँ । लो सुनो—मैं आयी हूँ प्रियतम, तुम्हारे प्रेम-सरोवर में अवगाहन करने, तुम्हारे प्रेम-रस से अभिसिंचित होने । आओ कुमार, अब विलम्ब न करो । हम एक-दूसरे के लिए ही निर्मित हुए हैं । हमारे प्रेम-मिलन में एक नये भविष्य का अरुणोदय छिपा हुआ है । आओ, आओ....'

कुमार तो स्तम्भित ही रह गया । उसकी विचार-शक्ति कुंठित हो गयी। अन्धकार उसे भयावना लगने लगा । उसने लपककर दीये के आगे रखा हुआ आच्छादन उठा लिया । चारों ओर उजाला भर गया । लेकिन उस प्रकाश में उसने जो देखा उसे देखते ही वह तत्काल दीपक की ओर मुँह करके खड़ा हो गया और गद्गद स्वर में बोला—मा, मा ! तुम मेरी माता हो । पहले वस्त्र धारण कर लो । तुम मेरी मा हो और मैं तुम्हारा पुत्र हूँ ।

तिष्यरक्षिता ने धरती पर फेंके हुए उपवीत को उठाकर ओढ़ लिया और कुमार के निकट पहुँचकर उसके कन्धे पर हाथ रखती हुई बोली—देखो कुमार, इधर देखो । मैं तुम्हारी मा नहीं हूँ । तुम मेरे पुत्र नहीं हो । माता तो मैं हूँ ही नहीं, प्रेम-प्यासी नारी हूँ । सौन्दर्य का ऐसा क्षण धरती पर क्वचित् ही आता है; हमारे-जैसा अनुपम रूप-युग्म भी धरती पर क्वचित् ही जन्म लेता है। हजार वर्षों में ऐसा कभी एक बार ही होता है । आज वह धन्य घड़ी आयी है । हम दोनो मिलकर मगध के महान भविष्य का बीज अंकुरित करें, भाग्य-नियन्ता का हमारे लिए यही आदेश है । आओ, हम उसका पालन करें; इस क्षण को व्यर्थ न जाने दें । लोक-लाज और लोक-मर्यादा के झूठे बन्धनों में न पड़े रहें । सब-कुछ झूठ है । सत्य केवल यह है कि मैं तुम्हारी प्रियतमा हूँ, तुम मेरे प्रियतम हो; मैं तुम्हारे लिए हूँ, तुम मेरे लिए हो । इधर मुँह फेरकर

देखो कुमार, मैं तुम्हारी माता कैसे हो सकती हूँ ? प्रियतमा को माता कहने की रीति कहाँ सीख आये हो नादान ?

और उसने कुणाल का कन्धा खींचकर उसका चेहरा अपनी ओर घुमा दिया। कुणाल ने उस चेहरे को देखा, जो प्रेम की आँच में जला जा रहा था। कुणाल ने उन आँखों को देखा जिनमें अनुराग की अग्नि प्रज्वलित हो रही थी। कुणाल ने उस दृष्टि को देखा जिसमें वासना की प्रचंड ज्वाला धधक रही थी। एक क्षण वह देखता रहा। फिर नीचे झुककर उसने तिष्य-रक्षिता के पाँवों में अपना सिर रख दिया और आँसू-भरे कण्ठ से बोला—राजमाता, आप मेरी माता हैं, मैं आपका पुत्र हूँ। हम इस प्रसंग को यहीं समाप्त कर दें।

'कुणाल !' तिष्यरक्षिता ने कुछ झुँझलाये हुए स्वर में कहा, 'तू यह क्या ढोंग कर रहा है ? कब तक ढोंग करता रहेगा ? मैं तेरी हूँ, तू मेरा है—सारा संसार इस बात को जानता है। स्वयं विधाता ने हमें इसी लिए और ऐसा ही सिरजा है। हमें मगध के चरणों में अपने प्रेम-मिलन की महान भेंट चढ़ानी है। आ, आज से ही हम एक नये जीवन का, एक नयी परम्परा का प्रारम्भ करें।'

'माता, आप यह क्या कह रही हैं। महाराज के सतत सान्निध्य में रहकर भी आप ऐसी वाणी बोलती हैं। इस प्रसंग को यहीं समाप्त कर दो माता। महाराज को क्षोभ होगा, प्रचंड आघात पहुँचेगा।'

'क्या कहते हो कुमार ?' तिष्यरक्षिता ने किंचित् उत्तेजनापूर्ण स्वर में कहा। उसकी वाणी में उपालम्भ बोल रहा था। 'उस बूढ़े के लिए अपने सौन्दर्य को व्यर्थ कर दूँ ! मैंने तो सदा-सर्वदा तुम्हें ही प्रियतम माना है। आज तुम्हें लेने आयी हूँ। चलो, हम यहाँ से दूर, कहीं बहुत दूर चले जायें—एक ऐसे प्रदेश में जहाँ ऋतुएँ प्रेम का गीत गाती हों, झरने प्रेम का सगीत गुनगुनाते हो, पंछी प्रेम का राग अलापते हों, पवन प्रेम की टेर सुनाता हो। तुम्हारे लिए मैं सब-कुछ छोड़ने को प्रस्तुत हूँ—यह मगध, इसका वैभव, राजरानी का पद सब-कुछ। जहाँ तुम रहोगे मेरे प्रियतम, वहीं मेरी नगरी होगी, वहीं मेरा वैभव होगा, वहीं मेरे प्रेम का साम्राज्य होगा और मैं उसकी राजरानी हूँगी।'

'आप जहाँ भी कहें, मैं चलने को प्रस्तुत हूँ माता ! लेकिन यह सत्य कभी मिट नहीं सकता कि आप मेरी मा हैं और मैं आपका पुत्र हूँ । अपने इस बेटे के सिर पर हाथ रखकर आशीर्वाद दीजिए माता ।'

तिष्यरक्षिता ने कुणाल का हाथ पकड़कर जोर से झटकते हुए खड़ा किया और उसकी आँखों में आँखें गड़ाकर बोली—कुमार, सामने भित्तिदर्पण में देखो । तुम्हारे इन नयनों का सौन्दर्य स्वर्ग की अप्सराओं को भी मात करता है । कितना जादू भरा है तुम्हारी इन रतनारी आँखों में, यह शायद तुम्हें नहीं मालूम । और न यही जानते हो कि तुम्हारे ये नयन निशिदिन प्रेम के अथाह अगम समुद्र का किनारा खोजते रहते हैं । जो अपनी ही शक्ति को नहीं जानता वह आत्महन्ता होता है कुमार ! अपने प्रेम की सामर्थ्य को जानो, उसका उपयोग और उपभोग करो कुमार ! क्यों जीवन को व्यर्थ गँवाते हो ? इसी मगध में पहले एक आम्रपाली हुई और उसने मगध की कीर्ति को दिग्दिगन्त-व्यापी किया । आज तिष्यरक्षिता भी ऐसी ही आम्रपाली बनकर तुम्हें खोजती हुई, तुम्हारे प्रेम की भीख माँगती हुई आयी है । उसे निराश मत करो, विमुख मत लौटाओ । जो प्रेम का निरादर करता है, स्वयं चलकर सामने आये प्रेम को विमुख करता है, समर्पणमयी नारी की अवहेलना करता है वह कायर और कापुरुष ही नहीं भयंकर पातकी और जीवन-द्रोही होता है, वह नराधम जड़-पत्थर से भी हीन होता है । चलो कुमार, हम यहाँ से भाग चलें । अश्व तैयार हैं ।

कुणाल ने हाथ जोड़कर सिर नवा दिया और आगे बढ़कर उसकी गोद में माथा रखते हुए बोला—मैं तो केवल इतना जानता हूँ की आप मेरी मा हैं, मैं आपका बालक हूँ । इसके अतिरिक्त इस हृदय में और कोई भावना नहीं है । माताजी, अब इस प्रसंग को यहीं समाप्त कर दीजिए ।

'धिक्कार है तेरी कापुरुषता को !' तिष्यरक्षिता का चेहरा क्रोध और प्रतिहिंसा से काला पड़ गया था । आन्तरिक उत्तेजना और उद्वेग के कारण वह काँपने लगी थी, 'तू भी अपने को मनुष्य कहता है—जड़ ! पत्थर ! दुनिया को मोहित करनेवाला अनुपम सौन्दर्य भी तुझे नहीं दीखता ! ये तेरी आँखें हैं या कौड़ियाँ ? अरे, तू पत्थर भी नहीं, पत्थर में भी जीवन होता है, वह भी आकृति

ग्रहण कर सकता है, सौन्दर्य का वाहक होता है वह भी। तू तो निरा बालू का ढेर है—प्राणहीन, स्पन्दनहीन, रस और जीवनहीन। मैं तुझे आशीष देती हूँ कि तेरी कायरता सहस्र गुनी बढ़े, और कापुरुषता शत-सहस्र गुनी। और एक दिन यह समूचा देश बौद्ध भिक्षुओं के पाँव से रौंदा जाकर रसातल को पहुँच जाये....'

और तिष्यरक्षित वहाँ से झपटती हुई चली गयी, उसने मुड़कर भी नहीं देखा....

२२ : : तिष्यरक्षिता का निर्णय

तिष्यरक्षिता सततल्ले से दौड़ती हुई नीचे उतरी। क्रोध और अपमान से उसकी सारी देह फुँकी जाती थी। आँखों से अविरल अश्रुधारा बह रही थी। उसका बस चलता तो अभी ही दौड़ी जाकर 'मा के उसे बेटे' की छाती में छुरी भोंक देती! उन्माद-ग्रस्त की भाँति दौड़ती हुई वह अपने सौन्दर्य-भवन पहुँची। जाते ही उसने सब दीये बुझा दिये। प्रकाश उसे काटे खा रहा था, उजाले में जैसे सब चीजें उसे अपनी खिल्ली उड़ाती, मुँह चिढ़ाती प्रतीत हो रही थीं। वह अन्धकार में खो जाना चाहती थी। जब घुप्प अँधेरा हो गया तो उसने सभी अंगरक्षिकाओं को नीचे भेज दिया और पलंग पर औंधे मुँह जा पड़ी और फूट-फूटकर रोने लगी।

वह इस तरह न जाने कब तक रोती रहती, लेकिन महामाया ने उसे बवंडर की भाँति सततल्ले से उतरते देख लिया था। वह समझ गयी थी कि अवश्य कुछ अघटित हुआ है। वह अपने कुतूहल को रोक न सकी। उसने सोचा, तिष्य-रक्षिता अवश्यमेव कुमार के पास गयी होगी। जब से महाराज की सेवा में आयी थी, तिष्यरक्षिता का कुणाल के प्रति प्रेम-भाव देख रही थी। नारी सब-कुछ छिपा सकती है, परन्तु दूसरी नारी की दृष्टि से अपना प्रेम छिपाने में वह कभी सफल नहीं होती। आधीरात का समय, तिष्यरक्षिता का अभिसारिका बनकर आना और बवंडर की भाँति लौट जाना इस बात का साक्षी था कि कुणाल के कक्ष में अवश्य कुछ भयानक कांड हुआ है। महामाया लपकती हुई सततल्ले पर पहुँची। कौमुदी-भवन में केवल एक दीया जल रहा था। पलंग

खाली पड़ा था। चिन्ता और विस्मय से भरी महामाया विशाल राजभवन के सभी तल्लों को ढूँढ़ आयी, लेकिन उसे कुणाल कहीं न मिला।

कुणाल तिष्यरक्षिता के जाने के बाद थोड़ी देर तो संज्ञाहत-सा अपनी जगह पर खड़ा रहा। फिर उसे सहसा महाराज अशोक का खयाल हो आया। उसका पितृ-भक्त हृदय आतंकित हो उठा। यदि तिष्यरक्षिता ने जाकर महाराज से कह दिया, झूठ-सच जड़ दी तो उस महान देवात्मा को कितना कष्ट होगा? उस महापुरुष की अभी तक की सारी साधना मिट्टी में मिल जायेगी। यहाँ से झपटती हुई वह अवश्यमेव महाराज के पास गयी होगी। उसे रोकना होगा। आवेश के वशीभूत वह कुछ औंधा-सीधा न कर बैठे, यह देखना होगा। उसे धर्म-मार्ग पर लाना, उसका हृदय-परिवर्तन करना ही एक मार्ग था। अभी तो अधमता से बचा लिया, लेकिन आगे कभी पतित न हो जाये, यह भी देखना होगा! भागो कुणाल, दौड़े जाओ! वह महाराज के अन्तिम दिनों में विष न घोलने पाये। हो सकता है कि उसका पराजित प्रेम प्रतिशोध में भरकर महाराज पर ही वार कर बैठे। भयंकर उल्कापात होने के पहले ही उसे जा पकड़ो। और पितृ-भक्त कुणाल भी एक साथ दो-दो सीढ़ियाँ कूदता नीचे भागा। और पवन-वेग से अकेला, निहत्था, अंगरक्षकों के बिना ही अशोकाराम की ओर घोड़े पर सवार उड़ चला।

जब महामाया ढूँढ़-खोजकर हार गयी और कुणाल उसे कहीं नहीं मिला तो वह कुछ सोचकर तिष्यरक्षिता के सौन्दर्य-भवन की ओर लपकी। उसे आशा थी कि तिष्यरक्षिता वहीं होगी। जब वह भागी हुई वहाँ पहुँची तो उसने अंगरक्षिकाओं को मुख्य प्रवेश-द्वार के आगे खड़ा कनफुसकियाँ करते पाया। महामाया समझ गयी कि तिष्यरक्षिता यहीं है और कोपभवन में जा बैठी है और एकान्त के लिए सब अंगरक्षिकाओं को नीचे भेज दिया है। सब दासियों और अंगरक्षिकाओं में वह तिष्यरक्षिता की विश्वस्त दासी प्रसिद्ध थी। अभी अपनी उसी प्रतिष्ठा का उपयोग करते हुए उसने कहा—अरी, तुम सब यहाँ क्या कर रही हो! महारानीजी कहाँ हैं? मुझे उनसे मिलना है।

'ऊपर कोपभवन में लेटी हैं। छाती कड़ी और पीठ मजबूत हो तभी जाना!' सब एक साथ बोल उठीं।

'क्यों, क्या हुआ है ?'

'राम जाने क्या हुआ है !' उन्होंने भौंहें नचाकर और अँगुलियाँ मटकाकर कहा, 'आँखों से अंगारे बरस रहे हैं, नथुने फड़क रहे हैं, चेहरा लाल-गुलाल हो गया है। सामने देखते डर लगता है। पता नहीं दैया, क्या हुआ है।'

'अरी मूर्खाओ, राज-दरबार में रहकर इतना भी नहीं समझतीं ! यह वियोग की आग है। महाराज अशोकाराम में हैं, महारानीजी का कोमल हृदय इस आघात को सह न सका। इसी में इतना मरी जा रही हो ! देखो, मैं अभी तुम सबको अपने-अपने स्थान पर जाने का आदेश भिजवाती हूँ।'

'नहीं बाबा ! तुम्हें मरना हो तो जाओ। हमें अपनी जान भारी नहीं, क्यों बहिना ?'

'हाँ बहिना !'

महामाया उनकी बात सुनी-अनसुनी कर ऊपर पहुँची। तिष्यरक्षिता के कक्ष के आगे आकर वह थोड़ी देर ठिठकी। अन्दर से सिसकियों और हिचकियों का घुटा-घुटा स्वर आ रहा था, मानो कोई रूठा बच्चा 'न देखे तो रोऊँ, देखे तो मारूँ' वाली मनःस्थिति में रो रहा हो। महामाया पंजों के बल चलती हुई अन्दर गयी। बिना आवाज किये वह चुपचाप तिष्यरक्षिता के पलंग के पास आयी। बड़ी कोमलता से उसने रानी के कन्धे का स्पर्श कर मा के ममता-भरे स्वर में कहा—देवि ! महारानीजी....

'महारानी गयी भाड़ में ! भाग यहाँ से। आयी चिबिल्ली कहीं की !'

महामाया ने और भी प्रेम-भरे स्वर में कहा—देवि, वह लड़का तो है ही ऐसा ! उस नादान की बातों पर ध्यान ही क्या देना ! आप कहाँ उसे मुँह लगाने गयीं ! आपका काम तो है महाराज को अपनी मुट्ठी में कर मगध पर शासन करना।

महामाया ने अनुमान लगाया कि तिष्यरक्षिता का अपमान हुआ है। इसलिए उसने उसके तिरस्कृत, अपमानित हृदय को ही सहलाना शुरू किया। कसकते घाव पर महामाया की बातों का फोहा रखे जाते ही तिष्यरक्षिता उठकर बैठ गयी। पल्ले से उसने अपने आँसू पोंछ डाले।

यह देख महामाया कुछ परे हट गयी और हाथ जोड़कर बोली—महारानी आज्ञा करें; क्या महाराज को बुला लाना होगा ?

तिष्यरक्षिता की समझ में नहीं आ रहा था कि उसे अब क्या करना चाहिए। लेकिन महामाया के मुँह से महाराज का नाम सुनकर उसे खयाल आया कि यदि कुणाल ने जाकर महाराज से सब-कुछ कह दिया तो जो अपमान और अवहेलना होगी उससे तो मौत ही भली। उसका मस्तिष्क जोरों से काम करने लगा। उसने सोचा कि सब से पहले तो चलकर महाराज को अपनी मुट्ठी में करना चाहिए। ऐसा त्रियाचरित्र दिखाना चाहिए कि बूढ़ा स्वयं ही अपने बेटे का जानी दुश्मन हो जाये, वह स्वयं ही उसे मरवा डाले; इस तरह साँप भी मर जायेगा और लाठी भी न टूटेगी।

वह एकदम खड़ी हो गयी और बोली—महामाया, मेरी शिविका लाने को कह। मुझे महाराज के पास जाना है—अभी, इसी समय। मैं महाराज के बिना एक क्षण भी नहीं रह सकती। कहाँ हैं अंगरक्षिकाएँ ? बुला उन सभी को।

अपमान की बाढ़ उतर गयी थी और अपने साथ तिष्यरक्षिता के हृदय की समस्त कोमलता भी लेती गयी थी। अब वहाँ प्रतिशोध की अग्नि धू-धूकर जल रही थी। उसके मन में एक ही भयानक संकल्प छेड़े हुए विषधर की भाँति फुफकार रहा था—जैसे भी बने कुणाल की हत्या करनी होगी! वह उसे तिल-तिलकर मारना चाहती थी। उसे अपने सामने छटपटाते और दया की भीख माँगते देखना चाहती थी। उसकी प्रतिहिंसा वधिक की क्रूरता से भी अधिक क्रूर हो उठी थी। प्रतिशोध की यही तो विशेषता होती है; प्रेम की ही भाँति उसे भी सदैव अपने चरम रूप में प्रस्फुटित होना और विकरालतम रूप में दीखाई पड़ना सुहाता है।

लेकिन इस समय तो तिष्यरक्षिता केवल इतना ही चाहती थी कि जाकर महाराज से कहे कि मैं आपके बिना अकेली नहीं रह सकती, वियोग मुझसे सहा नहीं जाता। और अवसर पाकर कुणाल पर दोषारोपण कर दे और उसकी तक्षशिला-यात्रा को देशनिकाले में परिवर्तित करा दे।

शिविका के आते ही वह उसमें सवार हो गयी और उसी समय अशोका-

राम की ओर चल पड़ी। नारी-हृदय की एक दुर्बलता यह भी होती है कि वह कितनी ही सत्ताशाली, शक्ति-सम्पन्न और वयःप्राप्त क्यों न हो जाये, जब भी कोई चोट पड़ती है तो उसे अपनी मा याद आ जाती है। इस समय तिष्य-रक्षिता को भी अपनी मा की याद आ रही थी। यदि वह आज होती तो उसकी पीठ पर हाथ रखकर आश्वासन के दो बोल कहती। मा के ऐसे ही वात्सल्य और ममता-भरे व्यवहार की अनुभूति उसे महामाया के शब्दों से हुई थी। उसे अपने समीप पाकर तिष्यरक्षिता को बड़ी सान्त्वना मिल रही थी। इसलिए अशोकाराम जाते समय उसने महामाया को भी अपने साथ शिविका में बिठा लिया।

महामाया अभी तक अनुमान के ही घोड़े दौड़ाये जा रही थी। वास्तविकता की गन्ध भी उसे न मिल पायी थी। भला कौन नारी है जो अपने ही जैसी दूसरी नारी का रहस्य पाने के लिए अपना एक हाथ ही काटकर न दे दे! बातूनी महामाया तो एक आँख भी निकाल कर दे सकती थी। वास्तविकता को जाने बिना उसके पेट का पानी कैसे पचता, औत्सुक्य और कुतूहल के ज्वार का शमन कैसे होता? वास्तविकता तक पहुँचने के लिए उसने अनुमान की रस्सी के सहारे ही आगे बढ़ना उचित समझा। मार्ग में उसने बात छेड़कर कहा—महारानीजी, वह कुमार तो है ही ऐसा चिबिल्ला। दूसरे सभी कुमारों के भिक्खु बन जाने के कारण महाराज ने जरा मुँह क्या लगा लिया, अपने आगे किसी को कुछ समझता ही नहीं।

'लेकिन ऐसी भी क्या उच्छृङ्खलता! कुछ तो उचित-अनुचित का खयाल रखना चाहिए, या कुछ भी नहीं! आखिर तो मैं उसकी मा होती हूँ। मुझी से परिहास! मेरे ही ऊपर कुदृष्टि! कैसा बगुलाभगत बना फिरता है। मा, माताजी कहते मुँह सूखा जाता है और नीयत देखो तो ऐसी। रात में परि-चारिका को भेजकर मुझे बुलवाया। मैं भोली समझी कि महाराज के स्वास्थ्य के सम्बन्ध मे कोई बात होगी। फिर यह समझकर भी दौड़ी गयी कि कल तो वह तक्षशिला चला जायेगा, कोई बात हो तो सुन आऊँ। वहाँ गयी तो यह दुष्टता! अब तुम्हें क्या कहूँ, कहते लाज आती है। ऐसे पाखंडी को तो खड़े-खड़े निर्वासित कर देना चाहिए। समझ क्या रखा है उसने....'

महामाया के तो हाथ के तोते उड़ गये। मामला उसने समझा था उससे कहीं भयंकर निकला। अब क्या हो? वह इस पिशाचिनी को बहुत अच्छी तरह जानती थी। टेसुवे बहा-बहाकर जो कुछ कह रही है बात उसके सर्वथा विपरीत होनी चाहिए। इसी महारानी ने कुणाल को मोहपाश में बाँधने की चेष्टा की होगी और उसने झिड़क दिया होगा तो अब विषैली नागिन बनी फुफकार रही है। परन्तु यदि इसने महाराज से कह दिया, जरा-सा संकेत भी कर दिया तो सर्वनाश हो जायेगा। महाराज का जर्जर स्वास्थ्य उस आघात को सह न सकेगा। कुणाल का तो तब ईश्वर ही मालिक है। यह मायाविनी अपने एक ही झूठ से मगध के महान साम्राज्य को मिट्टी में मिला देगी। इसे रोकना ही होगा।

उसने समझाते हुए कहा—महारानीजी, इतने बड़े मगध-साम्राज्य का सारा भार आप पर ही है। वह आपके ही सहारे टिका हुआ है। महाराज की स्वास्थ्य-रक्षा और सेवा-टहल के लिए आप रात-दिन एक किये हुए हैं। आपकी इस महनीयता को कौन पहुँच सकता है? चिबिल्ले लड़के की उच्छृङ्खलता की ओर ध्यान दें, यह आपको शोभा नहीं देता देवि। महारानी महाराज से ऐसी बात कहें, उसमें न महारानी का गौरव है, न महाराज का। मेरा तो अनुरोध है कि इस प्रसंग को यहीं-का-यहीं गाड़ दीजिए।

'मैं तो गाड़ दूँगी दासी! लेकिन महाराज का वह मुँहलगा छोकरा भी क्या गाड़ेगा? पहुँच न जायेगा महाराज के पास एक की दो लगाने?'

'मैं तो नहीं समझती कि आपके विरुद्ध महाराज से कुछ कहने की उसकी हिम्मत होगी। महाराज से तो क्या वह किसी से भी इस सम्बन्ध में एक अक्षर तक न कहेगा।'

'यदि तुम ऐसा समझती हो और यदि वह न कहे तो फिर मुझी को क्या पड़ी है कि किसी के आगे कहती फिरूँ! अपनी जाँघ उघाड़कर लज्जित तो हमीं को होना पड़ता....'

उसी समय शिविका के आगे-आगे चल रहे दीपिकावाहक के दीपिका-दंड के हिलने से प्रकाश की एक किरण शिविका में कौंध गयी। उसके उजाले में महामाया को तिष्यरक्षिता के चेहरे की जो झलक देखने को मिली उसने

उस बुढ़िया के हृदय को ही नहीं, मांस-मज्जा तक को कँपा दिया। तिष्यरक्षिता की आँखों से हलाहल विष की लपटें निकल रही थीं। प्रतिशोध का मनचाहा मार्ग पा लेने पर ही आँख इतनी विशाक्त होती है।

तिष्यरक्षिता भी इस बात को जानती थी कि कुणाल उस सम्बन्ध में महाराज से कुछ न कहेगा। वह तो उस प्रसंग को वहीं समाप्त कर देना चाहता था। स्वयं प्रकट करने में उसे अपनी निन्दा का भी भय था, इसलिए तिष्यरक्षिता ने इस तरह अपनी बात समाप्त की—मूर्खों की बात को महत्व देकर अपनी ही पत खोनी होती है महामाया। मैंने तो निश्चय कर लिया है, कि चाहे वह चिबिल्ला महाराज से कह भी दे, मैं अपनी ओर से कुछ न कहूँगी, एक शब्द भी नहीं बोलूँगी। मेरी एक चुप उसकी हजार बातों को चुप कर देगी। बात आप ही आयी-गयी हो जायेगी।

महामाया समझ गयी कि इस नागिन ने प्रतिशोध का कोई ऐसा ढंग सोच निकाला है जिसके आगे महाराज का कोप और कुणाल का निर्वासन, सभी कुछ हेय होना चाहिए।

अवश्य ही कोई अति भयंकर बात तिष्यरक्षिता के मन में उग रही थी।

२३ : : आँखों के दो रत्न

अभिनय-कला में निपुण तिष्यरक्षिता महाराज के सम्मुख जाते ही रो पड़ी। वह बड़ी देर तक उनके चरणों में सिर दिये पड़ी रही और तब आर्त स्वर में बोली—महाराज, मैं आपके बिना अकेली नहीं रह सकती। महल मुझे खाने दौड़ता है। नगर मरुस्थल जान पड़ता है। महाराज दया कर फिर महलों में पधारें।

महाराज तो चकित ही रह गये। तिष्यरक्षिता के रूप का ऐसा निखार उन्होंने पहले कभी नहीं देखा था। उसके सौन्दर्य पर वह वैसे भी मुग्ध थे और प्रायः सोचा करते थे कि यदि रूप-सौन्दर्य की यह स्वामिनी प्रव्रज्या लेकर भगवान तथागत की सेविका बन जाये और अपने कोकिल स्वर में बुद्धवचन का धर्मोपदेश करने लगे तो इस दुनिया का रूप ही बदल जाये। तिष्यरक्षिता भी महाराज के इन मनोगत भावों से परिचित थी। और यथावसर उनका

उपयोग करती रहती थी। इस समय वह अपने रूप-आकर्षण के तीर चला रही थी।

कुछ देर उसकी ओर देखते रहने के बाद महाराज अशोक ने कहा—देवि, यह क्या पागलपन करती हो! वहाँ राधागुप्त है, दशरथकुमार है, देवी कांचनमाला है। इतना अकेलापन तो नहीं है कि तुम्हें खाने को दौड़े। और देर-अबेर एकान्त की अभ्यस्त तो तुम्हें होना ही है। जैसा कि हम कहते रहे हैं, एक दिन तुम अवश्य भगवान तथागत की अनुगामिनी बनोगी। परिषद् हो ही रही है। क्यों न उसमें एक दिन हमारे धर्मानुशासन की घोषणा करो?

'वह तो होता रहेगा महाराज, लेकिन अभी तो मेरी प्रार्थना स्वीकार की जाये। महल आपको चलना ही पड़ेगा और वहीं रहना होगा। यहाँ आते-जाते रहिए, अधिक समय चाहे यहीं व्यतीत कीजिए, परन्तु हम दीनों को इस तरह भुला न दीजिए। हाँ, महल छोड़ने का निश्चय ही कर लिया हो तो फिर मुझे भी अनुमति दीजिए, किसी गुफा में जा बसूँ। आपके बिना महल के प्रशस्त प्रकोष्ठ सूने लगते हैं, महल के विशाल स्तम्भ खाने को दौड़ते हैं।'

तिष्यरक्षिता ने कुणाल को वहाँ बैठे देख लिया था। यह भी समझ गयी थी कि उसने महाराज को कुछ बताया नहीं है। इसलिए उसने भा बात को दबा जाना ही उचित समझा।

महाराज ने कहा—अरे तो हम ऐसे कहाँ भागे जा रहे हैं! लौट तो रहे ही थे। निश्चय भी कर लिया था। न मानती हो तो पूछ देखो कुणाल से।

'कुणालकुमार से क्या पूछूँ देव! वह तो महाज्ञानी हैं। अकेले भी रह सकते हैं और समाज में भी। लेकिन मेरा मन तो महाराज, एकान्त में उद्विग्न हो उठता है। जब अकेली रहती हूँ तो मन में जाने कैसे-कैसे विचार तरंगित होने लगते हैं। बावली ही हो जाती हूँ। डरती हूँ कि ऐसे समय पता नहीं क्या कर बैठूँ। अभी मन वश में जो नहीं हो पाया है। कुणालकुमार-जैसे किसी का सहारा न हो तो यह मन-मर्कट जाने किस गड्ढे में धकेल दे।' तिष्यरक्षिता ने बड़ी चतुराई से कौमुदी-भवनवाले प्रसंग की लीपापोती कर दी।

महाराज तो कुछ जानते नहीं थे, इसलिए वात्सल्यपूर्वक मुस्करा दिये। लेकिन कुणाल, जो सब-कुछ जानता था, यही समझा कि वह तिष्यरक्षिता का

क्षणिक आवेश था, जो आया और निकल भी गया। महाराज के प्रति उसके स्नेह और भक्ति में कुणाल को कोई कमी नहीं दिखाई दी। उसे महाराज का यही कथन सत्य प्रतीत हुआ कि वह एक दिन भिक्खुणी बनकर रहेगी। उसने उस प्रसंग को अपने मन से ही निकाल दिया।

दूसरे दिन सवेरे जब महाराज ने पाटलिपुत्र नगर में प्रवेश किया तो कुणाल और तिष्यरक्षिता दोनो पहले की ही भाँति महाराज की सेवा-शुश्रूषा में साथ-साथ इस तरह तल्लीन थे मानो कुछ हुआ ही न हो। यहाँ तक कि महामाया भी चक्कर में पड़ गयी। उसने भी सारे प्रसंग को घोलकर पी जाना ही उचित समझा।

लेकिन तिष्यरक्षिता तो मन-ही-मन प्रतिहिंसा की आग में जली जा रही थी। अपना अपमान उसे भुलाये नहीं भूलता था। जब तक प्रतिशोध न ले ले उसकी छाती ठंडी नहीं हो सकती। और प्रतिशोध भी ऐसा-वैसा नहीं। वह ऐसा प्रतिशोध चाहती थी जिसे दुनिया सदैव याद रखे—न मगध भूल सके, न राधागुप्त और न उनका वह बूढ़ा महाराज ही। और कुणाल तो जब तक जीये वेदना का मारा छटपटाता रहे।

कुणाल के लिए उसने मन-ही-मन जो सजा निर्धारित की थी, वह निर्वासन और प्राणदंड से भी भयंकर और क्रूर थी। उसका सारा गुस्सा कुणाल की आँखों पर था। उन रतनारी आँखों ने ही उसके मन में उन्माद जगाया था और वे ही आँखें उसके रूप-सौन्दर्य से भरे समर्पण को देखने तक से मुकर गयी थीं। वह उन आँखों को ही निकलवा लेगी और जब तक अपनी एड़ियों से कुचल नहीं लेगी, उसकी प्रतिहिंसा शान्त न होगी। वह उसे राजराजेश्वर का ऐश्वर्य देने गयी थी। परन्तु वह भिखारी ही रहना चाहता है तो माँगे भीख, खाता फिरे अन्धा होकर दर-दर की ठोकरें! और तारीफ तो तब है जब कि यह सब उस बुड्ढे के हाथों से हो।

नहीं, वह परदे में ही रहेगी। किसी को स्वप्न में भी उसके मन्तव्यों का पता न चलने पायेगा। वह सब-कुछ उस बूढ़े के हाथों ही करवायेगी। जिस-जिसने भी उसके सौन्दर्य की अवहेलना की है, उन सब को पथ का भिखारी बनाकर छोड़ेगी। कितनी सुखद होगी वह घड़ी जब बूढ़ा अपने ही हाथों अपने

'धर्मविवर्धन' बेटे की आँखें निकलवाने का आदेश देगा और बाद में परिताप से छाती पीट-पीटकर हाहाकार करेगा! पुत्र-शोक से विह्वल उस बूढ़े को तब तो अपने ही हाथों जहर का प्याला पीना होगा! हो कुणाल अन्धा, पीये बूढ़ा जहर, तभी तो प्रतिशोध से जलती उसकी छाती ठंडी होगी! क्यों जीये वह बूढ़ा जो उसके सौन्दर्य को देख न सका, भोग न सका, जान न सका? उसका मरना ही नारी के सौन्दर्य के साथ किये गये अन्याय का प्रतिकार है!

परन्तु सब-कुछ इस तरह आयोजित करना होगा कि किसी को कानोकान पता न लगने पाये। कपट का ऐसा जाल बिछाना होगा कि कोई भूलकर भी सुराग न पा सके। अवसर की प्रतीक्षा में प्रतिक्षण सन्नद्ध रहना होगा। बूढ़े के सान्निध्य में होती चर्चाओं, और घटनाओं के किसी सूत्र को पकड़कर ही इस बैर का प्रतिशोध लेना होगा, नहीं तो यह छलना निरा कपट बनकर रह जायेगी।

तिष्यरक्षिता को और किसी से तो कोई डर नहीं था, केवल अकेला राधागुप्त उसकी आँखों में शूल की भाँति खटकता था। उससे सतर्क रहना होगा। पता तो उसे अवश्य लग गया होगा और उसका शान्त बने रहना भी यही प्रकट करता था; परन्तु योजना की गंध भी उसे नहीं मिलनी चाहिए। वह जान गया तो एक ही दाव में सारी चालें विफल कर देगा।

कुणालकुमार तक्षशिला पहुँच गया था। वहाँ पहुँचने के साथ ही उसके आश्चर्यजनक कार्यों के समाचार भी पाटलिपुत्र आने लगे थे। महाराज ने सुना तो हर्षविभोर ही हो उठे।

कुणाल ने तक्षशिला पहुँचकर पहला कार्य यह किया कि अकेला, निःशस्त्र नगर में गया। सेना तो वहाँ से तीन योजन दूर ही रही। फिर उसने तक्षशिला के समस्त पौरजानपदों को निमंत्रित किया। वहाँ के सेनानायकों, अधिकारियों, नागरिकों, महाजनों, विद्वानों और कृषिवलों को भी बुलाया। सब के सामने उसने यह प्रस्ताव रखा कि प्रत्येक वर्ग अपनी कष्ट-कथा और कठिनाइयाँ परिषद् में ही सब के सामने रखे। और जब लोगों ने आपबीती कहना शुरू की तो पता चला कि बहुत कुछ तो गलतफहमियाँ ही थीं, कुछ

अपराध भी थे, लेकिन बुराई की खातिर बुराई करनेवालों की संख्या तो केवल अँगुलियों पर गिनने लायक ही निकली। स्थिति इस प्रकार स्पष्ट होने पर महाराज के धर्मानुशासन की घोषणाएँ की गयीं, शान्ति-सन्देश प्रचारित किये गये और सारा विद्रोह जाने कहाँ हवा में उड़ गया।

कुणालकुमार की इस सफलता के समाचार उड़ते हुए काश्मीर भी पहुँचे, जिन्हें सुनकर जालौक और ईशानदेवी दोनो ही चौंक पड़े। कुणाल ने उन्हें भी शान्ति-सन्देश भेजा। उनसे कहलवाया कि महाराज की आकांक्षा सर्वत्र शान्ति स्थापित करने की है। सर्वत्र यह घोषणा करवाई जाये कि न्याय, व्यवस्था, शान्ति, सेना, शासन, सम्पत्ति सभी कुछ मनुष्यों के लिए है, मनुष्य इनके लिए नहीं; नित नूतन प्रयोगों के लिए अपनी बहक में आकर मनुष्यों को इधर-उधर दौड़ाते रहनेवाले अधिकारीगण दंडनीय हैं।

जब कुणाल का यह विजय-सन्देश पाटलिपुत्र पहुँचा तो साधु उपगुप्त की अध्यक्षता में बौद्ध-परिषद् का महान अधिवेशन हो रहा था। बुद्धवचन का मनमाना अर्थ लगानेवालों की कड़ी भर्त्सना और बहिष्कार किया जा रहा था। बौद्ध-संघों में मतभेद पैदा करने और फूट फैलानेवालों के निष्कासन का निर्णय प्रायः हो चुका था। सभी अनधिकारियों के लिए संघ-प्रवेश निषिद्ध कर दिया गया था। उस अधिवेशन में महाराज अशोक, महारानी तिष्यरक्षिता, राजप्रतिनिधि दशरथ, राजमाता कांचनमाला, महामात्य राधागुप्त, महामंत्री खल्लाटक सहित सभी मंत्री और राजपुरुष उपस्थित थे। जब कुणाल की इस शस्त्रहीन निःशस्त्र विजय के समाचार वहाँ पहुँचे तो सब-के-सब आनन्द से उमंगित हो उठे। सन्देशवाहक का प्रतिवेदन समाप्त होते ही सारा अधिवेशन स्थल भगवान तथागत के जयजयकार से गूँज उठा।

जैसे ही जयध्वनि शान्त हुई महाराज अशोक ने राधागुप्त को अपने समीप बुलाकर कहा—राधागुप्त, यह सन्देशवाहक कौन है? हम इसलिए जानना चाहते हैं, कि जब यह यहाँ से जाने लगे तो इसी के साथ ईशानदेवी के नाम सन्देश भेज दिया जाये। सुना बड़ी वीरांगना है वह।

'हाँ प्रभु! प्रदेशपति जालौक की वह योग्य पत्नी बड़ी ही वीरांगना है। यवनों को काश्मीर के पार उसी ने रोक रखा है। उसके नाम ने वहाँ चमत्कार

कर रखा है। युद्ध न चाहनेवालों के लिए जैसी विजय कुणालकुमार की है वैसी ही महत्वपूर्ण युद्ध चाहनेवालों के लिए प्रदेशपति जालौक और उसकी पत्नी की विजय भी है, महाराज !'

'हम तो ईशानदेवी और जालौक को भी यह सन्देश भेजना चाहते हैं कि शान्ति शान्ति से ही स्थापित हो सकती है, और किसी तरह नहीं। शायद तुम्हीं ने कहा था कि ईशानदेवी शक्ति की उपासिका है और उसने शक्ति देवी के नेत्रों में दो मूल्यवान रत्न जड़वाये हैं। क्या यह सच है ?'

'हाँ महाराज !'

'इन रत्नों के सम्बन्ध में उन्होंने वहाँ जो प्रचार कर रखा है क्या वह भी तुम्हें मालूम है ?'

'नहीं महाराज !'

महाराज ने धीरे से ताली बजायी। दूसरे ही क्षण एक प्रतिवेदक ने आकर प्रणाम किया। महाराज ने उससे कहा—भणो आयु, शक्तिदेवी के नेत्र-रत्नों के बारे में तुम जो संवाद लाये हो उसे पुनः तो कहो।

आयु ने पुनः प्रणाम कर कहा—शक्तिदेवी के एक नेत्र से अग्नि-स्फुलिंग झड़ते हैं, दूसरे से आँसू बहते हैं। ईशानदेवी कहती हैं कि विप्लव होगा, राज बदलेगा, लोग आँसुओं में नहायेंगे !

राधागुप्त ने सुना तो समझ गया की इस प्रकार जालौक अपनी स्वतन्त्रता की भूमिका बाँध रहा है। अभी तक उसे तिष्यरक्षिता का ही चिन्ता थी। जालौक को लेकर उसे इतनी चिन्ता नहीं थी। महामाया ने उसे उस दिन की घटना संक्षेप में बता दी थी। सुनते ही वह सन्नाटे मे आ गया था। कुणाल के अतिमानुषी संयम ने ही उस दिन मगध को बचा लिया, नहीं तो सर्वनाश होने में क्या शेष था ! उसने इस डर से अधिक पूछ-ताछ भी नहीं की कि कहीं बात महाराज के कान पर पड़ गयी तो अनर्थ ही हो जायेगा। उसे यह भी पता चल गया था कि न कुणाल ने और न तिष्यरक्षिता ने ही महाराज से उस सम्बन्ध में कुछ कहा था। तिष्यरक्षिता का मौन उसे विशेष चिन्तित किये हुए था। उसने सही अनुमान लगाया था कि तिष्यरक्षिता भयंकर प्रतिशोध लेगी। अधिक चिन्ता तो उसे इस बात की थी कि महाराज बौद्ध-परिषद्

के अधिवेशन में व्यस्त हों और कुणाल सुदूर तक्षशिला में पड़ा हो उस समय तिष्यरक्षिता आन्ध्र अथवा कलिंग अथवा कहीं के भी प्रदेशपति को मिलाकर घातक वार न कर बैठे। सावधानी के लिए उसने तिष्यरक्षिता पर अपना चौकी-पहरा बहुत कड़ा कर दिया था। वह उसे एक क्षण भी अपनी दृष्टि से बाहर रहने नहीं देना चाहता था। उसका सारा ध्यान और समस्त चिन्ता उसी पर केन्द्रित हो गयी थी। लेकिन अब जो यह सुना कि ईशानदेवी ने शक्तिदेवी की एक आँख से आग और दूसरी से आँसू निकलने का लोकापवाद फैला रखा है तो उसको चिन्ता का पार न रहा। इसकी ओट में निश्चय ही जालौक के स्वतन्त्र होने की चाल है। पता लग गया तो अन्य प्रदेशपति भी उसका अनुसरण करेंगे और तिष्यरक्षिता को अपना प्रतिशोध लेने का उपयुक्त अवसर मिल जायेगा।

उसने कहा—महाराज, इसका एक ही उपाय है। कुणालकुमार काश्मीर जायें और प्रदेशपति जालौक के वहाँ भी धर्मानुशासन और शान्ति-सन्देश की घोषणा करें।

'प्रस्ताव तो उचित है। उन्हें जाना भी चाहिए। लेकिन प्रश्न लोगों के भ्रम का नहीं भ्रान्ति का है। उन्हें हेतुपूर्वक विभ्रमित किया जा रहा है। यदि शान्ति-सन्देश सफल न हुआ तो जो नहीं चाहते वही युद्ध महाराज को वहाँ करना पड़ेगा। परिणाम यह होगा कि शान्ति-स्थापना के देश-विदेश में किये गये अब तक के सारे प्रयत्न विफल हो जायेंगे। इसलिए महाराज, मेरी तो यही सम्मति है कि आँखों के उन दोनो रत्नों को ही मँगवा लिया जाये। न रहेगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी।' खल्लाटक ने कहा।

'हाँ, महाराज, मंत्रीश्वर की सम्मति उपयुक्त ही है। कुणालकुमार को लिख भेजिए कि वे दोनो नेत्र-रत्न भेज दें।' तिष्यरक्षिता ने कहा, 'महाराज जो शतकोटि कार्षापण संघ को प्रदान करना चाहते हैं उसमें इन रत्नों का योग भी महत्वपूर्ण होगा। आखिर तो काश्मीर के रत्न हैं।'

'हाँ राधागुप्त, ऐसा ही करो। दोनो रत्न मँगवा लो। जब कारण ही नहीं रहेगा तो कार्य कहाँ से होगा, भ्रान्ति कहाँ से फैलेगी?'

आयु अभी तक चुप खड़ा था। अब वह बोला—केवल राज बदलने और

विप्लव होने की ही अफवाहें नहीं हैं महाराज। मथुरा से आगे बढ़ते ही ठेठ काश्मीर तक बारह वर्ष का अकाल पड़ने की अफवाह भी सुनने को मिलती है। यह भी आँखों के उन दोनो रत्नों का ही प्रताप है महाराज।

'तो राधागुप्त, यही निश्चय रहा कि उन रत्नों को मँगवा लिया जाये। हम यहाँ से बदले में दूसरे रत्न भेज देंगे। शान्ति-घोषणा के समय हम स्वयं ही अपनी ओर से बदले के रत्न भेंट करेंगे।'

राधागुप्त बोला—महाराज का कथन यथार्थ है। रत्न मँगवा ही लिये जायें। बात जमने से पहले ही उसकी जड़ काट देनी चाहिए।

उस दिन अधिवेशन की कार्यवाही समाप्त होते-होते बात पक्की हो गयी। महाराज सन्देश भेजेंगे और दोनो नेत्र-रत्न मँगवा लिये जायँगे।

और तिष्यरक्षिता मन-ही-मन मुदित हो रही थी; परन्तु उसने मन के आनन्द का जरा-सा भी आभास अपने मुँह पर प्रकट नहीं होने दिया।

२४ : : महाराज अशोक के आँसू

भगवान तथागत के शब्दों का मनमाना अर्थ करनेवाले भिक्खु दस-बीस या पचास-पाँच सौ नहीं, पूरे साठ हजार थे। अपने मनमाने अर्थ के अतिरिक्त दूसरा कोई भी अर्थ मानने को वे तैयार नहीं थे। अपने लगाये अर्थ का वे धड़ल्ले से उपयोग करते थे। उनके अनुयायियों की संख्या भी कम नहीं थी। ये भिक्षु बात-बात में हवाला दिया करते कि 'भगवान ने यों कहा' और 'भगवान ने त्यों कहा'। उद्देश्य केवल यही था कि इस प्रकार वे अपने महत्व को बढ़ा सकें, अपनी सत्ता को स्थापित कर उसे अचल बनाये रख सकें। जिस प्रकार आज बापू के नाम की सौगन्ध खानेवाले, बात-बात में 'बापूजी ने यों कहा था' और 'बापूजी ने त्यों कहा था' कहनेवाले मूर्ख नेताओं की कमी नहीं, उसी प्रकार भगवान बुद्ध की मृत्यु के बाद के वर्षों में बौद्ध-संघ में एक पूरा भिक्खु-सम्प्रदाय ही उठ खड़ा हुआ था। उन मूर्खों को बौद्ध दर्शन और बुद्ध के सिद्धान्तों से कोई मतलब नहीं था। बुद्धवचन का हवाला देकर हर घड़ी अपनी गोटी लाल करने के गुनताड़े में लगे रहते थे। ऐसे समस्त अनधिकारियों को संघ से निकाल बाहर करने और बुद्धवचन को प्रामाणिक रूप देने

के ही लिए महाराज अशोक ने साधु उपगुप्त के सभापतित्व में बौद्ध-परिषद् के अधिवेशन का आयोजन किया था।

उस परिषद् का अधिवेशन पूरे नौ महीने तक होता रहा। अत्यधिक परिश्रम के उपरान्त बुद्धवचन और उनके अर्थ को व्यवस्थित किया जा सका। 'कथावत्थु' नामक एक प्रामाणिक ग्रन्थ तैयार हुआ। साठों हजार अनधिकारी भिक्खुओं की प्रव्रज्या रद्द कर दी गयी। उनके पीत चीवर उतरवा लिये गये। उन्हें संघ की विशाल बिरादरी से निकाल बाहर किया गया। और भगवान तथागत की प्रामाणिक वाणी, 'कथावत्थु' को लेकर, हजारों सच्चे भिक्खु सारे भारत और भारत के पार भी उसके प्रचारार्थ निकल पड़े।

यह समस्त कार्य महाराज अशोक की प्रेरणा, प्रोत्साहन और सहयोग से हुआ था। राजकोष से अपार धन इस कार्य में व्यय हो चुका था और अभी भी किया जा रहा था। यहाँ तक कि कार्षापण की खींच-तान होने लगी। राजकोष लगभग खाली हो चला। परन्तु महाराज अशोक का हाथ न रुका। और वह तो संकल्प किये हुए थे कि परिषद् के महान अनुष्ठान को चालू रखने के लिए एक मुश्त शतकोटि कार्षापण संघ को समर्पित किये जायें। शान्ति, अहिंसा और अवैर के लिए सर्वस्व समर्पित करनेवाले राजोत्तम के लिए ऐसा संकल्प कोई बहुत बड़ी बात नहीं थी।

परन्तु प्रश्न यह था कि कार्षापण कहाँ से आयें? प्रधान मंत्री खल्लाटक ने महाराज को आश्वासन दिया था कि अनृण्ये होने के महाराज के धर्म-प्रयत्नों में कार्षापण के व्यय पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया जायेगा। लेकिन अब स्थिति यह था कि राजकोष में प्रचुर मात्रा में कार्षापण नहीं थे और जो कुछ द्रव्य था भी उसे चन्द्रगुप्त-सभा और प्रमुख कार्यवाहक मंत्रियों की अनुमति के बिना राजप्रतिनिधि दशरथकुमार भी छू नहीं सकता था। यह स्थिति महाराज अशोक के लिए बहुत ही चिंन्तनीय हो उठी थी।

कहा जाता है कि रघुवंश के किसी राजा के लिए इन्द्रदेव ने आकाश से सोने की वर्षा की थी। लेकिन इन्द्रदेव भी एक बार सोना बरसाकर रह गये। बाद में उन्होंने कभी किसी के लिए सोना नहीं बरसाया, पता नहीं भूल गये या सोना ही नहीं रहा—यह इन्द्रदेव ही जानें! सोना बरसा नहीं और कार्षा-

पण की कमी बराबर बनी रही और बौद्ध-संघ को शतकोटि कार्षापण दान करने की महाराज अशोक की महेच्छा पूर्ण न हो सकी।

एक सहस्र बौद्ध विद्वानों की परिषद् अब भी हो रही थी, लेकिन अनन्त काल तक तो वह होती नहीं रह सकती थी। उसके समापन के पहले ही शत-कोटि कार्षापण समर्पित किये जा सकें तभी महाराज अशोक की बात रह सकती थी। इसलिए निरुपाय होकर महाराज ने राधागुप्त को बुलवाया।

लेकिन राधागुप्त तो चाहता नहीं था कि महाराज इतना रुपया बौद्ध-संघ को दें। सच में तो कोई भी मंत्री यह नहीं चाहता था। इसलिए पहली बुलाहट में तो राधागुप्त आया ही नहीं, उसने विचार करने के लिए समय माँग लिया। दूसरी बार बुलाहट होने पर आया तो राजभांडारिक आर्य बीमार हो गया। तीसरी बार दोनो को पकड़ बुलाया गया तो यह बात सामने आयी कि दशरथ-कुमार की अनुमति के बिना कुछ हो नहीं सकता। इस तरह किसी-न-किसी बहाने बात लम्बाती गयी और महाराज दान का अपना संकल्प पूरा न कर सके।

अन्त में एक बार महाराज के प्रधान अनुचर इन्द्रायु ने आधीरात में आकर राधागुप्त को नींद से जगाया और उसे उसी समय अपने साथ राज-महल ले चला। मार्ग में राधागुप्त को पता चला कि इसी प्रकार खल्लाटक, राजभांडारिक और दशरथकुमार को भी बुलाया गया है। राधागुप्त का माथा ठनका। वह समझ गया कि शतकोटि कार्षापण के दान की ही बात होनी चाहिए। उसने मन-ही-मन निश्चय किया कि महाराज की इस 'अति' पर अंकुश लगाना ही होगा। अपने सहयोगियों-सहकर्मियों से तो वह पहले ही कह चुका था कि राजकोष खाली हुआ जा रहा है और यदि कोई विदेशी आक्र-मण हो गया अथवा किसी प्रादेशिक ने विद्रोह कर दिया तो रिक्त राजकोष सर्वनाश का कारण हो जायेगा; इसलिए चन्द्रगुप्त-सभा की अनुमति के बिना राजभांडारिक किसी को राजकोष से एक भी कार्षापण न दे। यही बात उसने दशरथकुमार को भी समझा दी थी और कह दिया था कि इस परिपाटी का अनुसरण किया गया तभी मगध बच सकेगा; इसलिए राजकोष से महाराज को भी कुछ न दिया जाये; कार्षापण रहेंगे तो सेना रहेगी, शासन रहेगा, व्यवस्था रहेगी और तभी मगध रह सकेगा।

जब राधागुप्त राजभवन में पहुँचा तो महाराज अशोक एक सिंहासन पर और खल्लाटक, दशरथकुमार, आर्य आदि हाथ बाँधे यथास्थान बैठे थे। तिष्यरक्षिता महाराज की सेवा-शुश्रूषा में थी। राधागुप्त महाराज को प्रणाम कर, उनका आदेश पा, सामने चन्दन की एक चौकी पर बैठ गया।

महाराज ने उससे कहा—राधागुप्त, चर्चा तो बड़ी लम्बी है, लेकिन पहले यह बताओ कि यहाँ का राजा कौन है ? तुम मगधपति किसे मानते हो ? मैं मगधपति हूँ या नहीं ? मैंने दूसरों से भी पूछा है और तुमसे भी यही पूछ रहा हूँ।

'महाराज, यह प्रश्न क्यों ? राज्य महाराज का है। मगधपति महाराज हैं। महाराज को विश्राम-लाभ हो इसलिए इस शिशु को राजप्रतिनिधि नियुक्त किया है। लेकिन मगधपति तो महाराज ही हैं।'

'सभी ने यही उत्तर दिया है राधागुप्त। सभी का यही कहना है कि हम राजा हैं। लेकिन आज हमें ऐसा स्वप्न आया, मानो हम मगधपति नहीं।'

'महाराज, स्वप्नों का क्या ? वे तो आते-जाते रहते हैं।'

'इस संसार की भाँति और हमारे मगधपति के पद की भाँति, क्यों ?'

'महाराज ही मगधपति हैं। हम सब शपथपूर्वक कहने को प्रस्तुत हैं। परन्तु महाराज के इस प्रश्न का प्रयोजन मेरी समझ में नहीं आया।'

'प्रयोजन स्पष्ट है महामात्य !' तिष्यरक्षिता ने कहा, 'आपके महामंत्री ने ही एक दिन कहा था कि महाराज के धर्मानुशासन के लिए कार्षापण की कमी न रहेगी; लेकिन आज महाराज को कार्षापण चाहिए और मिल नहीं रहे। प्रत्येक यही कहता है कि मैं नहीं दे सकता। तो फिर दे कौन सकता है ?'

'चन्द्रगुप्त-सभा के अतिरिक्त कोई भी नहीं दे सकता देवि।' राधागुप्त ने दृढ़तापूर्वक कहा।

'तो चन्द्रगुप्त-सभा का अधिवेशन करो। महाराज को शतकोटि कार्षापण दान के निमित्त चाहिए। बौद्ध-संघ को समर्पित करने का महाराज ने संकल्प किया है। महाराज का वचन-भंग हुआ तो राजा की प्रतिष्ठा कहाँ रहेगी ?'

'महारानीजी चन्द्रगुप्त-सभा का अधिवेशन तो अब राजप्रतिनिधि दशरथ-कुमार ही बुला सकते हैं, लेकिन कार्षापण देने के लिए तो वह भी नहीं बुला सकते।'

'क्यों ? क्या हम मगधपति नहीं ?' महाराज अशोक ने कुछ खिन्न होकर पूछा।

'मगधपति तो महाराज ही हैं; परन्तु कार्षापण राजभंडार के हैं और राजभंडार मगधपति का नहीं, जनता का है। राजप्रतिनिधि दशरथकुमार चन्द्रगुप्त-सभा का अधिवेशन बुला सकते हैं, परन्तु कार्षापण के सम्बन्ध में उन्हें सतर्क रहना होगा। महाराज उन्हें आदेश प्रदान करें, पृच्छा करें।'

महाराज अशोक ने दशरथ की ओर देखते हुए कहा—दशरथ, एक शतकोटि कार्षापण राजभांडारिक प्रदान करे। यह हमारा संकल्प है। मन के इस ऋण से उऋण होकर ही हम अनृण्ये हो सकते हैं। राजभांडारिक आर्य आगे आयें....

राजभांडारिक आर्य आगे आया। राधागुप्त डरा कि कहीं दशरथकुमार झुक न जाये और कार्षापण प्रदान करने की स्वीकृति न दे दे। लेकिन तभी दशरथ ने हाथ जोड़कर निवेदन किया—महाराज, राजभांडारिक देने के लिए नहीं, संग्रह करने के लिए है। हमें चन्द्रगुप्त-सभा....

'तो चन्द्रगुप्त-सभा को बुलाओ। दशरथ, हमारा वचन-भंग हुआ तो जीकर ही क्या होगा ?'

'महाराज, चन्द्रगुप्त-सभा का अधिवेशन बुलाकर भी क्या होगा ? कार्षापण मगधपति के नहीं, मगध के सिंहासन के भी नहीं....'

सब लोग यह सुनकर चौंक पड़े। कांचनमाला घबराकर खड़ी हो गयी और दशरथ को समझाते हुए बोली—बेटा ! यह तू क्या कह रहा है ! महाराज तो पितामह हैं। बड़ों के सामने ऐसी बात....बेटा....

'परन्तु मा, मैं राजप्रतिनिधि जो हूँ। मगध का एक भी कार्षापण चन्द्रगुप्त-सभा की अनुमति के बिना महाराज को कैसे दे सकता हूँ ? मैंने राजकोष देखा है मा; उसे देखने के बाद तो मैं चन्द्रगुप्त-सभा का अधिवेशन इस सम्बन्ध में बुला ही नहीं सकता। मगध की महान परिपाटी का मैं एक विनम्र वाहक ही तो हूँ। महाराज ने आजीवन जिस परम्परा का निर्वाह किया है उसे आज मैं कैसे भंग कर दूँ ? मैं चाहूँ तब भी महाराज को कार्षापण नहीं दे सकता मा।'

'तो फिर कार्षापण किस प्रकार मिल सकते हैं ?' तिष्यरक्षिता ने पूछा।

और महाराज ने विषाद-गहन स्वर में खिन्नतापूर्वक कहा—वचन जाने से तो प्राण जाना ही अच्छा है राधागुप्त !....क्या कोई उपाय है ही नहीं ?

'नहीं महाराज, कोई उपाय नहीं है।' राधागुप्त ने दृढ़तापूर्वक कहा, 'कार्षापण प्रजा के हैं, प्रजा के लिए हैं। अकाल, दैविक आपत्ति, आक्रमण, विद्रोह और विपत्ति में प्रजा के हित के लिए व्यय करने के हेतु हैं। प्रजा उन्हें माँग सकती है, खर्च कर सकती है, उनका उपयोग कर सकती है। मगध का सिंहासन प्रजा के ही लिए कार्षापण का संग्रह और संचय करता है, अपने मन की मौज से व्यय नहीं करता। किसी एक संघ को तो कदापि समर्पित नहीं कर सकता। यह राज्य है महाराज, संघ नहीं।'

'तुम्हारे कहने का कहीं यह अभिप्राय तो नहीं कि हम राजा ही नहीं हैं।'

'नहीं महाराज ! राजा तो आप हैं। राज्य भी आपका ही है। परन्तु कार्षापण प्रजा के हैं, अकेले राजा के नहीं। समस्त राज्य के लिए हैं। जिस देश और राज्य में प्रजा की गाढ़ी कमाई का धन राजा और राज्य कर्मचारी मनमाने ढंग से व्यय करते हैं, एक वर्ग अथवा एक पक्ष के लिए खर्च करते हैं वह देश नष्ट हो जाता है। महाराज कहते हैं कि यदि एक शतकोटि कार्षापण दान के निमित्त प्राप्त न हुए तो महाराज प्राण त्याग देंगे। तो मैं भी कहता हूँ कि यदि राजकोष के कार्षापण एक वर्ग अथवा पक्ष के लिए व्यय किये गये तो मैं भी जलसमाधि ले लूँगा। मगध जीवित रहा तो राधागुप्त कई मिल जायेंगे।'

महाराज अशोक की आँखों में आँसू आ गये। उन्होंने राधागुप्त से कहा—कल सवेरे हम साधु उपगुप्त के भिक्षापात्र में क्या डालेंगे ? हमने तो शतकोटि कार्षापण का दानपत्र डालने का निश्चय किया था। आह, अब क्या होगा ?

'महाराज, मेरे मतानुसार तो अब कुछ नहीं हो सकता। हाँ, राजप्रतिनिधि जो उचित समझें कर सकते हैं।'

यह सुनकर दशरथकुमार ने दृढ़ वाणी में कहा—महाराज, इस प्रकार कार्षापण देना, मेरी सम्मति में, तो चोरी है। आत्मप्रशंसा और दानवीर कहलाने के लोभ में लाखों कार्षापण व्यय करनेवाले सभी सत्ताधारियों को मैं चोर समझता हूँ। सच्चा दानवीर वह है जो समय पर, देख-भालकर और

आवश्यकता के अनुसार दे। जो एक पक्ष अथवा वर्ग को देता है वह राजा नहीं। मैं राजभांडारिक को 'हाँ' नहीं कह सकता, क्योंकि राजप्रतिनिधि हूँ; 'ना' नहीं कह सकता, क्योंकि महाराज पितामह हैं, पूज्य हैं। महाराज मेरी विवशता को क्षमा करें, मैं कोई निर्णय नहीं कर सकता।

'लेकिन मैं तो निर्णय कर चुका हूँ महाराज, और अपने निर्णय से देव को अवगत भी कर चुका हूँ।' राधागुप्त ने कहा, 'कार्षापण प्रजा के हैं, प्रजा के लिए हैं—समस्त प्रजा के लिए, किसी एक वर्ग अथवा पक्ष के लिए नहीं।'

महाराज अशोक विषण्ण हो गये। उनकी आँखों से आँसू बहने लगे। उन्होंने दोनो हाथ जोड़कर कहा—आप लोग जा सकते हैं। शान्ति के प्रचारार्थ सर्वस्व भी दे दिया जाये तो वह भी थोड़ा है। लेकिन नहीं, आप लोग इस बात को समझ नहीं सकते....खैर, जाइए! कलह से नहीं, शान्ति से कार्षापण आप देंगे....

महाराज अशोक चुप हो गये। राधगुप्त प्रणाम कर के उठ खड़ा हुआ। दूसरों ने भी उसका अनुसरण किया। दशरथकुमार ने उठकर महाराज को प्रणाम किया और बड़ी देर तक उनके चरणों में सिर नवाये पड़ा रहा।

२५ : : महाराज का सन्देश

महाराज अशोक की विषण्णता और विषाद का पार न था। उनका महान स्वप्न—विश्व-शान्ति के लिए लाख-करोड़ ही नहीं अरब-खरब कार्षापण दान करने का स्वप्न—छिन्न-भिन्न हुआ जा रहा था। जीवन-भर साधना के जिस वृक्ष को वह अपने हृदय-रक्त से सींचते आये थे आज उसी के जड़मूल पर कुठाराघात हो रहा था और वह भी स्वयं अपने ही स्वजनों के हाथों। अपनी ही तीसरी पीढ़ी विरोधियों से जा मिली थी। दशरथ-जैसा पौत्र कूटनीतिज्ञ राधागुप्त के हाथ का खिलौना बना शान्ति-नीति के स्थान पर युद्ध-नीति का, विजय-यात्राओं का समर्थन कर रहा था। राधागुप्त के कथन का सार यही था कि कार्षापण शान्ति के लिए नहीं युद्ध और सैनिक तैयारियो के लिए हैं।

शान्ति का जो सन्देश भारतवर्ष की सीमाओं को पारकर विदेशों तक में

प्रचलित हो चुका था उसी के लिए शतकोटि कार्षापण की कृपणता ! यह तो अनुदारता की सीमा ही हो गयी !

क्यों हैं राधागुप्त के मन में सन्देह, इतनी भ्रान्तियाँ ? क्यों वह शस्त्रास्त्रों और सैनिक सामर्थ्य पर इतना विश्वास करता है ? प्रदेश जीतने और शत्रुदल को पराजित करने में क्यों है उसकी इतनी श्रद्धा ?—महाराज स्थिति पर जितना ही विचार करते थे उनकी ग्लानि और विषाद बढ़ता जाता था।

तिष्यरक्षिता तो अपनी अभीष्ट सिद्धि के लिए ऐसे अवसर की ताक में ही थी। उसने महाराज को सान्त्वना देते हुए अपनी मधुर, मंजुल वाणी में कहा—महाराज, सांघातिक वार सदैव स्वजन ही करते हैं। लेकिन हमें तो प्रत्येक आघात का अवैर से ही निवारण करना है। कभी-न-कभी इन अज्ञानियों को भी समझ आयेगी। परन्तु अभी तो प्रश्न है महाराज के वचन-पालन का। साधु उपगुप्त के भिक्षापात्र में कुछ-न-कुछ तो डालना ही होगा। तो महाराज, क्यों न उन नेत्र-रत्नों को दे दिया जाये। महाराज के वचन का पालन भी हो जायेगा और साम्राज्य की प्रजा झूठे भय और आतंक से बच भी जायेगी। मेरा सुझाव तो यही है कि तत्काल किसी अश्वारोही को दौड़ा देना चाहिए। बात तो तब है कि किसी को कानोकान पता न चले और नेत्र-रत्न आ जायें। जब महाराज वहाँ जायेंगे तो शक्तिदेवी का बदले में अन्य रत्न समर्पित कर दिये जायेंगे। उन रत्नों को वैसे भी मँगवाना आवश्यक हो गया है। अकाल, अनावृष्टि की अफवाहें जोर पकड़ती गयीं तो धर्मानुशासन के महाराज के अब तक के समस्त प्रयत्न विफल हो जायेंगे। फिर अब तो उन रत्नों की सहायता से महाराज अपने वचन का पालन भी कर सकते हैं !

शक्तिदेवी के नेत्र-रत्न मँगवाने की बात तो महाराज के मन में भी थी, परन्तु उन रत्नों के द्वारा अपनी दानेच्छा की पूर्ति भी की जा सकती है, यह उन्होंने कभी नहीं सोचा था। अब जो तिष्यरक्षिता ने यह बात सुझायी तो महाराज मुग्ध हो उठे। उन्होंने ऐसी प्रशंसात्मक दृष्टि से उसकी ओर देखा जो कह रही थी, शान्ति की रक्षा के लिए और वचन का पालन करने के लिए अब यही एक तरणोपाय रह गया है। अवश्य ऐसा ही करना होगा।

तिष्यरक्षिता उस दृष्टि को देखकर समझ गयी कि लोहा लाल है। उसने

ताबड़तोड़ चोटें मारते हुए कहा—और महाराज, एक दिन मैं स्वयं आपकी धर्म-घोषणा के प्रचारार्थ उस प्रदेश में जाना चाहती हूँ।

महाराज ने उमंग में भरकर कहा—सच कह रही हो? तब तो सारा वातावरण ही बदल जायेगा....

'अभी तक साहस न होता था महाराज! लेकिन जब ईशानदेवी वहाँ शक्ति-ध्वज फहरा रही है तो यहाँ से भी किसी को शान्ति-ध्वज फहराने के लिए वहाँ जाना ही होगा। मन कहता है कि मैं ही जाऊँ; मेरे अतिरिक्त अन्य कोई वहाँ सफल नहीं हो सकता, शान्ति की पताका को आरोपित नहीं कर सकता।'

'बिलकुल ठीक कहता है तुम्हारा मन। हम दोनो चलें तो लोगों के समस्त भ्रम, सभी भ्रान्तियाँ निर्मूल हो जायेंगी।'

'हाँ महाराज, अवश्य चलेंगे। लेकिन पहले महाराज के वचन का पालन तो हो जाये। उसके बाद चलेंगे। राधागुप्त आदि भी धर्मानुशासन की ओर तभी प्रवृत्त होंगे। मैं तो कहती हूँ कि देखते-ही-देखते महाराज की धर्मनीति के डंके सारे विश्व में बजने लगेंगे।'

तिष्यरक्षिता की सहानुभूतिपूर्ण उत्प्रेरक वाणी ने महाराज का सारा विषाद हर लिया। अब तो यहाँ से जितना जल्दी निकला जा सके उतना ही अच्छा। अविलम्ब सन्देशवाहक भेजना चाहिए। ईशानदेवी के सन्देशवाहक से कह ही दिया था। इस सन्देशवाहक के पहुँचते ही वे शीघ्रता करेंगे।

महाराज ने लिपिकार को बुलवाया। स्वर्णपत्र पर एक संक्षिप्त सन्देश उत्कीर्ण करवाया गया। उसमें आदेश दिया गया था कि

"नेत्रों के रत्न तत्काल भेजे जायें। महाराज के जीवन-मरण का प्रश्न है। पल का भी विलम्ब न हो। महाराज जीवित रहे तो संसार जीवित रहेगा। रत्न तो कल लौट जायेंगे और न भी लौटे तो क्या। लेकिन महाराज मगधपति न रहे तो संसार अँधेरा हो जायेगा। यह आदेश है।"

स्वर्णपत्र को बहुमूल्य चीनांशुक में लपेटा गया। एक छोटी-सी सुघड़, सुन्दर चन्दन-मंजूषा में उसे रखा गया। ऊपर चारों ओर रज्जु से बाँधकर त्वरा-ग्रन्थि लगा दी गयी। अब केवल महाराज की मुद्रा लगने की देर थी। वह लग जाये तो सन्देशवाहक रवाना हो।

अश्वारोही आ गया था। वह राजमहल के प्रवेश-द्वार पर खड़ा सन्देश-मंजूषा की प्रतीक्षा कर रहा था। परन्तु महाराज अभी अपने शयनागार में विश्राम कर रहे थे। लिपिकार के जाते ही वह क्लान्ति मिटाने शयनागार में चले गये थे। प्रतीक्षा से उकताकर अश्वारोही सन्देशवाहक ने एक यवनी को भीतर भेजा। वह आकर महाराज के शयनागार के द्वार पर खड़ी हो गयी। महाराज अभी सो रहे थे।

देर हुई जा रही थी। तिष्यरक्षिता महाराज को जगाने शयनागार में गयी। महाराज नींद में थे, व्यग्र प्रतीत होते थे और उनका मुँह कुछ खुला हुआ था। तिष्यरक्षिता को याद आ गया कि महाराज की दन्तमुद्रावाले सन्देश को ही कुणाल मानेगा। उसने वहीं-के-वहीं लाख तपायी और सावधानी से महाराज के दाँत की छाप उस पर ले ली। महाराज के मोती-जैसे दाँतों की पंक्ति लाख में उभर आयी। मंजूषा की दूसरी ओर उसने महाराज की अंगुलिमुद्रा की छाप भी लगा दी। फिर मंजूषा को सावधानी से लिये हुए बाहर आयी और यवनी से बोली—कहाँ है अश्वारोही? महाराज का आदेश है कि अभी तत्काल चल पड़े....

उसने दुर्गपाल के लिए महाराज की राजमुद्रा भी उसे दी। फिर जाने क्या सोचकर स्वयं दौड़ती हुई नीचे पहुँची और जाते हुए अश्वारोही को रोककर बोली—देखो अश्वारोही, एक पल की भी कहीं विलम्ब नहीं होनी चाहिए। यह सामान्य सन्देश नहीं है, स्वयं महाराज का आदेश है। तुम्हारा अश्व कैसा है?

'बहुत उत्तम। वनायु जाति का है। थकना तो जानता ही नहीं।'

'तुम्हारा नाम क्या है?'

'कदम्बक!'

'अच्छी बात है, जाओ! साँस लेने को भी मत ठहरना। मार्ग में किसी का विश्वास न करना। सगा भाई ही क्यों न हो, किसी को भेद न देना, न मंजूषा ही किसी के हवाले करना। सीधे जाकर कुणालकुमार से मिलना। समझ गये न, किससे मिलोगे?' अन्तिम वाक्य उसने धीमे से पूछा था।

'कुणालकुमार से।'

'हाँ, कुणालकुमार से। वह तक्षशिला में ही होंगे। जाते ही मिलना। आधी-रात हो या दिन-दुपहर, एक क्षण की भी देर मत करना। यदि कोई रोके तो

कहना कि महाराज का आदेश है। राजमुद्रिका तुम्हें दी जा चुकी है। उसे दिखाओगे तो कोई रोकेगा नहीं। लौटानी में भी विलम्ब न करना। तत्काल लौटकर आना....भागे जाओ....भागे आओ!'

कदम्बक ने प्रणाम किया और दूसरे ही क्षण उसका क्षिप्रगामी अश्व आँखों से ओझल हो गया। तिष्यरक्षिता खड़ी घोड़े को, और फिर उसकी उड़ाई हुई धूल को देखती रही। फिर आँखों में क्रूर आनन्द और सन्तोष की दीप्ति लिये लौट पड़ी। एक क्षण के लिए उसे सन्देह हुआ कि कहीं नाम बताने में भूल तो नहीं हो गयी—कुणाल के बदले ईशानदेवी का नाम तो नहीं बता गयी? परन्तु दूसरे ही क्षण उसे अपने सन्देह पर हँसी आ गयी।

'अरे, नाम तो ठीक ही बताया है। ईशानदेवी काश्मीर में है और मैंने उसे तक्षशिला जाने को कहा है। कैसी भुलक्कड़ हूँ मैं भी!'

और वह आनन्द से थिरकती हुई अन्दर पहुँची। महाराज अभी तक शय्या में सोये खर्राटे भर रहे थे। वह अपनी वीणा लेकर बैठ गयी और मन्द, मधुर, मूर्च्छना के स्वर में एक रागिनी बजाने लगी। वह जानती थी कि इस रागिनी को सुनकर महाराज की नींद सदा गहरी हो जाती है। वह बजाती रही और महाराज नींद में बेसुध होते गये।

जब महाराज जागे तो सवेरा हो गया था। जागते ही महाराज को याद आया कि कदम्बक को बुलाया था। उन्होंने तिष्यरक्षिता से पूछा—कदम्बक कहाँ है?

'वह तो रात ही रवाना हो गया। महाराज ने ही तो उसे तत्काल चल पड़ने के आदेश प्रदान किये थे। सवेरा होने पर जाता तो लोगों को व्यर्थ ही सन्देह होता।'

'लेकिन सब ठीक से समझ तो लिया था न उसने?'

'उसे क्या समझना था? स्वर्णपत्र का लेख सब समझा देगा।'

महाराज सन्तुष्ट हो गये। उन्हें प्रसन्नता थी कि अब वह अपने वचन का पालन कर सकेंगे।

उसी दिन से महाराज कदम्बक के लौटने की उत्सुकता से प्रतीक्षा करने लगे।

२६ : : कुणाल की पितृ-भक्ति

आधी रात के समय जब पाटलिपुत्र का अश्वारोही सन्देशवाहक कदम्बक महाराज की सन्देश-मंजूषा लेकर कुणाल के समक्ष उपस्थित हुआ तो वह अनेक प्रकार की अनिष्ट चिन्ताओं से व्यथित मन-ही-मन काँप उठा। उसने व्यग्र होकर पूछा—महाराज कैसे हैं? कहाँ हैं? तुम पाटलिपुत्र से कब चले?

'महाराज पाटलिपुत्र में ही स्वस्थ और सानन्द हैं। बौद्ध-परिषद् का अधिवेशन हो रहा है। एक सहस्र भिक्खु कार्य में लगे हैं। महाराज प्रतिदिन साधु उपगुप्त के साथ वहाँ सम्मिलित होने के लिए संघाराम जाते हैं।'

यह सुना तो कुणाल को कुछ शान्ति हुई। अब उसने महाराज की भेजी हुई सन्देश-मंजूषा को देखा। ऊपर दन्तमुद्रा देखते ही वह समझ गया कि कोई महत्वपूर्ण सन्देश होना चाहिए। उसने मंजूषा को उठाकर सिर-आँखों पर लगाया। फिर प्रणाम किया। एक बार और दन्तमुद्रा को ध्यानपूर्वक देखकर महाराज के सन्देश को बाहर निकाला।

चीनांशुक के आवेष्टन में से स्वर्णपत्र को निकालकर निर्धारित उत्कीर्ण लिपि को देखा। कोई उस लिपि में परिवर्तन नहीं कर सकता था। लेकिन सन्देश पढ़ते ही उसके हाथों के तोते उड़ गये।

एक बार पूरा सन्देश पढ़कर वह अपने स्थान से उठा और दीपाधार के निकट जाकर दीये की ज्योति में पुनः एक-एक अक्षर को ध्यानपूर्वक पढ़ा।

'सन्देशवाहक, यह सन्देश स्वयं महाराज ने ही दिया है?'

'हाँ देव!'

'पाटलिपुत्र में इधर कोई नयी घटना तो नहीं घटी? कोई अफवाह, किसी सीमान्त का विद्रोह, किसी शत्रु का भय, या ऐसी ही कोई बात जिसे लेकर लोक-समूह व्यग्र और चिन्तित हो?'

'और तो कोई बात नहीं है देव! केवल महाराज के गहन विषाद की बात वातावरण में है। सुनते हैं कि महाराज को शासन में कोई रस नहीं रहा। प्रतिक्षण अशान्ति का अनुभव करते हैं। स्वप्न देखते हैं, मानो मगध के स्वामी नहीं रहे।'

'क्या कारण है सन्देशवाहक ? भिषग्वर आकाशगोत्र, महारानी तिष्यरक्षिता और स्वजनों की इस सम्बन्ध में क्या सम्मति है ?'

'निश्चित तो कुछ कहा नहीं जा सकता। लेकिन सुनते हैं कि बौद्ध-संघ को शतकोटि कार्षापण प्रदान करने का संकल्प पूरा नहीं हो पा रहा है।'

'क्यों ? क्या कारण है ?'

'सुनते हैं कि महामात्य राधागुप्त ने राजकोष से कार्षापण देना अस्वीकार कर दिया है।'

'अरे ! राधागुप्त ने महाराज को कार्षापण देना अस्वीकार कर दिया ! आश्चर्य ! परम आश्चर्य !! लेकिन राजप्रतिनिधि दशरथकुमार क्या कहते हैं ?'

'देव, सुनते हैं कि उन्होंने भी अस्वीकार कर दिया।'

'हा, हन्त ! मैं यह क्या सुन रहा हूँ ? सन्देशवाहक, तुम असत्य तो नहीं कह रहे ? दशरथ पुत्र होकर पितृ-आज्ञा की अवहेलना करे ! असम्भव !'

'देव शान्त हों ! मैं सत्य ही कह रहा हूँ। सारे पाटलिपुत्र नगर में यही चर्चा है कि महाराज के स्वजनों ने स्वीकार नहीं किया और महाराज का वचन भंग हुआ जा रहा है। इसी लिए महाराज विषण्ण हैं। अपने वचन का पालन करना चाहते हैं। महाराज के मुख पर आन्तरिक पीड़ा स्पष्ट लक्षित होती है देव !'

कुणाल चिन्तित हो उठा। अब महाराज के इस विचित्र आदेश का अभिप्राय उसकी समझ में आया। महाराज अपने वचन-पालन की प्रतीति करवाना चाहते हैं। प्राण भले ही जायें, पर प्रण नहीं जाना चाहिए। संकल्पित दान की पूर्ति का आश्वासन महाराज और किस प्रकार देते ? और यह कितने दुर्भाग्य की बात है कि दशरथ महाराज के आदेश की अवहेलना करे ! दशरथ आखिर है तो मेरा ही पुत्र। पुत्र के इस कुकृत्य के लिए मैं ही उत्तरदायी हूँ। यह दशरथ ने नहीं, स्वयं मैंने ही महाराज की अवहेलना की है ! इसका दंड भी मुझे ही भुगतना चाहिए। प्राण देकर भी इस पाप का प्रायश्चित्त नहीं किया जा सकता। अपराध की गुरुता को देखते हुए महाराज का आदेश तो कुछ भी नहीं है। इस आदेश का अविलम्ब पालन होना चाहिए। महाराज मेरे पिता ही नहीं, शान्ति के महान उपासक हैं। शान्ति के लिए लक्षकोटि कार्षापण का व्यय भी कुछ नहीं, उसके लिए तो जीवन तक समर्पित होना चाहिए। लेकिन उसी

महापुरुष को शतकोटि कार्षापण के लिए वचन-भंग का परिताप सहना पड़ रहा है ! कहीं महाराज अनुतप्त होकर प्राण ही न विसर्जन कर दें ।....वह काँप उठा । नहीं, यह नहीं होगा । मैं अपने जीते-जी महाराज का वचन भंग न होने दूँगा । मेरा अहोभाग्य की मेरा शरीर और मेरे ये सुन्दर नेत्र महाराज के काम आ रहे हैं । महाराज महान बौद्ध-संघ को अपने वचन का विश्वास दिलाने के लिए प्रसन्नतापूर्वक मेरे नेत्र समर्पित करें । महाराज की शान्ति की उपासना सतत चलती रहे । शतकोटि कार्षापण का दान देर-अबेर दिया ही जायेगा । अभी महाराज के आदेशानुसार मेरे ये नेत्र ही सही....

उसने महाराज के आदेश-पत्र को सिर-आँखों पर चढ़ाया । फिर ताली बजायी । यवनी के आते ही बोला—कदम्बक, तुम मुख्य द्वारवाले अतिथिगृह में विश्राम करो । इस बीच तुम्हारे सन्देश का प्रत्युत्तर तैयार हो जायेगा । यवनी, इन्हें ले जाओ । और देखो, सेनापति हिमवन्त, अमात्य, राजभांडारिक आदि को बुलाओ । किसी को भिषग्वर नक्षत्रदेव को बुलाने भेजो । नापित को भी बुलवाया जाये । वह तीक्ष्ण, बारीक काम के उपयुक्त औजार लेकर आये । काम जल्दी का है । सभी शीघ्रातिशीघ्र आयें ।

जब आश्चर्यान्वित यवनी चली गयी तो कुणाल कक्ष की प्रत्येक वस्तु को आँखें भर-भरकर देखता रहा । अब यह अन्तिम दर्शन है । समस्त सौन्दर्य को एक बार नेत्र भरकर देख ले । इसके बाद इस धरती का रूप-अरूप कुछ भी देखने को न मिलेगा ।

उधर यवनी के मुँह से सन्देशा सुनकर हिमवन्त, अमात्य, राजभांडारिक, भिषग्वर, नापित सभी चिन्तित हो गये । कुणाल के इस प्रकार अकस्मात् बुलवाने का कोई भी कारण उनकी समझ में नहीं आया । डरे कि पाटलिपुत्र में कोई अनिष्ट न हुआ हो । जो जैसा बैठा या लेटा था वैसा ही भागा आया ।

जब वे पहुँचे तो कुणाल स्नान करके नवीन वस्त्राभूषण धारण किये चला आ रहा था । उसका मुखमंडल गम्भीर और दृढ़ निश्चय की झलक लिये हुए था । आकर वह सिंहासन पर बैठ गया । एक बार उसने चारों ओर इस प्रकार देखा मानो अन्तिम बार वहाँ के दृश्य को आँखों की राह हृदय-पटल पर अंकित कर रहा हो ।

अनुल्लंघनीय समझता हूँ। महाराज ने मेरी आँखें मँगवायी हैं। उन्हें इन आँखों की आवश्यकता है। आदेश बिलकुल स्पष्ट है। मुझे आँखें देनी हैं। नक्षत्रदेव, आप नापित से कहिए कि मेरे दोनो नेत्रों को पूरा-का-पूरा निकाल ले। देर हुई जा रही है।'

'लेकिन क्यों, किस लिए? कहाँ है वह आदेश?' हिमवन्त चिल्ला पड़ा, 'अवश्य कहीं कोई भूल हुई है। आदेश गलत है।'

'चुप रहो हिमवन्त! महाराज के आदेश को गलत कहने का अधिकार किसी को नहीं है। तुम देखना चाहते हो? लो, यह रहा आदेश। देखो इसकी लिपि! पढ़ो इसका अक्षर-अक्षर। सारी बात एकदम स्पष्ट है। यह देखो महाराज की दन्तमुद्रा। अब भी तुम्हें सन्देह है? नहीं हिमवन्त, हम कोई बहाना नहीं कर सकते। कोई विलम्ब नहीं होने दे सकते। हमारा काम है आदेश का पालन करना। नक्षत्रदेव, आप अपना कार्य आरम्भ कीजिए।'

'लेकिन देव,' अमात्य ने स्वर्णपत्र पढ़ते हुए कहा, 'इसमें तो दो नेत्र-रत्न माँगे गये हैं।'

'वही मैं भी कह रहा हूँ। महाराज ने दो नेत्र-रत्न माँगे हैं।'

'इससे यह कहाँ सिद्ध हुआ कि आपके नेत्र माँगे हैं?'

'और कैसे सिद्ध होगा अमात्यवर? आदेश मेरे नाम है, मेरे पास आया है। क्या इसका अर्थ भी खींच-तान करके निकालना होगा? आत्म-समर्पण की माँग की गयी है। आत्मार्पण क्वचित् ही माँगा जाता है। जब जीवन की साधना कसौटी पर चढ़ती है तब माँगा जाता है आत्मार्पण। महाराज ने आदेश देने के पहले एक-दो बार नहीं, हजार बार सोचा होगा, गहन आत्म मन्थन किया होगा। अब उस आदेश की प्रामाणिकता को चुनौती देना, प्रश्न पूछना निरी अधमता है, कायरता और भीरुता भी नहीं। क्या अपना बस चलते महाराज इस तरह की माँग करते? उन्होंने माँगा है, इसका अर्थ केवल इतना है कि यह अनिवार्यता थी, एक यही मार्ग था। इसको जानने के बाद विलम्ब कैसा?

'लेकिन मैं इसे मानने को प्रस्तुत नहीं। मुझे पाटलिपुत्र तक दौड़ आने दीजिए। अभी जाता हूँ। परसों तक लौट आऊँगा। मेरा अश्व हवा की भाँति उड़ सकता है।' हिमवन्त ने कहा।

'ठीक है हिमवन्त ! लेकिन जानते हो, पूछने पर महाराज क्या कहेंगे ?'

'जी नहीं।'

'महाराज अस्वीकार कर देंगे। वचन की रक्षा के लिए माँगी वस्तु न मिलने पर महाराज अपने प्राण ही दे देंगे। याद है, महाराज तो अपने जीवनोद्देश्य के लिए समस्त साम्राज्य ही दिये दे रहे थे। लेकिन मंत्रियों ने यह कहकर नहीं देने दिया कि इस पर अकेले आपका नहीं, आपके वंशजों का भी अधिकार है और आप दूसरों की वस्तु दान नहीं कर सकते। शतकोटि कार्षापण के दान को लेकर भी लगता है, कुछ ऐसा ही मतभेद उत्पन्न हुआ है। बात महाराज के वचन-भंग तक जा पहुँची है। निरुपाय होकर महाराज ने यह आदेश दिया है। मैं उनका उत्तराधिकारी हूँ। वैसे भी पिता का ऋण पुत्र को चुकाना होता है। महाराज की शान्ति की उपासना को आप नहीं जानते, मैं जानता हूँ। मैं पितृहन्ता नहीं बनना चाहता। आदेश आदेश है। उसका पालन होना ही चाहिए। महाराज अशोक-जैसों की विश्व-शान्ति की साधना और आत्मार्पण को हम-आप क्या समझ सकेंगे ? हम तो उनके आदेश पर आत्म-समर्पण करके धन्य ही हो सकते हैं। "मेरा वचन पवित्र है, पूर्ण होकर रहेगा," यह प्रतीति कराने के लिए महाराज ने यह आदेश प्रदान किया है। मैं इसकी अवहेलना करूँ तो मुझे रौरव नर्क में भी ठौर नहीं मिलेगी। जिसे सन्देह हो, जो देख न सकते हों, वे यहाँ से चले जायें। मुझे कोई सन्देह नहीं, कोई शंका नहीं, आश्वस्त हूँ मैं....'

भिषग्वर नक्षत्रदेव आगे बढ़ा मानो प्रियजन के शव को गले लगाने जा रहा हो।

और वहाँ उपस्थित सभी कर्मचारियों ने अपनी आँखें मूँद लीं।

२७ : : कोई जान नहीं पाता

कदम्बक को गये बहुत दिन हो गये। वह अभी तक लौटकर नहीं आया। महाराज अधीर हो उठे। तिष्यरक्षिता उन्हें समझाती—कितना दूर है ! कितने संकट हैं !

महाराज साधु उपगुप्त के भिक्षापात्र में एक दिन चुपचाप दो रत्न डाल देना

चाहते थे, जिसमें समस्त संघ को यह विश्वास हो सके कि शतकोटि कार्षापण के दान का संकल्प पूरा होकर रहेगा।

महाराज का विश्वास इस बात में निरन्तर बढ़ता जाता था कि भगवान तथागत की वाणी पर आचरण करके ही विश्व-शान्ति स्थापित की जा सकती है। शान्ति का केवल वही एक मार्ग है। इस पवित्र कार्य के लिए शतकोटि तो क्या लक्षकोटि कार्षापण का व्यय भी सार्थक है। इसलिए महाराज उन दो मूल्यवान रत्नों के आने की टक लगाये प्रतीक्षा कर रहे थे।

इस बात को जानती थी केवल तिष्यरक्षिता। और किसी को इस सम्बन्ध में कुछ भी मालूम न था।

महाराज चिन्ता करते तो वह कहती—मार्ग विकट है, पता नहीं, आटविकों ने लूट न लिया हो!

'हम कुणाल को सन्देश क्यों न भेजें कि वह ईशानदेवी के यहाँ गये हुए सन्देशवाहक की सुरक्षा का प्रबन्ध करे; काश्मीर की ओर सैनिक भेजे।'

'अब तो बहुत देर हो गयी है महाराज! उसे सावधानी बरतने के आदेश विशेष रूप से दिये गये थे। मेरा मन तो कहता है कि वह आजकल में आया ही चाहिए।'

'यदि कल आ जाये तो तुम्हारे मुँह में घी-शक्कर! क्योंकि कल ही साधु उपगुप्त भिक्षा के लिए आयेंगे।'

तिष्यरक्षिता जानती थी कि कदम्बक को सुबह-शाम में आ जाना चाहिए। उसे गये बहुत समय हो गया था। लेकिन यदि बूढ़े ने उसके लाये रत्न खोल-कर देख लिये, तो? कोई ऐसा उपाय करना चाहिए कि अभी बात खुलने न पाये। उसने कहा—महाराज, कदम्बक को आप आया ही समझिए। उसकी कोई चिन्ता नहीं। परन्तु दान के लिए उत्सर्गित रत्नों को देखना क्या मोह नहीं? जो दे दिया, देने का संकल्प कर लिया उसे फिर क्या देखना? मुझे तो यह सुहाता नहीं!

महाराज अशोक ने भी सोचकर देखा कि रानी की बात सच है। मन पर निग्रह न हो तो दान कैसा? दान का हेतु ही है मनोनिग्रह। बोले—साधु देवि, साधु! कितनी उच्च कल्पना है! कितना महान त्याग है! तुम्हारा कहना ठीक

ही हूँ। कदम्बक की लायी मंजूषा को हम बिना खोले और बिना देखे ही भिक्षापात्र में रख देंगे।

'लेकिन इस कल्पना के लिए तो महाराज, मैं आपकी ही आभारी हूँ। आपने ही एक बार कहा था कि एक भिक्खु अपनी ही माता के यहाँ निमंत्रित होकर भोजन करने जाता है और लगातार साढ़े तीन महीने तक भोजन करता रहता है। परन्तु इस बीच न मा को पता चल पाता है कि यह मेरा पुत्र है और न पुत्र ही किसी प्रकार का अनुराग प्रदर्शित करता है। त्याग ऐसा ही निःसंग और निःरंग होना चाहिए। इसी लिए तो मैंने कहा कि किस वस्तु का त्याग किया है यह स्वयं हमें भी मालूम नहीं होना चाहिए।'

'रानी, तुम अनृण्ये होगी, इसमें कोई सन्देह नहीं।' महाराज अशोक ने मुदित होकर कहा। और उधर तिष्यरक्षिता ने मन-ही-मन कहा—अरे बुड्ढे, जितनी ही देर में तुझे यह मालूम होगा कि तेरा बेटा आँखें खो बैठा है उतने ही अधिक दिन तू जीवित रह सकेगा।

दूसरे दिन सवेरे प्रातःवेला में साधु उपगुप्त ने राजमहल के प्रवेश-द्वार पर आकर आवाज लगायी—भगवान तथागत के नाम पर, पाटलिपुत्र के नागरिको और राजवंशियो! संघ को दान दो। संघ तुम्हें प्रेम के रूप में पुनः प्रदान करेगा। दान और प्रतिदान की यह क्रिया और प्रतिक्रिया शान्ति और अवैर का वातावरण प्रसारित करेगी। नागरिको, भगवान के नाम पर दो....

साधु उपगुप्त के उच्च स्वर की प्रतिध्वनि अभी गूँज ही रही थी कि महाराज अशोक स्वयं बाहर निकल आये। उनके पाछे-पीछे महारानी तिष्य-रक्षिता चली आ रही थी।

कदम्बक पिछली शाम को ही लौट आया था। उसने आते ही महाराज के हाथ में एक चन्दन-मंजूषा रख दी थी। उसे वह स्वयं ही लाया था, परन्तु जानता नहीं था कि उसमें क्या है। कुणाल के राजमहल में राजभांडारिक ने बुलाकर उसे यह मंजूषा दी थी और कहा था कि इसे सुरक्षित महाराज के हाथ में पहुँचा दे। कुणाल ने नेत्र तो दिये ही थे, इस बात का पूरा प्रबन्ध भी कर दिया था कि उसके इस कृत्य की किसी को कानोकान खबर न होने पाये। ताजे घाव भर सकें, इसलिए वह अपने राजप्रासाद के अन्धेरे प्रकोष्ठ

में जा लेटा था। शासन के अन्यान्य कार्य सदा की भाँति चल रहे थे। कहीं कोई व्यवधान नहीं होने पाया था।

वह विद्युत् गति से लौटा और रत्नमंजूषा लाकर महाराज के हाथों में थमा दी तब अपने घर गया। महाराज उसी रत्नमंजूषा को लेकर साधु उपगुप्त के भिक्षापात्र में डालने निकले थे।

तिष्यरक्षिता यह देखने के लिए पीछे-पीछे आ रही थी कि कहीं महाराज उसे खोलकर देख न लें। वह अभी इस बात को प्रकट न होने देना चाहती थी। बूढ़े को पुत्र-वियोग में धरती पर टाँगें पटककर हाहाकार करते हुए देखने की उसे बड़ी साध थी; परन्तु यह अन्तिम दृश्य वह उसी समय देखना चाहती थी जब स्वयं उसे अपने जीवन के प्रति कोई मोह न रहे! मगध के सर्वनाश के बीज वह बो चुकी थी। उन बीजों को पल्लवित और पुष्पित होते भी तो अपनी आँखों से देख ले।

महाराज रत्नमंजूषा को दोनो हाथों में थामे बाहर आये। उन्होंने साधु उपगुप्त को प्रणाम किया। फिर रत्नमंजूषा को उनके भिक्षापात्र मे समर्पित करते हुए बोले—शतकोटि कार्षापण के ऋण को चुकाने कि दिशा में यह केवल एक न्यूनातिन्यून अंश है। भगवान तथागत के नाम पर इसे स्वीकार किया जाये। इस मंजूषा मे दो रत्न हैं, शतकोटि कार्षापण का मात्र एक अंशांश....

'भगवान तथागत की जय हो!....नगरजनो, भगवान तथागत के नाम पर....' और साधु उपगुप्त उच्च स्वर में पुकार लगाते हुए आगे बढ़ गये। उनकी आकृति आँखों से ओझल हो गयी, केवल स्वर प्रतिध्वनित होता रहा....

और तिष्यरक्षिता सोच रही थी, यह साधु उस मंजूषा को कब खोलेगा? लेकिन दूसरे ही क्षण उसने इस विचार को अपने मन से निकाल बाहर किया। उसे प्रतिशोध लेना था और वह उसने ले लिया था।

लौटते हुए वह बोली—महाराज, अब मैं अपने सौन्दर्य-भवन को लुटा देना चाहती हूँ। यह कार्य महाराज के ही हाथों सम्पन्न हो।

'देवि, हम शीघ्र ही हिमवन्त की ओर प्रयाण करेंगे। हमारे प्रयाण का शुभारंभ इसी शुभ कार्य से होगा।'

लेकिन कुणाल के बारे में पाटलिपुत्र में किसी को कुछ भी पता न था। लोग सुखद भ्रान्ति में पड़े थे।

सब से सुखी भी वही होता है जो सुखद भ्रान्ति में पड़ा रहता है। यह तो मानव-स्वभाव ही है। महाकाल के अनन्त प्रवाह को घड़ी, पल और विपल में विभक्त करके मनुष्य-जाति ने अपने वर्तमान के सम्बन्ध में एक सुखद भ्रान्ति उत्पन्न कर रखी है—इस भ्रान्ति को उसने नाम दिया है जीवन; लेकिन सच तो यह है कि आदमी न जीता है और न मरता है। जो कुछ है उसकी भ्रान्ति ही है।

कालातीत इतिहास के सम्बन्ध में भी मनुष्य ने एक ऐसी ही भ्रान्ति का निर्माण कर रखा है। मनुष्य और इतिहास अनन्त काल से एक-दूसरे को भ्रान्ति का यह खेल खेलाते आ रहे हैं। कभी पात्र बदल जाते हैं, कभी वेष-भूषा बदल जाती है, परन्तु खेल वही रहता है। मनुष्य सोचता है कि उसने महान आदर्श की उपलब्धि की है और मानव-जाति का उद्धार हो रहा है; परन्तु महाकाल की केवल पलक हिलती है और मनुष्य के हाथ में वही खिलौने रह जाते हैं और वह उन्हीं से खेलता दिखाई देने लगता है।

पाटलिपुत्र का भी इतिहास, मनुष्य और खिलौने वही-के-वही थे।

और सब-के-सब सुखद भ्रान्ति में पड़े हुए थे।

२८ : : प्रासाद भव्य, उत्तराधिकारी कोई नहीं

पाटलिपुत्र का मुख्य द्वाररक्षक भी चौंक पड़ा और सन्नाटे में आ गया। बाहर की ओर से कोई लगातार पुकारे जा रहा था। वह चकित होकर सोचने लगा कि अभी आधीरात के समय इस प्रकार पुकारनेवाला कौन हो सकता है। कोई जाना-पहिचाना आदमी ही यों आधीरात में आसमान सिर पर उठायेगा; अपरिचित तो बेचारा किसी कोने में दुबककर सवेरा होने की प्रतीक्षा करता रहेगा। पुकारनेवाला बड़ा ही अधीर और जल्दबाज मालूम पड़ता था। वह दरवाजे पर धक्के भी मार रहा था। इन दिनों महाराज के आदेशानुसार काष्ठ सेतु रात में उठाया नहीं जाता था, इसलिए कोई भी दरवाजे तक पहुँच सकता था।

द्वाररक्षक को आवाज कुछ परिचित-सी लगी। अरे, यह स्वर तो सेनापति हिमवन्त का मालूम पड़ता है! लेकिन सेनापति हिमवन्त यहाँ कहाँ? वह तो तक्षशिला गये हैं। उनके आजकल में पाटलिपुत्र आने का कोई समाचार भी नहीं। वह कैसे हो सकते हैं, अवश्य भ्रम हुआ है। पर यह स्वर....

उसने मुख्य द्वार की एक छोटी-सी प्रवेशिका को थोड़ा-सा खोलकर बाहर झाँका। उस ओर एक आदमी अपना अश्व लिये खड़ा था और कभी आवाज लगाता और कभी दरवाजे को धकेलता था। प्रवेशिका खुलते ही वह अपने अश्व को बाहर छोड़ अन्दर घुस आया।

पहले तो द्वाररक्षक को अपनी आँखों पर विश्वास न हुआ। मशाल के उजाले में उस व्यक्ति को देखकर भी वह मानने को तैयार न था कि यह व्यक्ति मगध का महान सेनापति हिमवन्त है। क्योंकि जो सामने खड़ा था वह निराश, क्लान्त, लुटा हुआ-सा और भागकर आया हुआ प्रतीत होता था; उसका चेहरा सूखा हुआ, उतरा हुआ और निर्जीव-सा था। फिर सेनापति अकेला क्यों आयेगा? उसके साथ अंगरक्षक, सैनिक, नायक आदि भी तो होंगे। द्वाररक्षक ने पुनः बाहर झाँककर देखा। वहाँ केवल अकेला एक अश्व खड़ा दुम हिला रहा था। उसने पुनः अपने सामने खड़े व्यक्ति को देखा। अब उसे विश्वास करना ही पड़ा कि आगन्तुक सेनापति हिमवन्त है! तो क्या शत्रुओं ने आक्रमण कर दिया है और सेनापति उनकी कैद से अकेले भाग आये हैं? यह माजरा क्या है?

उसने हाथ जोड़कर प्रणाम किया और बोला—प्रभु....

लेकिन सेनापति को जैसे कुछ भी सुनने अथवा बोलने का अवकाश नहीं था, न शक्ति ही प्रतीत होती थी। उन्होंने थके हुए स्वर में केवल इतना कहा—द्वाररक्षक, मेरे अश्व को सँभालना। मैं महामात्य से मिलने जा रहा हूँ। बड़ा आवश्यक कार्य है। वह कहीं बाहर तो नहीं गये हैं?

'जी नहीं, कहीं नहीं गये। यहीं हैं।'

'और महाराज?'

'महाराज भी यहीं हैं। अभी अशोकाराम में होंगे।'

'यहाँ तक्षशिला के कोई समाचार तो नहीं आये?'

'जी नहीं !'

हिमवन्त अत्यन्त थका हुआ था। उसका प्रत्येक अंग चूर-चूर हो रहा था। आँखें मुँदी जा रही थीं। पाँव लड़खड़ा रहे थे। द्वाररक्षक उससे कहने जा ही रहा था कि, 'प्रभु, थोड़ी देर विश्राम कर लीजिए।' लेकिन वह उसके पहले ही महामात्य की अट्टालिका की ओर मतवाले की भाँति लड़खड़ाता हुआ चल दिया।

द्वाररक्षक बड़ी देर तक उसकी ओझल होती हुई पीठ की ओर देखता और मन-ही-मन तर्क-वितर्क करता रहा। वह इस द्वार पर पिछले पचास वर्षों से था। लेकिन आज-जैसी घटना उसने कभी नहीं देखी थी। उसने विकट-से-विकट युद्धों का जमाना देखा था। परन्तु शान्ति का यह युग, रात में भी काष्ठ सेतु का न उठाया जाना, आधीरात में प्रवेशिका खोलकर आगन्तुक को भीतर ले लेना-जैसी बातें उसने पहले कभी नहीं देखी थीं। शान्ति इतनी निश्चित और स्थायी प्रतीत होती थी मानो युद्ध कभी हो ही नहीं सकता। लेकिन न जाने क्या बात थी कि द्वाररक्षक को उस शान्ति में खंडहर-शान्ति की प्रतिध्वनि सुनाई देती थी।

उधर सेनापति लड़खड़ाता हुआ महामात्य के भवन पर पहुँच चुका था। उसने द्वारपाल को अपनी मुद्रा देते हुए कहा—जाओ, जल्दी जाकर सूचना दो कि सेनापति हिमवन्त आये हैं और अभी तत्काल मिलना चाहते हैं।

सेनापति हिमवन्त का नाम सुनकर और मुद्रा देखकर महामात्य राधागुप्त को अत्यधिक आश्चर्य हुआ। सोचने लगा कि कहीं तक्षशिला में विद्रोह न हो गया हो। एकदम उठकर मंत्रणागृह में आया। जब सेनापति हिमवन्त ने वहाँ प्रवेश किया तो उसकी फटीचर सूरत और लुटी हुई-सी दशा देखकर राधागुप्त कई तरह की अनिष्ट शंकाओं से काँप उठा। उसने हिमवन्त को आसन ग्रहण करने का संकेत करते हुए घबराये स्वर में पूछा—हिमवन्त क्या बात है? तक्षशिला के क्या समाचार हैं? जालौक कहाँ है?

'समाचार तो बहुत बुरे हैं प्रभु। यों समझिए कि सर्वनाश ही हो गया है।'

'सर्वनाश! कोई विदेशी आक्रमण तो नहीं हो गया?'

'विदेशी आक्रमण तो केवल नाश करता है। यह तो सर्वनाश हुआ है, जो केवल स्वजन ही कर सकते हैं।'

'साफ-साफ कहो हिमवन्त, बात क्या है ?'

हिमवन्त अपने स्थान से उठकर राधागुप्त के बिलकुल निकट आ गया और चारों ओर एक सतर्क दृष्टि डालकर बहुत ही धीमे, लगभग फुसफुसाते स्वर में बोला—देव, सर्वनाश हो गया ! युवराज कुणाल तक्षशिला में नहीं हैं !

'हैं !' राधागुप्त पर तो जैसे वज्र ही आ गिरा ! जो बात अब तक उसके अचेतन में सोयी पड़ी थी सहसा जाग उठी और वह मन-ही-मन कह गया—वही हुआ न, जिसका मुझे डर था । प्रासाद तो भव्य है, परन्तु उत्तराधिकारी कोई नहीं !

थोड़ी देर वह संज्ञाशून्य की भाँति चुप रहा और तब बोला—कुणाल तक्षशिला में नहीं हैं तो कहाँ गये ? तुमने उन्हें कब देखा था ? कहीं जाने की बात तो नहीं थी ? काश्मीर के प्रदेशपति जालौक का कोई सन्देश तो नहीं आया था ? भिक्खु तो नहीं बन गये ? तुमने अन्तिम बार कब देखा था ? उनकी बड़ी बहिन चारुमती, जो नेपाल जाकर भिक्खुणी बन गयी, वह तो नहीं आयी थी ?

हिमवन्त का चेहरा बिलकुल रुई की तरह सफेद हो गया । उसने भर्राये हुए स्वर में कहा—प्रभु, आपको तो पता होगा ही कि महाराज ने उनके नेत्र मँगवाये थे ।

'महाराज ने नेत्र मँगवाये थे ? हिमवन्त, तुम पागल तो नहीं हो गये ? यह मैं क्या सुन रहा हूँ ? महाराज उनके नेत्रों को क्यों मँगवाते ? महाराज को क्या आवश्यकता....' कहते-कहते राधागुप्त चुप हो गया । एक विचार बिजली की भाँति उसके मनःआकाश को चीरता हुआ निकल गया । कहीं यह काम उस नागिन का तो नहीं ? प्रतिहिंसा में भरकर उस विषैली सर्पिणी ने कहीं अपना बदला तो नहीं ले लिया ? उसने घबराये हुए स्वर में पूछा, 'महाराज ने नेत्र मँगवाये थे ? सन्देश लेकर कौन आया था ? तुमने क्या किया ? अब कुणालकुमार कहाँ हैं ?'

हिमवन्त ने अथ से लेकर इति तक सारी कहानी कह सुनायी । राधागुप्त वज्राहत की भाँति सुनता रहा । अन्त में हिमवन्त ने कहा—और एक दिन सवेरे, जब सदा की भाँति मैं कुमार को प्रणाम करने और आदेश ग्रहण करने के लिए उनके रुग्णालय में गया तो वह वहाँ नहीं थे । मैंने चारों ओर खोजा,

अनुचरों से पूछा, लेकिन कोई बता नहीं सका कि वह कहाँ गये ! हमारे तो हाथों के तोते ही उड़ गये । सार्वजनिक जाँच-पड़ताल करने से बात फूटने और फैलने तथा विद्रोह के उग्र रूप धारण करने की आशंका थी। इसलिए मैंने चुपचाप अमात्य को बुलाकर सारी बात बतायी और उपसेनापति को अधिकार सौंपकर इधर भागा आया। मार्ग में मैंने एक-एक जंगल, एक-एक मन्दिर, मठ, साधु-संघ और भिक्खु-विहार छान मारा; लेकिन कहीं युवराज का पता न चला। कुमार की आँखें चली गयी हैं; वह भी जाने कहीं चले गये हैं ! लेकिन यह सब कहा किससे जाये और कैसे कहा जाये? मैं इसी लिए यहाँ भागा आया हूँ। मुझे शीघ्र ही लौट भी जाना होगा, क्योंकि वहाँ विद्रोह का अभी पूर्णतः दमन नहीं हो पाया है।

राधागुप्त बड़ी देर तक अवाक् बैठा रहा। उसे मगध-साम्राज्य का अन्त सन्निकट आता दिखाई दिया। उसे लगा मानो स्वयं अपने ही हाथों मगध का सत्यानाश किये दे रहा हो। जानते-समझते हुए भी उसने उस विषैली नागिन को जीवित क्यों रहने दिया? पहला विचार उसे यही आया कि जाकर तिष्यरक्षिता का गला स्वयं अपने हाथों से घोंट दे ! और महाराज अशोक को क्या कहे? पता नहीं, उन्हें अपने सर्वनाश की यह बात मालूम है भी या नहीं? शतकोटि कार्षापण न दे सके, इसलिए कहीं यह स्वार्पण जान-बूझकर स्वयं उन्हीं ने तो नहीं किया? पर कुणाल के नेत्र ही क्यों दिये? सहसा सारी बात बिजली के प्रकाश की भाँति उसके मन में स्पष्ट हो गयी। ईशानदेवी से दोनो नेत्र-रत्न मँगवाने की बात का उस चुड़ैल ने यह दुरुपयोग किया है ! हाँ, यही बात है। उसका सर्वांग जल उठा। मारे क्रोध के एक-एक रोआँ खड़ा हो गया। ओठ फड़कने लगे। नेत्र अंगारों की भाँति दहक उठे। उसने जोर से ताली बजायी। यवनी के आते ही उसने गरजकर कहा—ला मेरी कृपाण !

हिमवन्त ने यह सुना तो सन्नाटे में आ गया ! राधागुप्त के मन की थाह पाते उसे देर न लगी। निश्चय ही महामात्य तिष्यरक्षिता को मार डालना चाहते हैं। लेकिन परिणाम क्या होगा? क्या महाराज अशोक इसे सह सकेंगे? और क्या शान्त बने रहेंगे? जरा-सी जल्दबाजी से कहीं मगध में विद्रोह न हो जाये ! चारों ओर के प्रदेशपति तो ऐसे अवसर की ताक में ही बैठे हैं।

उसने हाथ जोड़कर राधागुप्त से कहा—देव, तिष्यरक्षिता का वध करना ऐसा कोई बड़ा काम नहीं है। आपकी आज्ञा पाते ही मैं उस नागिन को मौत के घाट उतार दूँगा। देव अपने हाथ उसके अपवित्र रक्त से रंजित करें, यह शोभा नहीं देता। आपकी तरह मैं भी मानता हूँ कि यह भयंकर कृत्य उसी दुष्टा ने किया है। लेकिन अभी तो हमें सबसे पहले यह पता लगाना चाहिए कि कुणालकुमार कहाँ हैं? उनको ढूँढ़े बिना, जल्दबाजी में कुछ कर बैठे तो अनर्थ ही हो जायेगा। इसलिए पहले उन्हें ढुँढ़वाया जाये और यदि वह न मिलें तो सम्प्रति इस पूरे प्रसंग पर परदा ही डाल देना उचित होगा।

'तुम कुछ सोच सकते हो कि वह कहाँ होंगे?'

'मेरा अनुमान है....' लेकिन हिमवन्त की बात उसके मुँह में ही रह गयी। बाहर से कोई नारी करुण क्रन्दन करती उसी ओर चली आ रही थी।

'राधागुप्त! कहाँ है राधागुप्त! मेरा पति मुझे लौटाओ! मेरा स्वामी मुझे लाकर दो! राधागुप्त! महामात्य!'

दोनों आदमी इस हृदय-विदारक करुण क्रन्दन को सुनकर विह्वल हो गये! अभी कुछ सोच भी नहीं पाये थे कि बाल बिखराये, आँसू बहाती, छाती पीटती कांचनमाला अर्द्ध-विक्षिप्त-सी उनके आगे आकर खड़ी हो गयी।

एक यवनी कांचनमाला को रोकने के लिए दौड़ी आ रही थी। राधागुप्त ने हाथ के इशारे से उसे लौटा दिया और जो विचार थोड़ी देर पहले उसके मन में उदित हुआ था वही पुनः चक्कर काटने लगा—प्रासाद तो भव्य है, परन्तु उत्तराधिकारी कोई नहीं!

कांचनमाला की ओर देखने और उसके नेत्रों से अपने नेत्र मिलाने का राधागुप्त को साहस नहीं हो रहा था। न उसकी यही समझ में आ रहा था कि क्या कहकर उसे सान्त्वना दे! वही तो कुणाल को राजप्रतिनिधि और युवराज बनाने के लिए उज्जयिनी से लाया था और उसी ने तो कांचनमाला को समझा-बुझाकर, ऊँच-नीच दिखलाकर कुणाल को तक्षशिला भिजवाया था। अब वह उस अर्द्ध-विक्षिप्त हो रही नारी को क्या कहकर आश्वासन दे! असह्य वेदना से विकृत हो रहे उसके उस मुँह की ओर कैसे देखे? ज्योतिहीन हो रहे उन नेत्रों से बरस रहे उन आँसुओं को कैसे पोंछे? राधागुप्त अपराधी

की भाँति सिर झुकाये बैठा रहा। गहन शोक उसके हृदय को मसोस रहा था और रह-रहकर एक ही विचार उसके विह्वल मन में चक्कर काट रहा था—प्रासाद भव्य है, परन्तु उत्तराधिकारी कोई नहीं !

रोती, छाती पीटती और बाल नोचती हुई कांचनमाला राधागुप्त के सम्मुख आकर खड़ी हो गयी और गहन शोक में डूबे हुए स्वर में कहने लगी—महामात्य, हमें मगध का राज्य नहीं चाहिए, सिंहासन और राजमुकुट नहीं चाहिए। मुझे तो मेरा पति लौटा दो। वापिस कर दो मेरा पति। हाय, कोई तो मुझे बता दे कि क्या हुआ ? महामात्य, तुम्हारे पाँवों पड़ती हूँ। तुम्हीं सच-सच बता दो। क्या यह सच है कि महाराज अशोक शतकोटि कार्षापण न दे सके इसलिए उसके प्रायश्चित्तस्वरूप उन्होंने कुणालकुमार के दोनो नेत्र दे डाले ? सभी बहिष्कृत साधुओं को यही कहते सुन रही हूँ। महामात्य, बताओ न, क्या यह सच है ? महाराज इतने निष्ठुर क्यों हो गये ? पिता होकर अपने ही पुत्र के नेत्र उन्होंने कैसे दे डाले ? क्या यही है विश्व-शान्ति का मार्ग ? तुम और तुम्हारी नीति ही इसके लिए उत्तरदायी है। तुम्हीं ने दशरथ को उस दिन रोका, तुम्हारे ही कहने में आकर उस दिन उसने महाराज की अवहेलना की। तुम्हीं ने मुझसे मेरे पति को छीना। लौटा दो मेरा पति। नहीं चाहिए मुझे तुम्हारा राज्य। हम भीख माँग लेंगे। लौटकर विदिशा चले जायेंगे। हमें तक्षशिला भी नहीं चाहिए। प्रादेशिक का पद भी नहीं चाहिए। सेनापति हिमवन्त, तुम तो उनके साथ गये थे। तुम्हीं बता दो कहाँ हैं मेरे कुणाल ?

'देवि', हिमवन्त ने हाथ जोड़कर कहा, 'हम दोनो आदमी इस समय यही चिन्ता कर रहे हैं। स्वयं हमें भी पता नहीं कि कुणालकुमार कहाँ हैं ?'

'तुम्हें भी पता नहीं ? हायरे मेरा दुर्भाग्य ! क्या मेरे दोनो बेटों को अपना अन्धा पिता भी नहीं मिलेगा ? राधागुप्त, यह लो अपना राजपाट, करो इसके गौरव की रक्षा ! हम गरीबों को विदिशा लौट जाने दो !'

'महारानी, राजमाता ! मैं आपके हृदय की व्यथा को समझता हूँ।' राधागुप्त ने शोक-भरी वाणी में कहा, 'मैं स्वयं उस हत्यारिन के प्राण लेने दौड़ा जा रहा था। यह सारा कुकृत्य उस दुष्टा, पिशाचिनी तिष्यरक्षिता का है। लेकिन अभी न तो कुछ कह सकते हैं, न कर सकते हैं। प्राणों में लावा खौल

रहा है, परन्तु उसका वध भी नहीं कर सकते। अभी सबसे पहला और आवश्यक कार्य है कुणालकुमार का पता लगाना। हम धरती-आकाश एक कर देंगे, पर उनका पता लगाकर रहेंगे। देवी धैर्य धारण करें हम दोनो आदमी इसी के लिए जा रहे थे।'

'लेकिन हुआ क्या? राजकुमार कहाँ गये? क्यों हिमवन्त, क्या यह सच है कि वह अन्धे हो गये?'

'देवि, महाराज का ऐसा ही आदेश था। दन्तमुद्रावाला आदेश लेकर सन्देशवाहक यहाँ से गया था। नेत्र मँगवाये गये थे। मैंने स्वयं अपनी आँखों से पढ़ा कि महाराज के जीवन-मरण का प्रश्न है, महाराज जीये तो विश्व-शान्ति जीयेगी; महाराज ने राजकुमार के नेत्र मँगवाये हैं।'

'हायरे हमारा भाग्य! विधि की विडम्बना कहूँ या क्रूरता? हम सब तो बेमौत ही मारे गये! महामात्य, यह है तुम्हारी राजनीति की लीला! तुम्हें ब्राह्मण समझूँ या पिशाच! तूने ही मेरे देवकुमार-जैसे पति को नेत्रविहीन किया! हायरे....' सत्य बात मालूम होते ही कांचनमाला अपने होश-हवाश खो बैठी और कलपने लगी। वह राधागुप्त को कोसने लगी, 'धिक्कार है तुझे! भगवान करे तुझे श्मशान में भी शान्ति न मिले। तेरा यह मगध चौपट हो जाये। सारा नगर मरुस्थल हो जाये। तेरा कोई नामलेवा और पानीदेवा भी न रहे। अपने राजा की तरह तुझे भी छाती पीटना और हा-हा करना नसीब हो!'

'देवि! देवि!! महादेवि!!!'

'हट जा मेरे सामने से। मैं न देवी हूँ, न महादेवी। जिसका भाग्य ही फूट जाये वह कैसी रानी और कहाँ की राजमाता! मैं तो विदिशा की भिखारिन हूँ। मेरा पति, अन्धा पति लौटा दे तो अपने घर चली जाऊँ। गान्धारी की तरह आँखों पर पट्टी बाँधकर जीवन बिताऊँगी....अरे कोई इतनी दया करो, मेरे पति को लौटा दो....'

राधागुप्त ने आगे बढ़कर कांचनमाला के चरणों में माथा टेक दिया और गद्‌गद स्वर में बोला—महारानी, मैं अपना अपराध स्वीकार करता हूँ। आप मुझे दंड दें। मेरे जलसमाधि लेने से आपको सन्तोष होता हो तो मैं अभी जाकर पानी में डूब मरता हूँ। गलती मुझसे अवश्य हुई, लेकिन देवि, सोचने

की बात यह है कि यदि शोक के आवेग में आपने कुछ कर डाला तो न यह मगध रहेगा, न यह नगर, न ये राजमहल रहेंगे, न यहाँ की प्रजा। चारों ओर सेनाएँ उमड़ रही हैं, विद्रोह के बादल घुमड़ रहे हैं। यहाँ महाराज वृद्ध और दुर्बल हैं। एक धर्म छोड़ उन्हें किसी बात की सुधि नहीं। ऐसी स्थिति में चाहे अन्धे हों, चाहे आँखोंवाले मगध को अकेले कुणालकुमार ही बचा सकते हैं। मेरी यही प्रार्थना है कि आप धैर्य धारण करें। मेरी वर्षों से चली आती साधना और भक्ति को मिट्टी में न मिलायें। आप मेरे हृदय की वेदना को देख नहीं सकतीं और न मैं कलेजा चीरकर दिखा ही सकता हूँ, नहीं तो वहाँ जल रही और जला रही अग्नि को देखकर आप स्तम्भित रह जातीं। अभी तो आप जी कड़ा करके हमारी सहायता कीजिए। हम कुणालकुमार को ढूँढ़ने जा रहे हैं। हमारे लौटकर आने तक शान्ति धारण करें। मैं बूढ़ा ब्राह्मण आपसे यही भीख माँगता हूँ देवि....

यह कहकर राधागुप्त ने जोर से ताली बजायी। यवनी के आते ही उसने कहा—दो वनायु अश्व तत्काल लाओ।

२६ : : अन्धा बाँसुरीवाला

कांचनमाला कुछ शान्त हुई। उसने सोचकर देखा तो महामात्य का इतना दोष नहीं दिखाई पड़ा। वह बेचारा तो अँधेरे में रह गया और इसी लिए मात खा गया। सारा दोष और अपराध उसे तिष्यरक्षिता का लगा। उसी डायन का काम है। उसी दुष्टा ने मेरा हरा-भरा संसार नष्ट कर दिया। मारे क्रोध और प्रतिहिंसा के उसका सर्वांग जल उठा। उसने लपककर राधागुप्त के पाँवों के पास पड़ी हुई तलवार उठा ली और कड़ककर बोली—तो महामात्य, मैं जाती हूँ। उस दुष्ट का इसी तलवार से वध कर डालती हूँ। फिर महाराज भले ही मुझे मार डालें।

और वह वहाँ से जाने के लिए विद्युत्वेग से झपटी। राधागुप्त ने तुरत दोनों हाथ फैलाकर उसका रास्ता रोक लिया और अनुनय के स्वर में बोला—देवि, देवि! आप यह क्या करती हैं; कहाँ जा रही हैं? मारना हमारा काम नहीं। हत्या करने का काम चांडाल का है देवि! अभी पहला काम तो, जैसा

मैंने कहा, कुणालकुमार का पता लगाना है। इसमें देर की तो हो सकता है कि उन्हें सदा के लिए खो बैठें। इसलिए पहले उनका पता लगाया जाये। बाकी काम तो होते ही रहेंगे और अपराधियों को दंड भी दिया ही जायेगा।

सेनापति हिमवन्त ने भी समझाते हुए कहा—महादेवि, आप भी हमारे साथ चलिए। हम सब मिलकर युवराज को खोजेंगे। वही नहीं मिले तो और सब करके भी क्या होगा

बात कांचनमाला की समझ में आ गयी। उसने दूर खड़ी यवनी को संकेत से समीप बुलाकर कहा—दो नहीं, तीन अश्वों का प्रबन्ध करो।

कांचनमाला को यों प्रकृतिस्थ होते देख राधागुप्त उसकी ओर से कुछ निश्चिन्त हुआ, यद्यपि स्वयं उसके अपने मन के अन्दर तो अभी भी होलियाँ सुलग रही थीं। वह अभी तक निर्णय नहीं कर पाया था कि इस कृत्य के लिए किसे अन्तिम रूप से उत्तरदायी समझे! उसका मन यह मानने को तैयार नहीं होता था कि महाराज अशोक ने ऐसे कृत्य की स्वीकृति दी होगी। शान्ति का वह महान समर्थक क्या कभी इस सीमा तक जा सकता है? और यदि महाराज को पता नहीं है तो ज्ञात होने पर वह क्या करेंगे?

तिष्यरक्षिता पर उसे सीमातीत क्रोध आ रहा था। मन चाहता था कि जाकर उसका गला घोंट दे। लेकिन यह भी जानता था कि गला घोंटने से बात समाप्त न होगी। उलटे आग और भी भड़क उठेगी। विप्लव मच जायेगा और अवसर की प्रतीक्षा में बैठे हुए प्रदेशपतियों को अपने-अपने झण्डे खड़े करने का स्वर्ण संयोग मिल जायेगा। स्थिति बड़ी ही नाजुक थी। एक-एक कदम फूँक-फूँककर रखना होगा। जरा-सी भी लापरवाही सर्वनाश कर देगी।

थोड़ी ही देर में घोड़े आ गये और तीनों व्यक्ति कुणाल की खोज में घर से निकले। जब वह चले तो रात अब भी शेष थी। चारों ओर अँधेरा छाया हुआ था। कोई किसी से बोल नहीं रहा था। बाहर जितना अँधेरा था उससे कहीं अधिक अँधेरा प्रत्येक के मन में छाया हुआ था। असह्य शोक के बोझ ने उनकी वाक्शक्ति का जैसे लोप ही कर दिया था। इसी आशा में चुपचाप बढ़े चले जा रहे थे कि सम्भव है कुणाल मिल जाये। किधर जाना ठीक होगा, किस दिशा में ढूँढ़ना चाहिए, इसका उन्हें कोई बोध नहीं था। घोड़ों को छोड़

दिया था और वे उन्हें अशोकाराम की ओर लिये जा रहे थे। सम्भव है वहाँ से आगे सही दिशा मिल जाये।

चलते-चलते रात का अन्धकार मिटने लगा। अशोकाराम अब अधिक दूर नहीं था। शीघ्र ही पहुँच जायेंगे। उसी समय कहीं समीप से किसी की बाँसुरी की ध्वनि सुनाई पड़ी। बजानेवाला बड़े ही वेदना-भरे स्वर में कोई करुण रागिनी अपनी बंसी में फूँक रहा था। उस स्वर को सुनते ही कांचनमाला ने अपने घोड़े की बाग खींच ली और चिल्ला पड़ी—यही है महामात्य! यह स्वर तो उन्हीं की बाँसुरी का है। उनके अतिरिक्त ऐसी वंशी और कोई बजा नहीं सकता। हमें वंशी की इसी आवाज पर आगे बढ़ना चाहिए!

तीनों घुड़सवार वंशी के स्वर पर आगे बढ़ते गये। वादक जैसे बाँसुरी में प्राण फूँक-फूँककर रुदन रागिनी बजा रहा था। सुननेवालों के प्राण भी रो उठे और उन्हें वृक्ष, पशु, पक्षी, यहाँ तक कि मार्ग के पत्थर भी रोते-सिसकते प्रतीत होने लगे। तीनों अश्वारोही स्वर को लक्ष्य में किये तेजी से आगे बढ़ने लगे। वे डर रहे थे कि स्वर कहीं खो न जाये। जैसे-जैसे आगे बढ़ते गये उन्हें लगा कि स्वर अशोकाराम के आस-पास ही कहीं से आ रहा है। कुछ आगे बढ़ने पर इस धारणा की पुष्टि हुई। बाँसुरी बजानेवाला अशोकाराम के बाहर के हिस्से में इधर-उधर घूमता हुआ बंसी बजा रहा था।

थोड़ा और आगे जाकर वह घोड़ों पर से उतर गये और निःशब्द आगे बढ़ने लगे। पाँच-पचास कदम आगे बढ़ने पर उन्हें अशोकाराम के पृष्ठभाग में एक छोटी-सी पर्णकुटी में से कुछ ध्वनि आती सुनाई दी। राधागुप्त इस पर्णकुटी से परिचित था। सुन्दर वृक्षों, लताओं और हरियाली से मंडित इस पर्णकुटी का महाराज अशोक अपने निवास के लिए उपयोग करते थे।

राधागुप्त ने हिमवन्त का कन्धा छूकर कहा—महाराज सम्भवतः यहीं हैं। हम लोग समीप के उस झुरमुट में खड़े हो जायें।

तीनों व्यक्ति पास के झुरमुट की ओट में दुबक गये। पर्णकुटी का द्वार खुलता दिखाई दिया। अन्दर के दीये का प्रकाश बाहर चारों ओर फैल गया। लेकिन तभी बाँसुरीवाले ने बजाना बन्द कर दिया, मानो उसका स्वर प्रकाश से डरे हुए अँधेरे में लुप्त हो गया हो!

पर्णकुटी के द्वार में से एक व्यक्ति बाहर आता दिखाई दिया। राधागुप्त ने अनुमान लगाया कि वह व्यक्ति महाराज का प्रधान अनुचर इन्द्रायु होना चाहिए। राधागुप्त आँखें गड़ाकर इन्द्रायु की प्रत्येक हलचल को देखने लगा।

रात बीती जा रही थी। पौ फटने लगी थी। प्रातःकाल के धुँधलके में सभी आकृतियाँ स्पष्ट नहीं हो पायी थीं। इन्द्रायु बाहर निकल आया और एक स्थान पर खड़ा होकर जैसे किसी की टोह लेने लगा। उसने चारों ओर घूम-घूमकर देखा। धुँधलके में शायद उसे कुछ दिखाई नहीं डिया। टोह लेने पर भी उसे कोई भनक नहीं मिली। तब उसने उच्च स्वर में कहा—यह बंसी कौन बजा रहा था? जो भी हो आगे आये। महाराज अशोक उसकी बंसी सुनना चाहते हैं।

परन्तु उसे अपनी बात का कोई उत्तर नहीं मिला। उसके शब्द प्रतिध्वनित होते हुए वातावरण में विलीन हो गये। किसी ओर से कोई भी व्यक्ति आगे आता न दिखाई दिया।

तब इन्द्रायु ने पुनः उच्च स्वर में पुकारा—बंसीवाले! ओ बंसीवाले! महाराज अशोक तेरी बाँसुरी सुनना चाहते हैं।

प्रत्युत्तर में कुछ देर मौन रहा और तब सहसा बाँसुरी का स्वर गूँजने लगा। वही दर्द-भरा, मीठा, रुलानेवाला स्वर वनप्रान्तर में भर गया। ध्वनि से ऐसा लगता था मानो बजानेवाला इसी ओर चला आ रहा हो। बजानेवाले ने अपने प्राणों की समस्त व्यथा उस स्वर में उँड़ेल दी थी। सुननेवाले सुनते थे और सिर धुनते थे और उनकी आँखों से आँसुओं की धाराएँ बहने लगती थीं।

इन्द्रायु बंसी के स्वर की दिशा में आगे बढ़ा। राधागुप्त, हिमवन्त और कांचनमाला भी अपने स्थान से कुछ आगे बढ़ आये। सभी यह जानने को उत्सुक थे कि बाँसुरीवाला कौन है।

बाँसुरी का स्वर क्रमशः समीप आता गया। धुँधलके में एक आकृति स्पष्ट होती दिखाई थी। सभी टक लगाये देख रहे थे।

इन्द्रायु ने पूछा—क्या तुम्हीं बंसी बजा रहे थे?

'हाँ, मैं ही था।'

'बंसी तो बड़ी अच्छी बजाते हो। कहाँ सीखी? गुरु कौन है?'

प्रत्युत्तर में एक मन्द, दर्द-भरी, मधुर हँसी सुनाई दी—सिखायेगा कौन? जिसके हृदय में वेदना होती है उसे आप ही बजाना आ जाता है। यह सीखी नहीं जाती, स्फुरित होती है।

'तेरा नाम क्या है?'

'मेरा नाम ही क्या? जिसको जो अच्छा लगता है वही कहकर पुकारने लगता है। कोई बंसीवाला कहता है तो कोई बंसीधर, कोई अन्धा कहता है तो कोई अन्धा बाँसुरीवाला। जिसको जो ठीक लगे, कहकर पुकारे, मुझे कोई आपत्ति नहीं।'

राधागुप्त ने स्वर पहचाना और उसकी आँखों से आँसू बह चले। वह कुछ कहने जा ही रहा था कि कांचनमाला के संयम का बाँध टूट गया और वह सिसक उठी। राधागुप्त ने आँसू-भरे स्वर में कहा—देवि, मुझे क्षमा करें। यह कुणालकुमार ही हैं। अनुचर उन्हें पहचान नहीं सका।

तभी पर्णकुटी के द्वार में स्वयं महाराज दिखाई दिये।

इन्द्रायु ने प्रणाम करके रहा—महाराज, यह रहा वह बंसीवाला।

और महाराज ने उस बंसीवाले की ओर देखते हुए कहा—भाई बंसीवाले, अपनी वही रागिनी फिर तो बजाओ। हम सुनना चाहते हैं। यह रागिनी तो हमारी परिचित मालूम पड़ती है। लगता है पहले भी कहीं सुनी है। क्या तुम अन्धे हो?

लेकिन बाँसुरीवाले ने तो प्रत्युत्तर में अपनी बंसी ही बजाना आरम्भ कर दिया था।

३० : : पिता और पुत्र

अन्धा बंसीवाला खड़ा बंसी बजा रहा था। महाराज वहीं खड़े सुन रहे थे। चारों ओर धुँधलका भरा हुआ था। उस धुँधलके में मनुष्य और वस्तुओं की आकृतियों का आभास तो होता था, लेकिन कोई किसी का चेहरा साफ-साफ देख नहीं पाता था।

बजाते-बजाते बंसीवाला अपने स्थान से कुछ आगे बढ़ आया था। उसकी रुदन-भरी करुण रागिनी ने मनुष्यों को ही नहीं, पशु-पक्षियों और वृक्ष-वनस्पति

तक को विह्वल कर दिया था। सुननेवालों के हृदय धड़कने लगे थे और वे बार-बार अपना कलेजा थाम-थाम कर रह जाते थे।

बाँसुरीवाला अपने तन-बदन की सुधि भुलाये बजा रहा था। वह बाँसुरी नहीं थी; उसके मन की अनन्त वेदना ही मुखरित हो रही थी। कितना मीठा दर्द था! बाँस की दस अंगुल पोली भोंगली में इतनी मिठास और इतनी वेदना कहाँ से आ गयी थी?

धीरे-धीरे वह दर्द-भरा स्वर सारे जंगल में भर गया। जड़ और चैतन्य, प्रकृति और पुरुष सभी उस स्वर में एकाकार हो गये। न कहीं गति थी, न कहीं ध्वनि थी, न कोई हलचल दिखाई देती थी। बाँस की बाँसुरी के उन स्वरों ने जैसे इन्द्रजाल ही कर दिया था। सब मंत्रमुग्ध सुन रहे थे और बाँसुरीवाला बजाये जा रहा था।

महाराज सुन रहे थे और मगन होकर डोल रहे थे। वह उन स्वरों को सुनते-सुनते सोचने लगे थे कि यदि यह बाँसुरीवाला भगवान तथागत की विरह वेदना को अपने स्वरों में फूँक सके तो क्या ही अच्छा हो। जो सुनेगा सिर धुनने लगेगा। जिसके भी कान में बंसी की वह तान पड़ जायेगी अमृततत्व की खोज में प्रवृत्त हो जायेगा। जहाँ-जहाँ यह बंसीवाला जायेगा, गाँव-गाँव नगर-नगर, बस्ती-बस्ती तथागत की शान्ति वाणी गूँज उठेगी। निखिल विश्व में शान्ति के स्वर प्रतिध्वनित हो जायेंगे।

उन्होंने कहा—भाई बंसीवाले, तुम्हें भगवान तथागत की विरह-वेदना की भी कोई गाथा आती है?

बंसीवाले ने इसका उत्तर शब्दों में नहीं सुरों में ही दिया। वह अपनी बंसी में तथागत के प्रेम-विरह की व्यथापूर्ण वाणी बजाने लगा। कितना हृदय-ग्राही राग था वह, कितनी तल्लीनता थी उन स्वरों में, कितनी उत्कट आकांक्षा थी उस ध्वनि में!

महाराज सुनते रहे अ ्रेम की वह व्यथा उन्हें झकझोरती रही। यहाँ तक कि वह अपने आप पर काबू ही खो बैठे। आँख से झर-झर आँसू बहने लगे। सिसकियों से कण्ठ अवरुद्ध हो गया। महाराज ने दोनो हाथों में अपना मुँह छिपा लिया। अन्धे बाँसुरीवाले का स्वर उनके हृदय के कोने-कोने में गूँजने,

टकराने और प्रतिध्वनित होने लगा। महाराज को अपने मन-मन्दिर में प्रेम की अभिनव सृष्टि रूपायित होती प्रतीत हुई—कभी वह प्रेम-सृष्टि पिता के प्रेम का, कभी पुत्र-प्रेम का, कभी बन्धु-प्रेम का, कभी मातृ-प्रेम का, कभी प्रियतम और प्रियतमा के प्रेम का रूप धारण करती थी और कभी सभी प्रेम-रागों को पुंजीभूत कर एक नवीन, अछूते, अननुभूत प्रेम के रूप में तरंगित होने लगती थी। विश्व के कण-कण में प्रेम और विरह का नृत्य आरम्भ हो गया था। वृक्ष तक अपने किसी भूले-बिसरे संगी को पुकारने के लिए आतुर हो उठे थे।

वह ऐसा राग था जिसे सुनकर पत्थर पिघल जाते हैं, पहाड़ झुक जाते हैं, नदियों का प्रवाह थम जाता है, आकाश की छाती विदीर्ण हो जाती है, समुद्र में ज्वार उठने लगते हैं, बादल खंड-खंड होकर धरती पर बिछ जाते हैं और मनुष्य अपने साथी को पुकारने लगता है—उस साथी को जिसे केवल आत्मा पहिचानती है पर देख नहीं पाती।

महाराज को यह सब अनुभव हो रहा था। रोते हुए वह आगे बढ़े और बाँसुरीवाले के कन्धे पर हाथ रखकर बोले—भाई बाँसुरीवाले, तुम कहाँ के रहनेवाले हो? तुम्हारा नाम क्या है? किसने सिखाया है तुम्हें यह राग? ऐसी बाँसुरी बजाता है मेरा कुणाल। दूसरे तुम बजा रहे हो। क्या नाम है तुम्हारा?

इस बार बाँसुरीवाले ने कहा—महाराज, न मेरा कोई नाम है न धाम। यह सारी धरती मेरा देश है। और नाम जो महाराज को उचित लगे। वैसे लोग मुझे अन्धा बाँसुरीवाला कहकर पुकारते हैं।

उस स्वर को सुनकर महाराज विस्मित हो उठे। वह शीघ्रता से आगे बढ़ आये। उस चेहरे को महाराज ने ध्यान से देखा तो अवाक् रह गये। छाती को फाड़ती रुलाई का वेग उठा और क्रन्दन-भरे स्वर में महाराज कह चले—अरे बेटा कुणाल, यह तुम हो? तुम यहाँ कहाँ और तुम्हारी यह क्या दशा हो गयी? तू अन्धा कैसे हो गया मेरे लाल? बता बेटा, बता, यह क्या हुआ?

अन्धा बाँसुरीवाला भी महाराज के गले से लिपट गया और फूट-फूटकर रोने लगा।

३१ : : असियष्टि फिर छोड़ी

वातावरण गम्भीर और शोकमग्न हो गया। महाराज कुछ बोल न सके। चुपचाप रोते रहे। कुणालकुमार महाराज के आलिंगन में बँधा, उनकी छाती से लगा सिसकता रहा। राधागुप्त की खिन्नता और विषाद का पार न रहा। यह तो स्पष्ट हो ही गया था कि जो कुछ हुआ है महाराज उससे सर्वथा अनभिज्ञ थे। 'नियति!' उसके मन में बार-बार यही एक शब्द प्रतिध्वनित हो रहा था।

तिष्यरक्षिता ने नागिन की भाँति चुपचाप और सांघातिक वार किया था। उसके विकराल विष की लपटें देखते-ही-देखते समस्त पाटलिपुत्र को घेर लेंगी, घेर ही लिया है। अब बचा क्या है? देवकुमार-जैसा कुणाल अन्धा हो गया और मगध का शासन करने को बचे रह गये दो कोमल मति कुमार; अरे, कुमार भी नहीं, निरे शिशु!

जिस मगध को वह बचाना चाहता था, विश्व-विख्यात करना चाहता था, और भी ऊँचा उठाना चाहता था, वही उसकी आँखों के सामने नष्ट हुआ जा रहा था। और नियति का क्रूर व्यंग्य देखो कि वह उसका मौन साक्षी बना खड़ा था। उसे अपना मुँह छिपाने को ढूँढ़े ठौर नहीं मिल रही थी। उसका जी चाह रहा था कि धरती फट जाये तो वह उसमें समा जाये।

एक अति सामान्य नारी के रूप के मोह मे, आकर्षण के मोह में, चतुराई की चाल में पाटलिपुत्र नगर के स्रष्टा महाराज अशोक स्वयं उलझ गये और उस महान नगर के विनाश का कारण हुए, यह नियति नहीं तो और क्या है? जिसने विश्व को शान्ति का महान सन्देश दिया, अपने देश के एक-एक प्रदेश से युद्ध को निर्मूल कर दिया, जिसने मानव-इतिहास में प्रथम बार शान्ति-सेना की स्थापना की, उस सेना को देश में ही नहीं, विदेशों में भी प्रचारार्थ भेजा, जिसके शासन-शब्दों ने मनुष्य-मात्र का हृदय-परिवर्तन कर दिया, जिसने अपनी साधना, तपस्या और लगन से महान तपस्वियों और भिक्खुओं को भी मात कर दिया, वही एक नारी के रूपजाल में फँस गया और पाटलिपुत्र के गौरव और प्रतिष्ठा के अन्त का कारण हुआ, यह नियति नहीं तो और क्या है?

लेकिन निराश होना तो राधागुप्त ने सीखा नहीं था। निराशा की क्षणिक लहर आती थी, उसके पाँव उखाड़ देती थी, परन्तु दूसरे ही क्षण वह सँभल

जाता था और पुनः अपने पाँव मजबूती से टिका देता था। इस समय भी उसने यही किया।

हिमवन्त भी कुछ समय तो वज्राहत की भाँति देखता रह गया। महान मगध में उसने ऐसी कपट चाल देखनी तो दूर, सुनी भी नहीं थी। अब इसमें उसे कोई सन्देह नहीं रहा कि यह सारी पाप-लीला उस तिष्यरक्षिता की ही थी। उसी मायाविनी ने यह वार किया था। जो यह कर सकती है वह क्या नहीं कर सकती ? प्रतिहिंसा से अनुप्राणित नारी कितनी भयंकर हो सकती है यह उसका जीवित प्रमाण था। क्या आश्चर्य यदि उसने महाराज को ही अपदस्थ करने का षड्यन्त्र रचा हो ? वह नागिन यदि जीवित रही तो न जाने कितनों को डसेगी। उसे तो वहीं-का वहीं मार डालना चाहिए। वह जीवित रही तो सारे मगध को अपने वैर की आग में जलाकर भस्म कर देगी। मगध की सारी सेना इस समय तक्षशिला और काश्मीर में नहीं, यहाँ पाटलिपुत्र में होनी चाहिए। पाटलिपुत्र का शासन....

उसने एक दृष्टि कांचनमाला की ओर डाली। बच्चे छोटे हैं। कुणाल अन्धा हुआ। अब तो देवी कांचनमाला ही मगध का शासन-सूत्र सँभाल सकती हैं। यदि वह विरक्त हुई तो इस महान साम्राज्य का अन्त ही हुआ समझना चाहिए। अन्त ! महान मगध-साम्राज्य का अन्त ! उसके अन्दर का राजभक्त काँप उठा। उसने पुनः कांचनमाला की ओर देखा। वह उसे सम्बोधित कर कुछ कहने जा ही रहा था कि कांचनमाला बवंडर की भाँति लपकती हुई महाराज अशोक के चरणों में लोट गयी और करुण क्रन्दन करती हुई बोली—महाराज, जिसने भी मेरे पति को अन्धा किया उसे मृत्युदंड दिया जाये। मैं एक सामान्य प्रजाजन के नाते महाराज से न्याय की यह भीख माँगती हूँ। अपराधी का पता लगाना और उसे कठोर दंड देना मगधपति का काम है। महाराज मेरा न्याय करें।

लेकिन महाराज अशोक तो पत्थर की मूर्ति बने आँसू बहाते चुप खड़े थे। हृदय-विदारक शोक ने उनका कलेजा ही ताड़ दिया था। उनकी समझ में नहीं आ रहा था कि यह क्या हुआ और कैसे हुआ ? हाय, किसने प्यारे बेटे कुणाल को अन्धा किया और क्यों किया ? सिंहासन की छीन-झपट तो कारण

नहीं ? परन्तु वह किसी निष्कर्ष पर पहुँच नहीं पा रहे थे। प्रेमपूर्वक कुणाल की पीठ पर हाथ फेरते हुए वह केवल इतना ही कह पाये—बेटा, यह सब कैसे हुआ ? तुम अन्धे कैसे हो गये ? क्या वहाँ कोई भिषग्वर नहीं था ? तुमने हमें समाचार क्यों नहीं भेजे ? अकस्मात यह क्या हो गया ? बेटा, कुछ कहकर हमें सान्त्वना तो दो !

कुणाल ने बिलकुल शान्त, निरुद्वेग स्वर में कहा—आकस्मिक वह है जिसे समझा नहीं जा सकता। जिसे समझा जा सके वह तो ज्ञान होता है। यहाँ आकस्मिक कुछ भी नहीं है। जिसे नियति कहते हैं वह अनिवार्य ज्ञान है। और नियति के पीछे हमेशा व्यक्ति रहता है। व्यक्ति के बिना नियति की कल्पना ही नहीं की जा सकती। व्यक्ति अपनी वृत्ति से परिचालित होता है। व्यक्ति की वृत्ति ही उसका जीवन, उसका मोक्ष, उसकी मृत्यु, उसकी शान्ति और अशान्ति, वैभव, समृद्धि, दीनता पामरता, हीनता, उदारता, श्रेष्ठता सब-कुछ है। और वृत्ति का जनक है व्यक्ति का मन। मन, जिसे हम देख नहीं सकते, छू नहीं सकते, पकड़ नहीं सकते, परन्तु जो सर्वत्र विद्यमान रहता है। व्यक्ति का वही मन सब-कुछ करता है महाराज, और यहाँ भी जो किया है मन ने ही किया है।'

'यह तो ठीक है बेटा, लेकिन तुमने ज्ञानी और समझदार होकर यह क्या किया ? मगध का शान्ति-सन्देश तुम विश्व में प्रचारित करनेवाले थे। यहाँ से किसी भिषग्वर को क्यों न बुला लिया ?'

'भिषग्वर को बुलाने का समय ही कहाँ था महाराज ? और मेरे लिए तो पितृ-आदेश प्रभु की आज्ञा की भाँति अनुल्लंघनीय था। मैं विलम्ब कर ही कैसे सकता था ?'

'हमारा आदेश था बेटा ! यह तुम क्या कह रहे हो ? हमने तो ऐसा कोई आदेश नहीं दिया। हाँ, काश्मीर की ईशानदेवी से शक्तिदेवी के नेत्र-रत्न अवश्य मँगवाये थे। इसी आशय का एक आदेश यहाँ से भेजा गया था। लेकिन तुम्हें तो हमने कोई भी आदेश नहीं भेजा था।'

'महाराज मगधपति की जय हो ! मैं स्वयं उन रत्नों को लेकर आया हूँ ....ये रहे रत्न।' महाराज के प्रश्न का मानो प्रत्युत्तर दे रहा हो इस प्रकार

एक अश्वारोही ने घोड़े से उतरते हुए उपर्युक्त वाक्य कहे और महाराज की ओर अपनी बन्द मुट्ठी को बढ़ाते हुए बोला, 'लेकिन वे रत्न नहीं हैं, जिन्हें महाराज ने माँगा था। फिर भी जो रत्न लेकर आया हूँ वे मूल्यवान हैं।'

यह कहकर आगन्तुक अश्वारोही ने अपनी बन्द मुट्ठी खोल दी। उस धुँधलके में भी दो रत्न उस घुड़सवार की हथेली में जगमगा उठे। लेकिन महाराज अशोक की कुछ भी समझ में न आया। वह कभी कुणाल के चेहरे को देखते थे और कभी आगन्तुक अश्वारोही के चेहरे को। अन्त में उन्होंने पूछा—तुम हो कौन ?

'महाराज ने मुझे पहचाना नहीं ? धुँधलका है न, इसी लिए शायद पहचान नहीं पाये। मैं तो एक बार महाराज से मिल भी चुका हूँ। मेरा नाम है जालौक—काश्मीर का प्रदेशपति जालौक।'

'प्रदेशपति जालौक ? लेकिन हमारी तो कुछ भी समझ में नहीं आ रहा। यह अकस्मात् क्या हो गया और क्या हो रहा है ? भणे इन्द्रायु, तू दौड़ा जाकर महामात्य राधागुप्त को तो बुला ला। वह कुछ समझायें तो समझ में आये। जालौक, हमने ईशानदेवी से शक्तिदेवी के दोनो नेत्र-रत्न मँगवाये थे। उन्हें लेकर कुछ लोकापवाद था, इसी लिए मँगवा लिये थे। क्या ये रत्न वही हैं?'

'नहीं देव, वे तो नहीं हैं, लेकिन मूल्यवान उतने ही हैं। शक्तिदेवी के नेत्र-रत्न तो हमें अपने प्राणों से भी प्यारे हैं। हम उन्हें किसी को दे नहीं सकते। महाराज का आदेश था इसलिए मैं स्वयं उन रत्नों के स्थान पर इन दो मूल्यवान रत्नों को लेकर उपस्थित हुआ हूँ। उन नेत्र-रत्नों के सम्बन्ध में मुझे एक निवेदन भी करना था।' जालौक ने कहा।

यह सुनकर अभी तक चुप खड़े कुणाल ने कहा—वे दोनो नेत्र-रत्न तो मैंने भेजे हैं महाराज, मेरे अपने ही नेत्र-रत्न ! महाराज का ऐसा ही आदेश मुझे मिला था।

उसी समय राधागुप्त वहाँ आ पहुँचा। हिमवन्त भी उसके साथ था। राधागुप्त प्रणाम करके बोला—महाराज ने मुझे याद किया है क्या ? मैं तो आ ही रहा था।

'सर्वनाश ही हो गया राधागुप्त !'

'हाँ महाराज, मैं सुन चुका हूँ। लेकिन यह नियति नहीं, इसके पीछे एक भयंकर व्यक्ति है। बिना व्यक्ति की नियति तो मैंने आज तक सुनी नहीं।'

फिर उसने कुणाल से पूछा—क्यों कुमार, आपको महाराज का जो सन्देश मिला क्या वह 'आदेश' था ?

'हाँ महामात्य, आदेश तो था ही। महाराज की दन्तमुद्रा किया हुआ आदेश था। ऐसे आदेश का उल्लंघन किया ही कैसे जा सकता था?'

फिर राधागुप्त ने जालौक से पूछा—क्यों प्रदेशपति, आपको शक्तिदेवी के नेत्र-रत्नों के लिए यहाँ से महाराज का कोई 'आदेश' मिला था ?

'नहीं, महाराज की दन्तमुद्रावाला ऐसा कोई आदेश हमें नहीं मिला। केवल एक सन्देश मिला था, जो महाराज ने हमारे सन्देशवाहक के हाथ यहाँ से भेजा था। मैं इसी लिए इन रत्नों को लेकर भागा आया और मुझे यह निवेदन भी करना था कि शक्तिदेवी के नेत्र-रत्न ईशानदेवी कदापि नहीं दे सकतीं।'

जालौक के इस स्पष्टीकरण की ओर ध्यान देने का अभी किसी को अवकाश नहीं था। राधागुप्त को तो बात की तह तक पहुँचना था, इसलिए उसने पुनः कुणाल से पूछा—आपके पास आदेश लेकर कौन आया था कुमार ?

'कदम्बक नाम का कोई व्यक्ति था।'

'इन्द्रायु, सेनापति हिमवन्त का अश्व उधर खड़ा है।' राधागुप्त ने कहा, 'तू उस पर सवार होकर दौड़ा जा। यह कदम्बक महारानी तिष्यरक्षिता का कोई क्रीतदास मालूम पड़ता है। जाकर उसे तत्काल पकड़ ला।'

महाराज ने चकित होकर पूछा—यह सब क्या है राधागुप्त ?

'वही है जो मैं कहता आया हूँ। मगध को जीवित रखना हो तो उसे शक्ति-सम्पन्न, सुव्यवस्थित और सार्वभौम बनाये रखना होगा। मगध को मैं अपने जीते जी किसी के द्वारा रौंदा नहीं जाने दूँगा। आप जानते है यह दुष्कृत्य किसने किया ? कौन है वह आततायी जिसने कुणालकुमार के नेत्रों का अपहरण किया?'

'कौन है?' महाराज ने उत्सुक होकर पूछा।

'अभी पता चल जायेगा महाराज! लेकिन इसके प्रायश्चित्तस्वरूप आपको राज्य का त्याग करना पड़ेगा। यह मेरा दृढ़ निश्चय है। और कुणालकुमार,

आपको अच्छा लगे या न लगे, चाहे पिता की अवहेलना ही क्यों न करनी पड़े, परन्तु शासन-सूत्र सँभालना ही होगा। मगध की रक्षा के लिए यह नितान्त आवश्यक और अनिवार्य हो गया है।'

'मैं अन्धा अब शासन-सूत्र क्या सँभालूँगा महामात्य ? मुझे राज्य नहीं चाहिए। और महाराज से तो मैं इस प्रकार शासन-सूत्र कभी ले ही नहीं सकता। राज्य करने के लिए दशरथ है, उसका छोटा भाई सम्प्रति है। आप इन दोनों कुमारों को सिंहासनारूढ़ कीजिए।'

लेकिन राधागुप्त ने तो निर्णय कर ही लिया था। जालौक की उपस्थिति के कारण ऐसा निर्णय और भी आवश्यक हो गया था। उसने आदेशात्मक स्वर में कहा—कुणालकुमार, शासन-भार तो आपको ही सँभालना होगा। मेरी यही सम्मति है, चन्द्रगुप्त-सभा का यही आदेश होगा। प्रजा को भी यही आज्ञा है। आपका त्याग और उपासना भी तभी सार्थक होगी। जिस धर्मानुशासन और विश्व-शान्ति की महाराज ने मगध के लिए नयी परम्परा स्थापित की है उसे आपके अतिरिक्त कौन है जो आगे बढ़ा सके, विकसित कर सके?

फिर उसने महाराज की ओर मुड़कर पूछा—ईशानदेवी की ओर जो आदेश भेजा गया था उस पर महाराज ने दन्तमुद्रा की थी?

'दन्तमुद्रा तो हमने नहीं की राधागुप्त ! और वह सन्देश दन्तमुद्रा के योग्य था ही कब ?'

'तो दन्तमुद्रा करवायी आपकी चहेती सौन्दर्य-सम्राज्ञी रानी तिष्यरक्षिता ने। वह आदेश उसी ने कुणालकुमार के पास भिजवाया।'

'राधागुप्त ! जानते हो तुम क्या कह रहे हो ?'

'जानता हूँ महाराज ! राजाओं के लिए आदर्श था राम का, राम-राज्य का। सीता-जैसी सति का भी राम ने परित्याग कर दिया था। आप इसे समझ न सके, उसी का यह परिणाम हुआ।'

'समझ गया राधागुप्त, सब समझ गया। मेरी जरा-सी भूल, थोड़ी-सी लापरवाही ने सर्वनाश कर डाला। मैं थक गया था, थोड़ी देर के लिए मुझे नींद आ गयी थी....'

'और महाराज, तभी आपकी सुन्दरी रानी ने उस सन्देश पर आपकी दन्त-

मुद्रा लगा दी। सामान्य सन्देश को आदेश बना दिया। ईशानदेवी के बदले कुणालकुमार के पास भिजवा दिया। सन्देशवाहक काश्मीर नहीं, तक्षशिला पहुँच गया। शक्तिदेवी के नेत्र-रत्नों के स्थान पर कुणालकुमार के नेत्र-रत्न ले आये गये। परन्तु वे नेत्र-रत्न हैं कहाँ ?'

उन्हें तो हमीं ने साधु उपगुप्त के भिक्षापात्र में डाल दिया था। हा, हन्त !'

महाराज कटे हुए वृक्ष की भाँति सिर थामकर जमीन पर बैठ गये। वहाँ उपस्थित सभी व्यक्ति किंकर्त्तव्यविमूढ़ खड़े थे। किसी की समझ में नहीं आ रहा था कि क्या करना और क्या कहना उचित होगा। उसी समय इन्द्रायु दौड़ता हुआ वहाँ आया और बोला—महाराज, कदम्बक तो भाग गया।

'किसने कहा ?'

'महारानी ने।'

महाराज अशोक क्रोधोन्मत्त हो उठे। दशों दिशाओं को गुँजाते हुए वज्र-निनाद के-से स्वर में वह बोले—इन्द्रायु, ला तो हमारी असियष्टि। जल्दी ला।

इन्द्रायु लपकता हुआ गया और असियष्टि उठा लाया। महाराज अशोक ने उसे हाथ में लेकर सिंह-गर्जना की—जिस असियष्टि का हमने परित्याग किया था आज उसी को धारण कर रहे हैं। वह मारी जायेगी....

महाराज वज्र-वेग से आगे बढ़े। लेकिन राधागुप्त दोनो हाथ फैलाकर उनके सामने खड़ा हो गया और बोला—महाराज, आप जा नहीं सकते। असियष्टि को धारण भी नहीं कर सकते। विश्व-शान्ति का जो महान व्रत आपने लिया है उसे छोड़ नहीं सकते। उसका वध करने का काम आपका नहीं। यह काम हिमवन्त सेनापति का है महाराज।

और महाराज अशोक की क्षणिक उत्तेजना शान्त हो गयी। उनकी आँखों में वेदना और परिताप के आँसू भर आये। उन्होंने शोक-विह्वल कंठ से कहा—राधागुप्त, तुमने आज हमें बचा लिया। क्रोध के आवेग में हम न जाने क्या कर बैठते। हमारे जीवन की सारी साधना मिट्टी में मिल जाती। अवैर के उपासक हम वैर के वश में हो गये! धिक्कार है हमको! कौन वह दिन होगा जब इस दुनिया से वैर सदा के लिए नष्ट होगा ? कितना वैर है यहाँ पर ? सकारण और अकारण समस्त वैरों को एकत्रित किया जाये तो यह दुनिया

जलकर राख ही हो जाये। हाय, कब इस दुनिया से जायेगा वैर !

फिर उन्होंने अपने हाथ की असियष्टि को दूर फेंकते हुए कहा—कैसा था हमारा दम्भ और अज्ञान कि चले थे दुनिया को अवैर सिखाने ! हम क्या अवैर सिखाते, जो अभी एक क्षण पहले नंगी तलवार हाथ में लेकर वैर लेने दौड़े जा रहे थे ! यही थी हमारी जीवन-भर की उपासना ? इसी बिरते पर हम चले थे विश्व को शान्ति का सन्देश सुनाने ? यही थी हमारी शान्ति और अहिंसा को नूतन परम्परा ? लोग देखते और तालियाँ बजाकर कहते कि वह जा रहा है बकवादी, बुद्धवचन को तोते की भाँति रटनेवाला ! नहीं, अब हम किसी का वध नहीं करेंगे, किसी से बदला नहीं लेंगे....

तभी कांचनमाला ने आगे बढ़कर रहा—लेकिन महाराज, मेरा न्याय तो अभी हुआ नहीं। मैं न्याय चाहती हूँ। आप राजा हैं। प्रजा के साथ न्याय कीजिए महाराज !

उसी समय दशरथ वहाँ आता दिखाई दिया। राधागुप्त ने असियष्टि को उठा लिया था। उसे दशरथ को सौंपते हुए उसने कहा—कुमार, अब तुम इसे धारण करो।

फिर कांचनमाला की ओर मुड़कर बोला—देवि, आपके साथ न्याय किया जायेगा। महाराज विश्व-शान्ति की अपनी उपासना को भंग नहीं कर सकते ! राजप्रतिनिधि दशरथकुमार भी उसी भाँति शासन की परिपाटी को भंग नहीं होने दे सकते। कुमार, आप हिमवन्त को आदेश प्रदान कीजिए कि वह महारानी तिष्यरक्षिता को उनके अपराध का समुचित दंड दे। हिमवन्त, आगे आओ।

'लेकिन राधागुप्त, मगध में मृत्युदंड से दंडित को भी तीन दिन का अवसर देने की प्रथा है।'

'वह प्रथा अपराधी के लिए है महाराज, महाअपराधी के लिए नहीं।'

'राधागुप्त, जिस परिपाटी को हमने चलाया....'

'महाराज, अब आपने राजपद छोड़ दिया है, असियष्टि का परित्याग कर दिया है। आप शान्ति-सन्देश के प्रचारार्थ भिक्षुओं को भेज सकते हैं, शासन-कार्यों में हस्तक्षेप नहीं कर सकते। राजप्रतिनिधि दशरथकुमार की आज्ञा हो चुकी है।'

महाराज अशोक खिन्न हो गये। धरती की ओर देखते हुए उन्होंने कहा —कब होगी इस विश्व में शान्ति ? अवैर कब स्थापित होगा ?

'कभी नहीं!' राधागुप्त ने निर्ममतापूर्वक कहा और फिर हिमवन्त को सम्बोधित किया, 'आगे आओ हिमवन्त !'

और हिमवन्त राजप्रतिनिधि का आदेश ग्रहण करने के लिए सामने आकर खड़ा हो गया !

३२ : : वैर की वह्नि

हिमवन्त सवेरे की अँगड़ाई ले रहे पाटलिपुत्र नगर की ओर तेजी से भाग चला। काम उसका बड़ा ही महत्वपूर्ण और जल्दी का था। और रानी तिष्यरक्षिता के सौन्दर्य-भवन पर पहुँचने से पहले उसे प्रातःकर्मों से निवृत्त भी होना था। किसी तरह की उथल-पुथल होने और बात फैलने के पहले ही उसे अपना काम निपटा डालना था। विलम्ब की जरा भी गुंजाइश न थी। राधागुप्त ने तो स्पष्ट शब्दों में कह दिया था कि महारानी को मार डालना चाहिए। राजप्रतिनिधि की भी यही आज्ञा थी। परन्तु हिमवन्त अभी तक कोई निर्णय नहीं कर पाया था। मगध की न्याय-प्रणाली के अनुसार मृत्यु-दंड से दंडित को भी तैयारी के लिए तीन दिन देने की प्रथा थी। महाराज अशोक ने इस बात का उल्लेख भी किया था। तो वह क्या करे ? रानी को बन्दी बना ले ? अज्ञातवास में भेज दे, या निर्वासित कर दे ? या फिर, जैसा कि राधागुप्त ने कहा था, जान से मारकर सारा किस्सा ही खत्म कर दे ? मारकर प्रकरण समाप्त कर देना तो बहुत सरल था, लेकिन स्त्री-हत्या के पाप का क्या होगा ? क्या मगध के नाम पर कलंक का अमिट टीका नहीं लग जायेगा ? क्या यावच्चन्द्र-दिवाकरौ यह कलंक कालिमा लगी नहीं रहेगी ? तो क्या करना उचित होगा ? बहुत सोचने-विचारने के बाद भी वह किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच पा रहा था। एक यह बात भी विचारणीय थी कि महाराज अशोक का क्या होगा ? कहीं ऐसा कुछ न कर बैठे जिससे महाराज को कष्ट पहुँचे !

और क्या तिष्यरक्षिता को पता नहीं चल गया होगा ? पता तो उसे अवश्य चल गया होगा। आश्चर्य नहीं, यदि उसने अपनी रक्षा का कोई प्रबन्ध भी

कर लिया हो ! उसकी अपराधी आत्मा निस्सन्देह किसी कपट चाल में पड़ी होगी । जो कुणालकुमार-जैसे की आँखें निकलवा सकती है वह क्या नहीं कर सकती ! उसकी क्रूरता के आगे तो कठोर-से-कठोर आततायी भी पानी भरेगा।

कहीं वह निकल न भागे ! यह विचार आते ही उसने एक चरपुरुष को सौन्दर्य-भवन की आन्तरिक हलचल पर दृष्टि रखने के लिए नियुक्त कर दिया। फिर उसने अपने कुछ चुने हुए विश्वस्त सैनिकों को राजप्रासाद के सभी प्रवेश-द्वारों पर तैनात किया; और तब सशस्त्र सैनिकों की एक टुकड़ी लेकर सौन्दय-भवन की आर चला ।

हिमवन्त वहाँ पहुँचा तो चारों ओर शान्ति और सन्नाटा था । न किसी प्रकार की हलचल थी और न कोई गति-विधि । लगता था जैसे सौन्दर्य-भवन के सभी निवासी सोये पड़े हों। वह बाहर खड़ा देखता और अन्दर प्रवेश करने की योजना बनाता रहा । तभी उसका भेजा हुआ चरपुरुष वहाँ आया और प्रणाम करके बोला—देव, सौन्दर्य-भवन के अन्दर तो बड़ी हलचल है ।

'लेकिन बाहर से तो कुछ दिखाई नहीं पड़ता ?'

'दिखाई तो भीतर भी कुछ नहीं देता, लेकिन बहुत-सा विस्फोटक पदार्थ अन्दर सर्वत्र बिछा दिया गया है । यह एक मुट्ठी मैं लेता आया हूँ ।'

हिमवन्त ने देखा तो उसके पाँव-तले की धरती खिसक गयी । चरपुरुष की मुट्ठी में राल, गन्धक, घास-जैसे विस्फोटक पदार्थ थे । इसका अर्थ तो यही हुआ कि तिष्यरक्षिता सौन्दर्य-भवन को जलाकर भाग जाना चाहती है ।

'नहीं, वह भागने नहीं पायेगी ।' हिमवन्त ने मन-ही-मन कहा और कुछ सशस्त्र सैनिकों को साथ लेकर सौन्दर्य-भवन के प्रवेश-द्वार में घुस गया । मुख्य प्रांगण में उसे सदा की अपेक्षा कहीं अधिक संख्या में सशस्त्र यवनियाँ खड़ी दिखाई दीं । उनकी असाधारण उपस्थिति ने उसकी धारणा को पुष्ट कर दिया । अवश्य ही उस दुष्टा ने सौन्दर्य-भवन को जलाने का निश्चय कर लिया है । अग्निकांड के परिणामस्वरूप जो अव्यवस्था होती उसकी ओट लेकर या तो वह भाग जाना या सारे नगर को ही जलाकर राख कर देना चाहती है ।

उसने आगे बढ़कर यवनियों से पूछा—महारानीजी हैं ?

'हैं !' प्रत्युत्तर बहुत ही संक्षिप्त और किंचित् रोषपूर्ण भो था ।

'यह मुद्रा ले जाओ और मेरे आगमन की सूचना दो । कहना, महाराज ने भेजा है और बहुत जरूरी काम है ।' हिमवन्त ने आदेशात्मक स्वर में कहा।

यवनी मुद्रा लेकर भीतर गयी और तत्काल लौट आकर बोली—महारानी-जी भिक्खुणीगतिक के ध्यान में बैठी हैं । अभी मिल नहीं सकतीं....

हिमवन्त का सन्देह बिलकुल पक्का हो गया । सौन्दर्य-भवन को जलाकर वह दुष्टा महाराज के राजभवन में खिसक जाना चाहती है । हो सकता है कि उसने दोनो महलों के बीच पहले से सुरंग भी बना रखी हो ।

उसने कड़ककर कहा—जाकर रानीजी से कह, मैं एक पल भी रुक नहीं सकता । महाराज की आज्ञा लेकर आया हूँ ।

यवनी दौड़ी-दौड़ी अन्दर गयी और उलटे पाँव लौट आयी और बोली—महारानीजी ने महाराज की आज्ञा सिर-आँखों पर चढ़ायी । लेकिन कुछ रुकना होगा । वह शीघ्र ही बाहर आयेंगी ।

अब हिमवन्त ने प्रतीक्षा करना उचित नहीं समझा । उसने अपने साथ के सैनिकों की ओर एक दृष्टि डाली । संकेत मिलते ही सैनिकों ने वहाँ खड़ी सभी यवनियों को घेर लिया । वे भौंचक रह गयीं और कुछ सोच पातीं उसके पहले तो सभी की मुश्कें कस दी गयीं । यवनियों को बन्दी बनाकर हिमवन्त ने सौन्दर्य-भवन के प्रत्येक द्वार पर अपने सैनिक नियुक्त कर दिये । अब कोई भीतर से बाहर जा नहीं सकता था ।

सुरक्षा का सारा प्रबन्ध हो चुका तो वह अकेला अन्दर की ओर लपका। उसके हाथ में नंगी तलवार थी और वह वायु-वेग से सीढ़ियों पर सीढ़ियाँ चढ़ता चला जा रहा था । कुछ होने के पहले ही वह रानी को बन्दी बना लेना चाहता था ।

लेकिन यह क्या ? सौन्दर्य-भवन में तो एक भी आदमी नहीं । कहीं किसी ने उसका सामना नहीं किया । न उसे रोका, न टोका ! क्या सब लोग सौन्दर्य-भवन खाली करके चले गये ? क्या रानी तिष्यरक्षिता उसकी आँखों में धूल झोंककर भाग गयी ? क्या यवनी ने झूठ ही कहा कि महारानी अन्दर हैं ? उसे सारा सौन्दर्य-भवन अपनी खिल्ली उड़ाता प्रतीत हुआ । भय, चिन्ता और

व्यग्रता के कारण उसका कलेजा मुँह को आने लगा। कहीं वह नागिन महाराज के राजभवन में न पहुँच गयी हो ? वहाँ तो प्रहरी और अनुचर भी अधिक नहीं। यदि मगध के राजमहल को उस दुष्टा ने जला दिया तो क्या होगा ? विचार-मात्र से उसे कँपकँपी आ गयी। उसने अपनी चाल और तेज की।

वह रहा रानी तिष्यरक्षिता का प्रकोष्ठ ! हिमवन्त अन्धड़ की भाँति उस ओर लपका। उसे रानी तिष्यरक्षिता अकेली अन्दर खड़ी दिखलाई दी। वह खड़ी कुछ सोच रही थी। आज उसकी सजधज बिलकुल ही निराली थी। बहुमूल्य रत्नाभूषणों से उसने अपना शृंगार किया था। उस साज-सज्जा में उसका सौन्दर्य और भी निखर आया था। सहसा तिष्यरक्षिता ने उसकी ओर देखा। देखकर चौंकी। हिमवन्त के हाथ में नंगी तलवार देखकर वह उसके आगमन का अभिप्राय अच्छी तरह समझ गयी। वह दौड़ी और अपने प्रकोष्ठ में से निकलकर ऊपरवाली चन्द्रशाला की ओर लपकती चली गयी।

हिमवन्त भी उसके पीछे भागा। वह यही समझा कि तिष्यरक्षिता चन्द्रशाला से रस्सी अथवा सीढ़ियों के सहारे दूसरी ओर निकल भागना चाहती है। दोनों के बीच का अन्तर क्रमशः कम होता गया। हिमवन्त को लगा कि तिष्यरक्षिता को पकड़ ही लिया है, तभी सहसा एक जोर का धमाका हुआ।

हिमवन्त वहीं-का-वहीं रुक गया। धमाके की आवाज चन्द्रशाला की ओर से ही आयी थी। आवाज इतने जोर की थी, मानो कहीं पर पहाड़ ही टूटकर गिरा हो। उसने चकित होकर अपने चारों ओर देखा। क्या सौन्दर्य-भवन तो नहीं सुलग उठा ? फिर उसने ऊपर देखा। तिष्यरक्षिता वहाँ पहुँच गयी थी और अपनी कमर पर हाथ रखे खड़ी थी। उसके आभूषणों में लगे रत्न जगमगा रहे थे ! हिमवन्त की आँखें चौंधियाने लगी। उसने एक साथ इतने आभूषण और ऐसा रूप पहले कभी नहीं देखा था।

तिष्यरक्षिता वहाँ खड़ी नीचे हिमवन्त की ही ओर देख रही थी। उसके नेत्रों में जैसे हलाहल विष भरा था। आँखों से अग्नि की लपटें निकल रही थीं। हिमवन्त को ऐसा लगा मानो वह दृष्टि उसे जलाकर राख कर देगी। उन नेत्रों की ज्वाला वह इतनी दूरी पर खड़ा हुआ भी अनुभव कर रहा था।

लेकिन आग हो या आँधी उसे तो आगे बढ़ना ही होगा। दुष्टा कहीं भाग

न जाये। वह कदम आगे बढ़ा ही रहा था कि विष बुझे तीर-जैसा तीखा और प्रदाहक स्वर सुनाई पड़ा :

'मगध के सेनापति, एक कदम भी आगे बढ़ा तो मैं यहाँ चन्द्रशाला से कूदकर जान दे दूँगी। और प्राण प्यारे हों तो तू भी वहीं से लौट जा। यह सौन्दर्य-भवन अभी जलकर राख हो जायेगा। मूर्ख, तू चला है मुझे पकड़ने! जाकर किसी छोकरी को पकड़। मेरे-जैसी महारानी को तू क्या खाकर पकड़ेगा? बड़ा योद्धा बनता है। देखे होंगे तूने हाथी-घोड़ों के युद्ध। वे युद्ध नहीं तमाशे हैं। तू क्या जाने कैसा होता है मन का युद्ध। मन के युद्ध में जूझनेवाले जीवन से खेलते हैं और जो जीवन से खेलते हैं वे क्या कभी जीवित पकड़े जा सकते हैं? क्यों अपने स्त्री-बच्चों को रुलाता है नादान? जा, लौट जा और जाकर कह अपने राजा से कि नारी के सौन्दर्य को खरीदना भयंकर पाप है। यह एक ऐसा अपराध है जिसका सर्वनाश को छोड़ और कोई दंड नहीं। याद रख, जहाँ भी सृष्टि की विधात्री नारी को सत्ता और स्वर्ण से खरीदा जायेगा, जब भी नारी को प्रेम से वंचित किया जायेगा वहीं सर्वनाश अपना तांडव दिखायेगा। नारी की महान सृजन-सामर्थ्य को निष्फल और तिरस्कृत किया गया तो बची रह जायेगी केवल हीनता और क्षुद्रता—समस्त मानव-सृष्टि ही क्षुद्र और बौनी हो जायेगी। मुँह बाये खड़ा सुन क्या रहा है मूर्ख? भाग जा यहाँ से, नहीं तेरी राख भी न बचेगी। मुझे अपने राख हो जाने का डर नहीं। मैं तो जला रही हूँ वैर की वह्नि, जो अनन्त काल तक जलती रहेगी। मुझे तेरे ऊपर दया आ रही है ओ दासों के दास! भागकर अपने प्राण बचा। उधर देख, अग्नि की ज्वालाएँ लपलपा रही हैं। अभी समय है, भाग जा यहाँ से....'

हिमवन्त ने मुड़कर देखा तो नीचे की ओर से आग की लपटें उठ रही थीं। वह एकदम नीचे की ओर भागा।

३३ : : सर्वनाश

सारा सौन्दर्य-भवन धू-धूकर जल रहा था और हिमवन्त वायु-वेग से नीचे की ओर भागा जा रहा था। एक क्षण की भी देर हो जाती तो वह आग की लपटों में घिर जाता और वहाँ से कभी बाहर न निकल पाता।

तिष्यरक्षिता के हृदय में असन्तोष और वैर की, ईर्ष्या और प्रतिशोध की, निष्फलता और क्रोध की जितनी भी आग इतने दिनों से ढकी-मुँदी पड़ी थी, अन्दर-ही-अन्दर धधक रही थी वह सब-की-सब आज बाहर निकल आयी थी और उसके सौन्दर्य-भवन को धू-धूकर जला रही थी। इस अग्नि-दहन की उसने कई दिनों पूर्व से तैयारियाँ आरम्भ कर दी थीं। अपने सभी क्रीतदासों को उसने सौन्दर्य-भवन के एक-एक कोने में विस्फोटक पदार्थ जमा करने के काम पर लगा रखा था। यह काम पूरा होते ही उसने सबको छुट्टी दे दी, मुक्त कर दिया। सौन्दर्य-भवन का अधिकांश लकड़ी का ही बना था, इसलिए आग पकड़ते देर न लगी और देखते-ही-देखते सारा भवन सुलग उठा।

हिमवन्त उतरकर जब नीचे आया तो वहाँ एक भी सैनिक नहीं था। यवनियाँ भी सब भाग गयी थीं। चारों ओर आग की लपटें उठ रही थीं। एक के बाद एक तल्ला सुलगता जा रहा था। और सबसे ऊपरवाली चन्द्रशाला में अब भी तिष्यरक्षिता अकेली और निश्चल खड़ी थी। वह इस तरह खड़ी थी मानो पत्थर की मूरत हो। न हिलती थी न डोलती थी। टक लगाये नीचे से उठती अग्नि-ज्वालाओं को देख रही थी। अपार सन्तोष था उसके चेहरे पर। जीवन-भर कितना झूठ बोलना पड़ा था उसे? कितने अभिनय करने पड़े थे? आकांक्षा तो थी ऐश्वर्यपूर्ण साम्राज्य की सम्राज्ञी बनने की, किसी सुन्दर, सुशोभन पुरुष की अंकशायिनी बनने की, लेकिन जाप करना पड़ा था शान्ति का, हाँ-में-हाँ मिलानी पड़ी थी एक शिथिल काय बूढ़े की। आज वह सब जला जा रहा था और वह आन्तरिक सन्तोष से उस अग्निकांड को देख रही थी। उसे वहाँ इस तरह निर्भय, निश्चिन्त खड़े देखकर हिमवन्त को बड़ा आश्चर्य हुआ।

फिर उसने सामने मैदान की ओर देखा तो वहाँ उसे महाराज अशोक, महामात्य राधागुप्त, राजमाता कांचनमाला और आँखों पर पट्टी बाँधे और इन्द्रायु का हाथ थामे राजकुमार कुणाल आते दिखाई दिये। तिष्यरक्षिता ने भी उन्हें देखा और उसका सर्वांग जल उठा। महाराज अशोक को देखकर तो उसे ऐसा क्रोध आया कि यदि उसका बस चलता तो वह उस बुड्ढे को अपने नख-दाँतों से विदीर्ण कर टुकड़े-टुकड़े कर देती। कापुरुष चला है विश्व को शान्ति का उपदेश देने! कायर, क्लीव! नपुंसक! नारी के सौन्दर्य का भोग करने की

जिसमें शक्ति नहीं, परम्परा से प्राप्त ऐश्वर्य और सत्ता का उपभोग करने का जिसमें साहस नहीं, वह बना फिरता है प्रियदर्शी और देवानांप्रिय! धिक्कार है !

और आँखों पर पट्टी बाँधे अन्धे कुणाल को देखकर तो उसका जी चाहा कि खिलखिलाकर हँस पड़े। बड़ा अभिमान था इस छोकड़े को अपनी बड़ी-बड़ी आँखों पर! और करो बेटा सौन्दर्य का निरादर! यही दंड है समर्पणमयी नारी के तिरस्कार का!

हिमवन्त नीचे आकर प्रतिमा की तरह खड़ा रह गया। सैनिक भाग-दौड़ कर रहे थे। पानी-भरे कुंभ-के-कुंभ ला-लाकर लपटों को शान्त करने का प्रयत्न कर रहे थे। परन्तु आग धधकती ही जा रही थी।

महाराज अशोक और राधागुप्त आदि उस अग्निकांड को देखकर सौन्दर्य-भवन के निकट तक दौड़े आये और वहीं निरुपाय खड़े रह गये। और ऊपर चन्द्रशाला में खड़ी तिष्यरक्षिता को देखकर तो सब-के-सब स्तम्भित ही हो उठे।

उन्हें अपनी ओर चकित होकर देखता पाया तो तिष्यरक्षिता ने एक हाथ उठाकर विष-भरे तीखे स्वर मे कहा—राजा अशोक, तुम जीवन-भर शान्ति और ज्ञान की बातें बघारते रहे हो, आज मेरी अन्तिम बातें कान खोलकर सुन लो। जो भी जीवन की अन्त घड़ी तक राजा बनने का मोह किये रहा, तन से, मन से और धर्म से भी—तुम धर्म-संघ के अधिपति बने हो न, इसलिए कह रही हूँ कि धर्म से भी—सत्ता से चिमटा रहा, अन्त में उसे सर्वनाश ही देखने को मिला। सच्चे राजत्व का केवल एक ही मार्ग है—इक्ष्वाकु-वंश के राजाओं ने जिसका अनुसरण किया—मन, वचन और कर्म से प्रजा-पालन और उत्तर वय में वानप्रस्थ, आत्मचिन्तन के लिए सत्ता और शासन का परित्याग। जिसने इस पथ का अनुसरण किया वह तर गया। परन्तु जो तुम्हारी तरह सत्ता से चिमटा रहा वह सर्वनाश का कारण बना। अति सब प्रकार की भयकर होती है राजा, चाहे वह धर्म की हो अथवा अधर्म की, हिंसा की हो या अहिंसा की, मोह की हो या वैराग्य की। त्यागने का अवसर आ जाने पर भी जो त्यागता नहीं, अन्त में उसके हाथ सर्वस्व-नाश और सब के नाश की आग ही लगती है। राजा, तुम बूढ़े हुए, पर समझ न आयी। भला श्मशान-यात्रा तक भी कोई राजपद से चिमटा रहा है? इसके अनिष्ट परिणामों को तुम्हारा यह महामात्य

राधागुप्त जानता है, पर बेचारे में कहने का साहस नहीं। बुढ़ापा आते ही तुमने वानप्रस्थ ले लिया होता तो आज राजा चन्द्रगुप्त के समकक्ष होते। लेकिन तुममें इतना पुरुषार्थ कहाँ? पौरुष ही होता तो सौन्दर्य का सुखोपभोग न करते। आज भी साहस हो तो आ कूदो इस अग्नि-सागर में। यह अग्नि-स्नान करके हम दोनो के शरीर कांचन वर्ण हो जायेंगे, स्वर्ग के देवताओं को भी हम पर ईर्ष्या होगी। लेकिन मैं जानती हूँ, यह तुम्हारे किये न होगा। तुम तो केवल बूढ़े हो सकते हो, तन से, मन से, और विचारों से भी। मैं तो जाती हूँ राजा, पर मगध के विनाश की भविष्यवाणी भी किये जाती हूँ। पाँच वर्ष भी यह साम्राज्य टिकेगा नहीं। राज्य-क्रान्ति का भैरवनाद मैं सुन रही हूँ। अति का यही परिणाम होता है....

और नीचे से उठती हुई बुभुक्षित ज्वालाओं ने तिष्यरक्षिता के शरीर को अपनी चपेट में ले लिया। सारा सौन्दर्य-भवन नीचे से ऊपर तक ज्वालाओं का एक पुंज बन गया और तिष्यरक्षिता उसी में जलकर राख हो गयी।

महाराज अशोक मारे शोक के वहीं बैठ गये। उनकी आँखों से आँसुओं की धाराएँ बहने लगीं। राधागुप्त को अपने निकट आता देख उन्होंने कहा—राधागुप्त, वह तो जलकर राख हो गयी। लेकिन हम कब समझेंगे कि जो विद्रोही हैं, कुपथ पर जा चढ़े हैं उनकी आत्मा सबसे शक्तिशाली और तेजस्वी होती है। यदि हम उन्हें समझ सकें, समझा सकें, सत्पथ पर ला सकें तो यह दुनिया तेजस्वी व्यक्तियों से सम्पन्न हो उठे। अकेले अंगुलिमाल ने कितना क्या कर दिखाया! शान्ति में कितनी शक्ति होती है, इसे हम कब पहचान पायेंगे? यह तिष्यरक्षिता यदि शान्ति की वाणी बोल सकी होती तो क्या सारी दुनिया ही न बदल जाती? यदि वह स्वयं बदली जा सकती....

'महाराज, यह आपकी निरी कल्पना ही है। इस दुनिया में ऐसे लोगों की कमी नहीं, जो कभी बदल नहीं सकते। वह तिष्यरक्षिता भी इसी कोटि की थी!'

'लेकिन उसकी एक बात तो सच है राधागुप्त! अब हम राजा नहीं रह सकते। कुणाल का राज्याभिषेक करो। हम राजा नहीं बने रह सकते।'

३४ :: कुणाल अन्धा नहीं

सौन्दर्य-भवन को जलता देख चारों ओर से लोगों की भीड़ उमड़ पड़ी। सभी हाथों में पानी के घड़े लिये हुए थे। सैनिक दौड़-धूप कर रहे थे। जबर्दस्त कोलाहल हो रहा था। दुर्घटना और अग्निकाड के समाचार सारे नगर में विद्युत्-वेग से फैल गये थे। नागरिक सहायतार्थ दौड़े आ रहे थे। ऐसे समय जो सहायतार्थ दौड़कर न आता उसे नगर से बहिष्कृत कर दिया जाता था, इसलिए भी लोग भागे चले आ रहे थे।

लोगों की भीड़ को उमड़ते देख राधागुप्त ने महाराज अशोक से कहा—महाराज, नगरजन दुर्घटना को ही अग्निकांड का कारण मान रहे हैं। यह अच्छा ही है। हम भी सत्य पर पर्दा डाल दें और इस ओर से निश्चिन्त हो जायें। अकेला हिमवन्त जानता है, उसे समझा दिया जायेगा....

लेकिन महाराज अशोक ने जैसे कुछ सुना ही नहीं। कुणाल का अकाल अन्धत्व उन्हें मन-ही-मन खाये जा रहा था। उसकी ओर देखने का उन्हें साहस नहीं हो रहा था। उन्होंने कहा—राधागुप्त, कुणाल को उनके राजमहल में पहुँचाने की व्यवस्था करो। इन्द्रायु, तुम कुमार को सावधानी से उनके भवन में ले जाओ। चिकित्सा और उपचार के लिए भिषग्वर आकाशगोत्र को बुलाओ। यहाँ किसी की आवश्यकता नहीं। इतने आदमी तो हैं आग बुझाने के लिए। जो होना था, वह हो गया। नियति इसी को तो कहते है राधागुप्त!

और इन्द्रायु महाराज के आदेशानुसार कुणाल को उनके भवन की ओर ले चला तब राधागुप्त ने कहा—नियति अवश्य है महाराज; परन्तु उसको लानेवाले भी तो हमीं हैं। चक्रवर्ती शासन के स्रष्टा और संस्थापक थे भगवान कौटिल्य। उसके विधि-नियम उन्हीं ने बनाये। उन नियमों में शान्ति के लिए स्थान था, परन्तु अशान्ति उत्पन्न करनेवालों के लिए दंड की व्यवस्था भी थी। क्योंकि भगवान कौटिल्य जानते थे कि मानव-स्वभाव को एकदम बदला नहीं जा सकता; कुछ लोग असन्तुष्ट होंगे ही, परिणाम में अशान्ति उत्पन्न होगी ही और उसे केवल दंड से ही दबाया जा सकेगा। हमने दंड का सर्वथा परित्याग कर दिया, वानप्रस्थाश्रम की परम्परा को छोड़ दिया और उसी का यह परिणाम

महाराज चिन्तातुर बैठे थे। उनके एक ओर कुणाल बैठा था, दूसरी ओर कांचनमाला और पास ही दोनो बालक भी थे। सब को यह देखकर परम आश्चर्य हुआ कि कांचनमाला ने अपनी आँखों पर एक काली पट्टी कसकर बाँध रखी थी।

सभी ने आकर महाराज को प्रणाम किया और चुपचाप बैठ गये। वातावरण इतना उदास और विषादपूर्ण था कि कोई कुछ बोल न सका।

अन्त में महाराज ने कहा—राधागुप्त, इस कांचनमाला को समझाओ। हमारा कहा तो सुनती ही नहीं। यही रट लगाये बैठी है कि गान्धारी की भाँति आँखों पर पट्टी बाँधे रहूँगी।

राधागुप्त की समझ में न आया कि क्या उत्तर दे। वह दूसरी ही उधेड़-बुन में पड़ा था। वह सोच रहा था कि यदि जालौक को तक्षशिला का प्रादेशिक बनाया जा सके तो साम्राज्य की वह सीमा सुरक्षित हो जायेगी। तब यह विरुद्ध नहीं जायेगा। लेकिन जब तक राजपद का निपटारा नहीं हो जाता, यह प्रसंग छेड़ा नहीं जा सकता था।

उसने अत्यन्त मन्द स्वर में कहा—महाराज, चन्द्रगुप्त-सभा एक बात मानती है, दूसरी बात नहीं मानती। कुणालकुमार इस स्थिति में राजपद पर आये यह किसी को स्वीकार नहीं। दशरथकुमार राजप्रतिनिधि बने रहें यह सभी को स्वीकार है और यह भी स्वीकार है कि जालौक भले ही तक्षशिला के प्रदेशपति हों।

'लेकिन परिपाटी तो यही है कि युवराज को तक्षशिला का प्रदेशपति होना चाहिए। तुम स्वयं भी इसी परिपाटी पर जोर देते आये हो।'

'समय आने पर इस परिपाटी का पालन भी अवश्य किया जायेगा। चन्द्रगुप्त-सभा के वर्चस्व की हम प्राण देकर भी रक्षा करेंगे। परन्तु अभी तो यह सोचना है कि राजपद के लिए क्या किया जाये। कुणालकुमार को तो चन्द्रगुप्त-सभा स्वीकार करती नहीं। महाराज की इस सम्बन्ध में क्या आज्ञा है?'

'हम अब आज्ञा नहीं देते राधागुप्त, केवल समझा सकते हैं। लेकिन एक बात हमारी समझ में नहीं आती। लोग क्यों कहते हैं कि कुणाल अन्धा हो गया? हम कहते हैं कि कुणाल अन्धा नहीं, उसने प्रकाश खोया नहीं, प्राप्त

किया है। सच पूछा जाये तो अन्धे हम हैं, कुणाल....'

तभी हवा में तैरता हुआ एक स्वर सुनाई दिया—कुणालकुमार अन्धे नहीं हैं महाराज! कौन कहता है कि कुणाल अन्धे हैं!

यह स्वर साधु उपगुप्त का था। वह सहसा वहाँ आ पहुँचा था। राधागुप्त ने साश्चर्य उसकी ओर देखा। उसकी समझ में नहीं आया कि साधु का इस समय वहाँ आने का हेतु क्या है? सारे मगध को तो भिक्खु बना चुका, अब और क्या चाहता है? लेकिन साधु के मुँह पर अपार श्रद्धा थी। आँखों में निर्मल प्रेम था। दो डग आगे बढ़कर उसने पुनः श्रद्धापूर्वक कहा—कुणाल-कुमार अन्धे नहीं हैं महामात्य! मैं भगवान तथागत के नाम पर कहता हूँ, वह अन्धे नहीं हैं।

उपगुप्त के इन शब्दों का भावार्थ तो किसी की समझ में न आया, परन्तु उसके चेहरे पर अलौकिक तेज था। उसने पुनः दृढ़ निश्चय और अडिग श्रद्धा से भरे हुए स्वर में कहा—यह वही पाटलिपुत्र नगर है जहाँ सारिपुत्त मौद्गल्यायन ने इच्छा-मृत्यु का वरण किया था; जहाँ महान भिषगाचार्य जीवक ने असाध्य रोगों की चिकित्सा को साध्य करके दिखा दिया था। उन्होंने शल्य-क्रिया द्वारा मनुष्यों के मस्तकों को चीर-फाड़कर देखा और मरे हुओं को प्राण-दान दिया। चिकित्सा के महान आचार्य जीवक का तो ऐसा प्रताप था कि औषधियाँ उनके आगे हाथ बाँधे खड़ी रहती थीं। भगवान तथागत के बताये हुए प्रेम और दया के महान पथ के वह पथिक थे। उनकी चिकित्सा-परम्परा को हमारे संघ ने अभी तक जीवित रखा है। महामात्य, किसी देश की महानता और श्रेष्ठता युद्धों के द्वारा नहीं प्रमाणित होती। वह प्रमाणित होती है प्रेम और दया के ऐसे महान कार्यों से जिन्हें महान भिषगाचार्य जीवक ने अपने काल में किया था। एक युग अपने पूर्ववर्ती युग से ऐसी महान परम्पराओं को प्राप्त करता और अपने परवर्ती युग को उत्तराधिकार में प्रदान कर महानता का वरण करता है। इसी प्रकार एक देश दूसरे देश से मानव-कल्याण के ऐसे महत् कार्यों का ज्ञान उपलब्ध कर उन्हें तीसरे देश को प्रदान करता है। यही है महान बनने का क्रम। देश और जातियाँ इसी प्रकार महान बनती और आगे बढ़ती रहती हैं। हमारे संघ ने उत्तरोत्तर विकसित होनेवाली इस ज्ञान-

परम्परा को जीवित रखा है और इसी लिए मैं इस समय यहाँ आया हूँ और कह रहा हूँ कि कुणालकुमार अन्धे नहीं हैं। महाराज उन्हें मेरे साथ जाने की अनुमति प्रदान करें। आज से ठीक आठवें दिन मैं उन्हें स्वयं आकर लौटा जाऊँगा। उसके बाद चन्द्रगुप्त-सभा जो उचित समझे, निर्णय करे। भगवान तथागत की जय हो!

साधु उपगुप्त की बातों ने महाराज अशोक को प्रसन्न कर दिया। उन्होंने उठकर कुणालकुमार का हाथ धीरे से साधु उपगुप्त के हाथ में थमा दिया और श्रद्धा-विह्वल स्वर में बोले—भगवान तथागत की जय हो!

३५ : : प्रेमाश्रु

समाचार मिलते ही महाराज अशोक कुक्कुटाराम की ओर चल पड़े। अनुचर इन्द्रायु उनके पीछे-पीछे चल रहा था और उसके हाथ में एक स्वर्ण-पात्र था। राधागुप्त को समाचार मिले और वह भी चल दिया। उसके हाथ में भी एक स्वर्ण-पात्र था। सेनापति हिमवन्त चला। प्रदेशपति जालौक चला। वृद्ध मंत्री खल्लाटक चला। सभी के हाथों में स्वर्ण-पात्र थे। नारियाँ चलीं। पुरुष चले। शत-सहस्र नगरजन चले। दास-दासी और भृत्य-चाकर भी चले। जिसे भी समाचार मिला वह कुक्कुटाराम की ओर चल पड़ा। एक जन-प्रवाह ही कुक्कुटाराम की ओर प्रवाहित होने लगा।

सभी के मुँह में एक ही बात थी। एक सहस्र भिक्खुओं की भव्य परिषद् कुक्कुटाराम में हो रही थी। महान भिक्खु घोष अध्यक्ष पद पर थे। आज भगवान तथागत के परिनिर्वाण की कथा सुनाई जाने को थी। स्वयं भिक्खु-श्रेष्ठ घोष कथा सुनायेंगे। महापरिव्राजक मोगलिपुत्त तिस्स ने नगरवासियों को आमंत्रित किया था। सारा पाटलिपुत्र नगर उमड़ा चला जा रहा था।

भिक्खु-श्रेष्ठ घोष भिषगाचार्य जीवक के सुयोग्य शिष्य थे। उन्होंने जीवक की चिकित्सा-परम्परा को बनाये रखा था। महापरिव्राजक मोगलिपुत्त तिस्स ने कुणालकुमार के उपचार और परिचर्या का भार उन्हीं को सौंपा था। घोष अपने समय के महान भिषग्वर और पहुँचे हुए भिक्खु थे। कथाकार भी वह अनुपम थे। जो एक बार उनकी गाथाएँ सुन लेता जीवन-पर्यन्त भूलता नहीं था।

बड़ी मधुर वाणी थी और वर्णन-क्षमता का तो कहना ही क्या । वर्ण्य-विषय का ऐसा सजीव चित्रण करते थे कि श्रोताओं के समक्ष एक चित्र-सृष्टि ही खड़ी हो जाती थी । जो भी सुनने बैठता अपने तन-बदन और दीन-दुनिया की सुधि भूल जाता था ।

उनकी वाणी का ओज और प्रभविष्णुता अद्भुत थी । यों चुटकी बजाते बड़े-से-बड़े रागी को विरागी बना देते थे । चार शब्द सुनते ही बड़े-से-बड़े श्रीमन्त के मन में धन-सम्पदा से विरक्ति उत्पन्न हो जाती थी । किसी को भी पीत चीवर धारण करवा देना उनके बायें हाथ का खेल था । बड़ा-से-बड़ा विषयी विरक्त होकर भिक्खु बन जाता था । अनुराग और विषय-वासना से माती स्त्रियों को वह चार वाक्य में ही धर्माभिमुख कर देते थे । वाणी क्या थी प्रेम-दया का छलकता हुआ समन्दर था ।

आज वही घोष भगवान तथागत के परिनिर्वाण की करुण गाथा सुनानेवाले थे । साधु उपगुप्त ने सभी को निमंत्रित किया था । भिक्खु घोष ने प्रतिज्ञा की थी कि आज अपनी वाणी के प्रताप से या तो कुणाल के नेत्रों की ज्योति लौटा लाऊँगा या गंगा में डूब मरूँगा । सारे नगर में हलचल मच गयी थी। एक-एक व्यक्ति अपने सभी काम छोड़कर कुक्कुटाराम की ओर भागा जा रहा था । घोष ने सभी को एक-एक स्वर्ण-पात्र लाने को कहा था । परिनिर्वाण की गाथा सुनाकर भिक्खु घोष प्रत्येक व्यक्ति के मन की करुणा जाग्रत करेंगे और उनके प्रेमाश्रुओं को स्वर्ण-पात्रों में संचितकर उस जल से कुणालकुमार के नेत्र धोये जायेंगे । घोष ने प्रतिज्ञा की थी कि यदि उनके इस उपचार से कुणाल की दृष्टि न लौटी तो वह गंगा में जलसमाधि ले लेंगे ।

सारा कुक्कुटाराम खचाखच भर गया । एक ऊँची वेदी पर भिक्खु-श्रेष्ठ घोष बैठे थे । उनके सामने यथाक्रम महापरिव्राजक मोगलिपुत्त तिस्स, महाराज अशोक, राधागुप्त, आदि राजपुरुष और एक सहस्र भिक्खु, सभी धर्म महामात्य और नगर-जन बैठे हुए थे ।

एक सहस्र भिक्खुओं की पाँतें सभी की दृष्टि को अनायास ही आकर्षित किये ले रही थीं । कितना दिव्य और अनुपम दृश्य था ! प्रत्येक भिक्खु पद्मासन लगाये, दृष्टि को नासाग्र पर स्थिर किये, अधोमुख बैठा था । प्रत्येक के

हाथ में एक-एक कमल-पत्र था। सब स्थिर बैठे थे। जरा-सी भी गति दिखाई नहीं देती थी। सब भिक्खुओं के चेहरों पर प्रेम और अवैर की ज्योति जगमगा रही थी। राग-द्वेष से सभी परे हो चुके थे। सब-के-सब एक ध्यान, एक दृष्टि, एक कान, एक मन बने बैठे थे। किसी का जैसे पृथक् व्यक्तित्व रह ही नहीं गया था। सब के व्यक्तित्व एक समष्टि में लय हो गये थे। एक सहस्र भिक्खुओं की वह समष्टि श्रद्धा और आस्था की अखंड ज्योति जलाये, प्रेम-दया की समिधा लिये, जीवन-यज्ञ में आहुति देने के लिए निश्चल बैठी थी।

अभी भिक्खु-श्रेष्ठ घोष ने अपनी गाथा आरम्भ नहीं की थी, परन्तु प्रत्येक हृदय उस सर्वस्पर्शिनी करुणा का अनुभव कर रहा था। वातावरण ही करुणा से आप्लावित हो उठा था। प्रत्येक मनुष्य को ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो उसके हृदय से एक छोटी-सी प्रेम-पगडंडी आरम्भ होकर अन्य हृदयों के साथ जुड़ती चली जा रही हो। प्रत्येक व्यक्ति का मन उस पगडंडी पर चलता हुआ दूसरे के मन का आलिंगन कर रहा था।

चारों ओर निस्तब्धता थी। किसी के साँस लेने का स्वर तक नहीं सुनाई देता था, न किसी के नेत्रों का स्फुरण ही परिलक्षित होता था। समय भी जैसे स्थिर हो गया था। प्रेम का अनादि-अनन्त प्रवाह शान्त, निराकुल उदधि के निश्चल वक्ष की भाँति क्षितिज तक विस्तारित होता चला गया था।

और जब भिक्खु घोष ने गाथा आरम्भ की उस समय का तो कहना ही क्या! कथा का एक-एक प्रसंग श्रोताओं के मन में अनन्त करुणा और अपरिमित वियोग का अश्रुप्लावन करने लगा।....भगवान तथागत शालि वृक्षों के बीच लेटे हैं। भिक्खु आनन्द एक वृक्ष के सहारे उदास मुख आँसू बहाता हुआ खड़ा है। यह सुनते ही श्रोताओं के हृदय गद्गद हो उठे। उस महान आत्मा के वियोग की पीड़ा तीक्ष्ण शरों की भाँति हृदय को बेधने लगी। प्रत्येक हृदय में प्रेम की पीर जाग उठा और सभी के नेत्रों से आँसू बहने लगे।

श्रोताओं के नेत्रों के समक्ष महापरिनिर्वाण का दृश्य साकार हो उठा। यह था भिक्खु-श्रेष्ठ घोष की वाणी का चमत्कार। श्रोता आनन्द की सिसकियों को स्पष्ट सुन रहे थे और घोष की वाणी के रागात्मक सम्बन्धों ने स्वयं उनकी सिसकियों का तार बाँध दिया था। सबके आँसू बहने लगे थे।

लेकिन वे आँसू शोक के नहीं थे, वेदना के नहीं थे। अनन्त प्रेम-वियोग की व्यथा के वे आँसू थे। एक महापुरुष इस धरती से सदा के लिए विदा हो रहा था। अब यह धरती उसका मुँह कभी न देख सकेगी। उसकी वाणी कभी न सुनी जा सकेगी। इस धरती की रज को उसके पावन पदों का स्पर्श कभी न होगा। उसकी प्रेम-करुणा दृष्टि अब कभी देखने को न मिलेगी। यही तो वह क्षण होता है जब मनुष्य का सारा प्यार उद्वेलित हो उठता है। इसी समय तो यह ज्ञान होता है कि मनुष्य कितना प्यारा और कितना सुन्दर है! मनुष्य के विदा होने के क्षण में ही तो हम यह जान पाते हैं कि अपने अज्ञान से, हृदय-स्थित राग-द्वेष और अहंकार से हमने कितनों को सदा के लिए गँवा दिया है। इसी क्षण में तो हमारा हृदय प्रेम की अंजलि भरकर आत्मा के चरण पखारता और पावन होता है।

ऐसा ही वह क्षण था। प्रत्येक श्रोता के नेत्रों से आँसू की धाराएँ बह रही थीं। एक सहस्र भिक्खु पद्मासन में बैठे नेत्रों से प्रेमाश्रु गिरा रहे थे और उनके वे आँसू कमल-पत्रों पर सच्चे मोतियों की भाँति जगमगा रहे थे। शत-सहस्र हृदय वियोग के दुःख से कातर हो उठे थे और उनकी आँखों के आँसू स्वर्ण-पात्रों में टपाटप गिर रहे थे। प्रत्येक हृदय यही पुकार रहा था कि किसी को विरह का दुःख न हो, किसी अंग को प्राणों के विरह की पीड़ा न भुगतना पड़े, राग-द्वेष और ईर्ष्या का दुःख किसी को भी सहना न पड़े।

सभी की अश्रुभीनी प्रेम दृष्टि अन्तर की आर्द्र उष्मा लिये कुणालकुमार के नेत्रों का आलिंगन कर रही थी। साधु उपगुप्त ने कहा था कि मानव आत्मा को निखारनेवाले इन्हीं पावन अश्रुओं से कुणालकुमार की आँखें धोई जायेंगी और उनका अन्धापन मिट जायेगा। क्योंकि अन्धापन वहीं है जहाँ हृदय नहीं; जहाँ हृदय है वहाँ अन्धापन टिक नहीं सकता।

महापरिव्राजक मोगलिपुत्त तिस्स, जिसे समस्त पाटलिपुत्र भदन्त उपगुप्त के नाम से जानता था, प्रेमाश्रु बहाते हुए उस अलौकिक दृश्य को देखता रहा और देखता ही रहा और तब उसने उमड़ते हुए समुद्र और घुमड़ते हुए बादलों-जैसे गहन-गम्भीर स्वर में कहा :

'हे अतीत के अतीत! हे प्रेमसागर! तेरे निकट महाकाल भी एक नन्हा-

सा अबोध शिशु ही है। जब वह अबोध शिशु तेरी गोद में आकर क्रीड़ा करने लगता है तो मानव-मात्र के समस्त दुःख-क्लेश, शोक-वेदना, राग-द्वेष, अज्ञान-अन्धकार प्रेम में परिवर्तित हो जाते हैं। तू सब-कुछ को प्रेम में परिवर्तित कर उसे मानव-जाति की शान्ति के लिए हृदय-यात्रा के हेतु प्रवाहित कर देता है। तेरे लिए कुछ भी असम्भव नहीं, कुछ भी अगम्य नहीं, कुछ भी अज्ञेय नहीं, कुछ भी अज्ञात नहीं। तू जब जो चाहता है वही होता है। हम सब के प्रेमाश्रुओं की अंजलि, हे अतीत के अतीत, तेरी प्रेम-सरिता में प्रवाहित हो! तेरी प्रेमांजलि अन्धकार को प्रकाश दे, अज्ञान को ज्ञान दे, ज्ञान को हृदय दे; अंग-अंग को प्राण प्रदान करे और प्राण को प्रेम दे। हे अतीत के अतीत, सब-कुछ सफल हो, सजीव हो, सचेतन हो। कहीं जड़ता न रहे, कोई निष्प्राण न रहे, तेरी अपार शक्ति में सब-कुछ पकाशवान हो। कहीं अन्धकार न रहे; किसी के मन में अन्धकार न हो, किसी के हृदय में अन्धकार न हो, किसी के नेत्र में अन्धकार न हो, अन्धकार में भी अन्धकार न हो, वहाँ भी प्रकाश की किरणें जगमगा उठें। हे अतीत के अतीत, तेरी प्रेम-सरिता यहाँ हमारे हृदयों में भो प्रेम की सरिता को प्रवाहित करे। हमारी आर्त वेदना में से प्रकाश का उदय हो, क्योंकि प्रकाश वेदना में से ही उत्पन्न होता है और वेदना प्रेम से उद्भूत होती है। हे अतोत के अतीत, आज तेरा एक अबोध बालक तेरे प्रकाश की केवल एक किरण माँग रहा है और तेरे यहाँ तो लक्षकोटि किरणें पड़ी हुई हैं। हे प्रेमस्वरूप अतीत, तू हमारा निर्माण करता है, तू हमारी रक्षा करता है, तू हमार पोषण करता है, तू हमारा पालन करता है, तू हमें आगे बढ़ाता है। हम सब तेरी प्रेमार्द्र दया के, तेरी इच्छा के खिलौने हैं। तेरी प्रेम-सरिता सभी को आप्लावित करे। तेरी प्रेम-सरिता के जल-बिन्दुओं से प्रकाश की ज्योति प्रकट हो। हे अतीत के अतीत, तेरी प्रेमार्द्र सरिता हम सब का अभिसिंचन करे और हमारी श्रद्धा के प्रेमाश्रु तेरा अभिषेक करें और हे दयामय तेरी केवल मात्र एक किरण तेरे एक अबोध बालक के लिए यहाँ प्रकट हो और सत्य की जय हो!'

उसके बाद साधु उपगुप्त अपने स्थान से एक स्वर्ण-पात्र लेकर उठा और भिक्खुओं के कमल-पत्रों तथा अन्यान्य जनों के स्वर्ण-पात्रों में संचित प्रेमाश्रुओं का संग्रह करने लगा। और सभी उपस्थित व्यक्ति साश्चर्य उसकी ओर देखने लगे।

३६ : : कुमार उपराज

घोष की भिषग्विद्या, मंत्रद्रष्टा की निष्ठा, साधु उपगुप्त की साधना, भगवान तथागत की कृपा, प्रेमाश्रुओं का प्रताप, इन्द्रजाल विद्या या जादू का चमत्कार कारण कोई भी क्यों न रहा हो, परन्तु कुणालकुमार का अन्धापन अवश्य मिट गया था। जो भी सुनता चकित रह जाता था। ऐसा कौतुक देखना तो दूर लोगों ने कभी सुना भी नहीं था। इस चमत्कार का एक परिणाम यह हुआ कि बौद्ध-संघ की प्रतिष्ठा पहले से बहुत बढ़ गयी। जो संघ अन्धों को आँखें दे सकता है वह क्या नहीं कर सकता! राजपरिवार में तो अब ऐसा एक भी व्यक्ति नहीं बचा जो संघ के नाम पर सर्वस्व समर्पित करने को प्रस्तुत न हो।

स्वयं कुणाल का तो रोम-रोम आभारी था। संघ उसके लिए साक्षात् परमेश्वर को तरह हो गया था। महाराज अशोक की भाँति उसने भी धर्मानुशासन और धर्म-विजय का निश्चय कर लिया था। विश्व-शान्ति की नीति को ही वह आगे बढ़ायेगा, उसी का अनुसरण करेगा।

चन्द्रगुप्त-सभा ने राजपद का निर्णय कर लिया था। महाराज अशोक शासनाधिकार छोड़ रहे थे। कुणाल राजा मनोनीत किया जा चुका था। राजप्रतिनिधि-पद पर दशरथ की नियुक्ति पक्की कर दी गयी थी।

महाराज अशोक अपने जीवन के अन्तिम कार्यों को निबटाने में संलग्न थे। राजमुकुट का बोझ तो उन्होंने अपने सिर से उतार ही दिया था। शतकोटि कार्षापण के दान के सम्बन्ध में भी मन-ही-मन समाधान कर लिया था।

सब काम निर्विघ्न सम्पन्न हुए थे और चारों ओर शान्ति मालूम पड़ती थी, लेकिन फिर भी राधागुप्त की चिन्ता और वेदना का पार न था। वह हमेशा व्यग्र रहता था। उसे यह आशंका निरन्तर सताया करती थी कि कहीं मगध छिन्न-भिन्न न हो जाये। एक यही चिन्ता उसे अन्दर-ही-अन्दर खाये जाती थी। हर क्षण उसे ऐसा प्रतीत होता था, मानो निकट भविष्य में ही कोई भयंकर राज्य-क्रान्ति होगी, जबर्दस्त उथल-पुथल मचेगी। राजपरिवार में किसी को ऐसी आशंका नहीं थी। सेनापति और सेनानायक सब निश्चिन्त थे। जनसाधारण हजारों की संख्या में बुद्ध-धर्म-संघ के अनुयायी हो रहे थे। किसी को क्रान्ति, आक्रमण या उथल-पुथल का कोई डर नहीं था। परन्तु राधागुप्त उसे हिमालय-

पार से आता हुआ स्पष्ट देख रहा था। अलिकसुन्दर की विश्व-विजय की महत्वाकांक्षा छोटे-बड़े सभी राज्यों में जाग उठी थी और सब-के-सब जोर-शोर से सैनिक तैयारियाँ कर रहे थे।

उन्हें रोकनेवाला पाटलिपुत्र में तो राधागुप्त को कोई दिखाई नहीं देता था। पश्चिमी सीमान्त पर अकेला एक जालौक था। एक वही विदेशी आक्रान्ताओं को रोक सकता था। राधागुप्त उसे तक्षशिला का प्रादेशिक बना देना चाहता था, जिसमें जालौक की महत्वाकांक्षा की पूर्ति भी हो जाये और साम्राज्य की वह दिशा सुरक्षित और दृढ़ की जा सके। क्योंकि भय यह था कि हिमाचल से कलिंग-समुद्र तक एक सहस्र योजन विस्तारवाला सार्वभौम भारतवर्ष कहीं टुकड़े-टुकड़े न हो जाये। भगवान कौटिल्य ने अपने अथक परिश्रम से भारतवर्ष के छोटे-बड़े राज्यों और प्रदेशों को एक लड़ी में पिरोया था; व्यापार, वाणिज्य, कला-कौशल और उद्योगों का विस्तार हुआ था; 'अन्न के बदले अन्न', 'वस्तु के बदले वस्तु' की अर्थ-व्यवस्था के स्थान पर कार्षापण का उपयोग प्रचलित किया गया था और वह स्थिर भी हो चला था। इस प्रकार देश की आर्थिक स्थिति दृढ़ हुई थी और भारतवर्ष विश्व-व्यापार का केन्द्र बन गया था। लेकिन राजनीतिक स्थिरता अभी तक भी नहीं स्थापित की जा सकी थी। यह सच है कि महाराज अशोक ने साम्राज्य की सीमाओं का अभूतपूर्व विस्तार किया था। यह भी सच है कि सहस्र योजन विस्तारवाला भारतीय साम्राज्य पहले कभी नहीं था। यह भी सच है कि अपनी विश्व-शान्ति और अहिंसा की नीति का महाराज अशोक ने देश-देशान्तरों में सफलतापूर्वक प्रचार किया था। अभूतपूर्व वैचारिक क्रान्ति हुई थी। महाराज के धर्म-महामात्य वन-कान्तारों, नदी-समुद्रों और मरुस्थल-पहाड़ों के भी पार जाकर भारत की धर्म-नीति को निरन्तर प्रचारित करते रहते थे। लेकिन राधागुप्त को घर-आँगन ही सुरक्षित नहीं दिखाई पड़ता था। विदेशी शासन भारत के बलाबल का निर्णय उसकी शान्ति-नीति से नहीं सैनिक नीति और सैन्य-बल से करने के अभ्यस्त थे। राधागुप्त की व्यग्रता इस बात को लेकर भी थी कि किसी ने अलिकसुन्दर की तरह आक्रमण कर दिया तो क्या होगा?

राधागुप्त का यह भय काल्पनिक नहीं वास्तविक था। सच ही महान मगध-

साम्राज्य के पाये डगमगाने लगे थे। आन्ध्र के प्रदेशपति सीमुक का एक धमकी-भरा सन्देश अभी कल ही महाराज अशोक के नाम आया था। महाराज अशोक ने वह सन्देश कुणालकुमार को दिया था और उसी पर विचार करने के लिए महाराज के राजप्रासाद में रात के समय सभी राजपुरुष एकत्रित हुए थे। मगध की भावी राजनीति को निर्धारित करने की दृष्टि से इस सभा का बड़ा महत्व था। उस सभा में स्वयं महाराज अशोक थे, राजमाता कांचन-माला थी, कुणालकुमार था, दशरथ था, उसका छोटा भाई सम्प्रति था, सेना-पति हिमवन्त भी आया था, राधागुप्त तो था ही, जालौक को भी बुला लिया गया था। इसी सभा में महाराज अशोक अपने वानप्रस्थ के निश्चय की भी घोषणा करने को थे।

सब चुप बैठे सीमुक के सन्देश पर विचार कर रहे थे। आन्ध्र के उस प्रदेशपति ने बड़े ही स्पष्ट शब्दों में लिखा था कि महाराज अशोक अपने धर्मानुशासन के सन्देश को हमारे प्रदेश में सहर्ष भेज सकते हैं, औषधालय भी स्थापित कर सकते हैं, औषधियों के लिए वनस्पतियाँ भी लगवा सकते हैं, पशुशालाएँ भी निर्मित कर सकते हैं, परन्तु यह सब हमें प्रदेशपति नहीं, मगध का स्वतंत्र मित्र समझकर ही करें। वह चाहता था कि आगे से उसका विरुद प्रदेशपति नहीं, आन्ध्रपति हो। उसने यह भी लिखा था, महाराज भले ही धर्म-यात्रा के लिए आयें, परन्तु हमें अपना स्वतंत्र पड़ोसी समझकर ही आयें। आन्ध्र अपने मामलों में स्वतंत्र हो। स्वयं महाराज अशोक इस आशय की घोषणा करें; ऐसी घोषणा उनकी विश्व-शान्ति की नीति के अनुरूप ही होगी; राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का निपटारा युद्ध से नहीं विचार-विनिमय से ही होना चाहिए।

आन्ध्रपति के इस सन्देश का आशय स्पष्ट था। वह अपने प्रदेश का स्वतंत्र राजा बनना चाहता था। आज वह आरम्भ कर रहा था, कल दूसरे उसका अनुसरण करेंगे।

'यदि ऐसा हुआ महाराज, तो कल उज्जयिनी, परसों कलिंग और नरसों सौराष्ट्र भी ऐसी ही धमकी देंगे। और हो सकता है कि काश्मीर के प्रदेशपति यह जालौक भी ऐसी ही बात कहें। आखिर हमारी शान्ति-नीति की कोई मर्याद ा तो होनी ही चाहिए।'

'तो उपाय क्या है राधागुप्त ? क्या तुम यह कहना चाहते हो कि एक प्रदेश-पति के कारण मगध अपनी शान्ति-नीति का परित्याग कर दे ? जिस युद्ध को तिलांजलि दी जा चुकी है उसी को अपनाये ?'

'हाँ महाराज, उपाय तो यही है। जो दंड विद्रोही के लिए है वही इसके लिए भी है। हिमवन्त को वहाँ जाने के आदेश प्रदान किये जायें।'

'क्या युद्ध करने के लिए ?'

'जी नहीं, युद्ध करने के लिए नहीं।' राधागुप्त ने कुछ तीक्ष्ण स्वर में कहा, 'समझाने के लिए। कुछ लोग शान्ति का सन्देश पीत चीवरधारियों से ग्रहण करते हैं, कुछ मूर्ख शस्त्रों की भाषा से सीखते हैं।'

'राधागुप्त, हमने तो मगध के लिए शान्ति की एक नीति निर्धारित कर दी है। अब देखना यह है कि तुम लोग उस नीति को आगे बढ़ाते हो या पुनः युद्ध और सर्वनाश के मार्ग पर लौट जाते हो। हम तो निवृत्त हुए। अपनी राजनीति अब तुम्हीं को निर्धारित करनी है। हम यह जानना चाहते हैं कि तुम, कुणाल, हिमवन्त, दशरथ सब मिलकर क्या निर्णय करते हो। कुणाल-कुमार क्या कहते हैं ?'

'महाराज, मुझे जो कुछ कहना था तक्षशिला में कह चुका और करके दिखा भी चुका। सामनेवाला भले ही न समझे, लेकिन यदि हम समझ सकें तो युद्ध अपने-आप असम्भव हो जाता है। महाराज की शान्ति-नीति में मेरी पूरी आस्था है और मैं उससे एक जौ बराबर भी इधर-उधर होना नहीं चाहता। महत्व इस बात का नहीं है कि सामनेवाला क्या समझता है; महत्व इस बात का है कि हम स्वयं क्या समझते हैं ! प्रदेशपति न कहकर हम आन्ध्रपति ही कह दें, प्रादेशिक के स्थान पर मित्र ही समझ लें तो क्या अन्तर पड़ता है ? प्रदेश तो कहीं आता-जाता नहीं, रहेगा तो वह भारत में ही। यदि आन्ध्रपति मानकर हम उसे अपना बनाये रख सकें तो बुरा क्या है ?'

कुणाल की यह बात सुनकर राधागुप्त तो मुँह बाये देखता ही रह गया। तो यह है मगध की भावी राजनीति ! उसका जी चाहा कि अपना माथा ही पीट ले !

फिर महाराज अशोक ने हिमवन्त से पूछा—तुम क्या कहते हो ?

'महाराज, मैं तो सेनापति हूँ। महाराज कुणालकुमार की आज्ञा का पालन करना मेरा धर्म है। आन्ध्रपति के शान्ति-नीति ग्रहण करने का अर्थ होगा कि दूसरे सभी प्रदेशपति भी शान्तिपथ-गामी हों। इससे अच्छी बात और क्या हो सकती है! युद्ध का अन्त और शान्ति-नीति की स्थापना मगध की घोषित राजनीति हो देव!'

हिमवन्त के इस उत्तर ने राधागुप्त की रही-सही आशा भी तोड़ दी। तभी दशरथकुमार ने मुँह खोला और राधागुप्त उत्सुक होकर सुनने लगा—दादाजी, मनुष्य-मनुष्य के बीच का युद्ध तो रोका जा सकता है, क्योंकि मनुष्य को वाणी मिली है। परन्तु सम्प्रति तो यह कहता है कि मनुष्य और अबोल पशुओं के बीच भी अब नया सम्बन्ध स्थापित होना चाहिए। यदि पशु बोल सकते तो कितनी वेदना प्रकट करते? निर्ग्रन्थों ने क्या ही सच कहा है कि जहाँ कोई किसी को नहीं मारता सुशासन वहीं है। दादाजी, मैं तो ऐसा ही सुशासन स्थापित करना चाहता हूँ।

'और मैं भी।' सम्प्रति ने कहा।

राधागुप्त समझ गया कि अब मेरे दिन पूरे हुए। जितनी जल्दी निवृत्त हो जाऊँ उतना ही अच्छा! राजा तो यहाँ कोई रहा नहीं। सब-के-सब भिक्खु बन बैठे। दैनन्दिन शासन-कार्य करने जितनी व्यावहारिक बुद्धि भी इन लोगों में नहीं रही। शासन के सिंहासन पर बैठकर शान्ति-मंत्र का जाप कर रहे हैं। इन्हें समझाकर भी क्या होगा? और क्या ये समझेंगे? शायद उस दिन समझें जब शत्रुदल पाटलिपुत्र में घुस आये और इनके कपड़े-लत्ते तक लूट ले जाये। हो सकता है कि उस दिन भी न समझें, शान्ति के नाम की रट लगाते रहें। इस समय कुछ न कहना ही अच्छा है। इसलिए वह चुप रहा। परन्तु मन-ही-मन उसने एक निश्चय कर लिया था। जालौक को उसका वास्तविक उत्तराधिकार अब दिलवा ही देना चाहिए। सबसे अधिक संकट पश्चिमोत्तर सीमान्त पर ही है। कम-से-कम वह दिशा तो सुरक्षित हो जाये। जालौक उस दिशा की रक्षा कर सकता है। उसमें शक्ति है, सामर्थ्य है। तो वही हो वहाँ का कुमारामात्य। कुणाल के वहाँ होने का अर्थ होगा पूर्ण पराजय। एक तो वह कभी युद्ध के लिए प्रस्तुत न होगा और हो भी गया तो एक ही चाल में मात खा जायेगा।

उसकी शान्ति-नीति योन, गांधार, यवन, ग्रीक सभी को आक्रमण के लिए प्रोत्साहित करेगी। ग्रीक तो अभी से मँडराने लगे हैं। काश्मीर में उन्होंने अपना जाल बिछाना आरम्भ कर भी दिया है। ऐसी स्थिति में यदि जालौक को वहाँ का 'कुमार उपराज' बना दिया जाये तो वह दिशा सुरक्षित हो जायेगी और जालौक यहाँ के सिंहासन के लिए ललचायेगा भी नहीं।

उसने जालौक से इस सम्बन्ध में चर्चा कर भी ली थी। जालौक राजी भी हो गया था। राधागुप्त के कथनानुसार वह तक्षशिला का 'कुमार उपराज' बनने को प्रस्तुत था। राधागुप्त के इस तर्क से कि तक्षशिला की रक्षा करके वह मगध-साम्राज्य की रक्षा कर सकता है, वह पूर्णतः सहमत था। दोनो में यह मौन समझौता हो गया था कि जालौक मगध के सिंहासन का अपना दावा छोड़ देगा और राधागुप्त उसे तक्षशिला का कुमारामात्य नियुक्त करवा देगा।

अभी अवसर आया जान राधागुप्त ने महाराज अशोक से कहा—महाराज, मेरे पास वर्षों पुरानी यह चीज पड़ी हुई थी। आज आपको सौंप रहा हूँ।

और उसने जालौकवाली वह रत्न-मुद्रिका महाराज के हाथों में थमा दी।

उसे देखते ही महाराज को सारा भूतकाल याद हो आया और उन्होंने चकित होकर कहा—यह तुम्हारे पास कैसे आयी ? यह तो पद्मिनी की है।

'हाँ महाराज, पद्मिनी देवी की ही है। इस पर जिस जालौक का नाम अंकित है वह काश्मीर के हमारे यही प्रदेशपति जालौक हैं। महाराज इन्हें स्वीकार करें और तक्षशिला के कुमार उपराज के समस्त अधिकार प्रदान करें। हमारी वह सीमा सुरक्षित होगी और मगध में उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर संघर्ष भी न होगा।'

'लेकिन यह तो युद्ध-नीति का समर्थक है राधागुप्त। और हम युद्ध नहीं चाहते। कलिंग का युद्ध हमारे और विश्व के लिए भी अन्तिम युद्ध था।'

'और अन्तिम ही रहेगा देव ! जब तक जालौक वहाँ रहेंगे किसी आक्रान्ता का साहस इधर दृष्टि डालने का न होगा। इनका प्रताप ही ऐसा है। यह नियुक्ति प्रजा के हित में ही है महाराज ! जो शान्ति के समर्थक नहीं और भेड़-बकरियों की भाँति प्रजा का वध करते रहते हैं उनके आगे शान्ति की बातें करना भयंकर अशान्ति को जन्म देना है। मुझे ऐसी ही अशान्ति की सम्भा-

बनाएँ दिख रही हैं देव। इसलिए प्रदेशपति जालौक को वहाँ सब तरह से प्रस्तुत रहने और सेना सज्जित करने की पूरी स्वतंत्रता होनी चाहिए।'

महाराज अशोक ने इसे स्वीकार कर लिया। जालौक को तक्षशिला के कुमार उपराज का नूतन अधिकार और पद प्रदान कर दिया गया। महाराज की हैसियत से अशोक के द्वारा की गयी यह अन्तिम नियुक्ति थी।

उसके बाद महाराज अशोक उठ खड़े हुए। उन्होंने अपने राजभवन को प्रणाम किया। उन्हें इस बात का सन्तोष और हर्ष था कि यहाँ उनकी धर्म-विजय की नीति ही अन्तिम और सर्वोपरि रहेगी। फिर उन्होंने चारों ओर देखकर सबको प्रणाम किया और वहाँ से चल पड़े।

पाँव-पयादे धीरे-धीरे चलते हुए महाराज अशोक अशोकाराम की ओर जा रहे थे। महाराज मगधपति विदा ले रहे थे। भिक्खु अशोक अवतीर्ण हो रहे थे। देवानांप्रिय अपना अन्तिम जीवन अशोकाराम को, बौद्ध-संघ को समर्पित करने के लिए चले जा रहे थे।

बहुत दूर जाकर वह ठिठके, उन्होंने मुड़कर एक बार अपने राजप्रासाद को देखा, दोनो हाथ जोड़कर उसे प्रणाम किया और फिर धीरे-धीरे चलते हुए पाटलिपुत्र नगर के बाहर निकल गये।

और राजप्रासाद में गम्भीर मौन छाया रहा।

३७ : : शतकोटि का अर्द्ध आमलक

महाराज अशोक अब अपना अधिकांश समय अशोकाराम में ही व्यतीत करते थे। वह राजा थे। सत्ताधारी भी समझे जाते थे। प्रजा अब भी उन्हीं को मगधपति मानती थी। लेकिन वह स्वयं सभी बाधा-बन्धनों से परे हो गये थे। अपने मन से वह कुछ नहीं थे। थे तो केवल साधु। परन्तु एक शल्य अब भी उनके हृदय में चुभा हुआ था और जो निरन्तर खटकता रहता था।

राधागुप्त इसे जानता था। कुणाल से भी बात छिपी हुई नहीं थी। परन्तु कोई कुछ कर नहीं सकता था; उस शल्य को निकालना किसी के लिए सम्भव नहीं था। चन्द्रगुप्त-सभा संघ के नाम पर एक कार्षापण भी देने को तैयार नहीं थी। और जब तक चन्द्रगुप्त-सभा रहती स्थिति यही रहने को थी। और राधागुप्त

अपने जीते-जी चन्द्रगुप्त-सभा की इस परिपाटी को भंग नहीं होने दे सकता था। राधागुप्त यह भी देख रहा था कि महाराज की राजनीति प्रदेशपतियों की महत्वाकांक्षा को उत्तेजित करती है। आगे चलकर इसका परिणाम विपरीत भी हो सकता था। लोग अभी से डरने लगे थे। तक्षशिला में कुमार उपराज जालौक की नियुक्ति ने वैसे कई लोगों को निश्चिन्त कर दिया था। परन्तु साम्राज्य का अस्तित्व अब भी संकट में पड़ा हुआ था। राधागुप्त उसे बचाने के लिए हर सम्भव-असम्भव प्रयत्न करता रहता था। एक सहस्र योजन विस्तारवाले महान साम्राज्य को खो देना ऐसी-वैसी क्षति न होती।

लेकिन राधागुप्त स्वयं अपने मन में यह समझने लगा था कि अब मेरे दिन लद गये हैं। वह बड़ी तीव्रता से अनुभव करने लगा था कि अब मुझे भगवान कौटिल्य की भाँति राजनीति से निवृत्त होकर हिमालय की ओर चल देना चाहिए। कुणालकुमार, दशरथकुमार और सम्प्रतिकुमार तीनों ही कुमारों की मनोदेशा एक-जैसी थी—तीनों-के-तीनों धर्मनीति के कट्टर उपासक थे—धर्म-यात्राओं में उनकी एकान्त आस्था थी। ऐसी स्थिति मे राधागुप्त के लिए हिमालय ही एकमात्र आश्रय-स्थल था। वह जल्दी-से-जल्दी भारतवर्ष की संस्कृति के उस महान स्रोत की गोद में पहुँच जाना चाहता था। एक तरह से यह अच्छा ही हुआ कि तक्षशिला में जालौक की नियुक्ति हो गयी। वह सजग और सचेत शासक था, मगधपति का सहायक भी था। उसका जन्म-रहस्य महाराज अशोक के आगे प्रकट भी कर दिया गया था। इस प्रकार मगध के सिंहासन के लिए होनेवाला अनिवार्य संघर्ष अभी तो टल गया था। यह राधागुप्त की सामान्य सफलता नहीं थी। जब मगध-साम्राज्य के स्तम्भ डगमगाने लगे थे, उसने जालौक को इस्पात के पाये की तरह साम्राज्य के साथ जोड़ दिया था।

यह अन्तिम कार्य भी पूरा हुआ, अब उसे चल देना चाहिए था। लेकिन राधागुप्त ठहरा जन्मजात आशावादी। वह मगध के सभी पायों को ठोस कर देना चाहता था। उसका यह दृढ़ विश्वास था कि भारतवर्ष तभी टिक सकता है जब मगध सार्वभौम साम्राज्य हो। महाराज अशोक की विश्व-शान्ति की नीति भी तभी टिक सकती थी। नहीं तो राज्य-क्रान्ति आकर रहती।

वैसे राज्य-क्रान्ति आ ही रही थी। अभी यह कहना कठिन था कि वह किस दिशा से आयेगी। लेकिन इतना निश्चित हो गया था कि क्रान्ति अब किसी के रोके रुकेगी नहीं। और उसे रोकनेवाला, उसका सामना करनेवाला मगध में था ही कौन? पाटलिपुत्र में अकेला सेनापति हिमवन्त था, जो क्रान्ति के आगे पहाड़ की चट्टान की भाँति खड़ा हो सकता था। यदि वह रोक सका तो मगध के साम्राज्य की रक्षा हो जायेगी। परन्तु क्या वह रोक सकेगा? और क्या क्रान्ति रुकेगी? मगध के मुकुटधारियों का जो रंग-ढंग था उसे देखते तो क्रान्ति का रुकना और रोका जाना असम्भव ही लगता था।

तो क्यों न वही विदा हो जाये? वानप्रस्थ तो उसके लिए भी है। हिमालय तो उसे भी पुकार रहा है। अब जाना ही ठीक रहेगा। इस निश्चय के साथ राधागुप्त ने सेनापति हिमवन्त को मिलने के लिए बुलाया।

हिमवन्त उससे मिलने के लिए आया और उसे विदा के लिए तत्पर देखकर चकित रह गया। राधागुप्त लगभग संन्यासी के वेश में एक कुशासन पर बैठा हुआ था। पास ही कमंडल पड़ा था, मालाएँ रखी थीं, भगवे कपड़ों की गठरी बँधी हुई थी, और भी इसी प्रकार का कुछ साहित्य वहाँ रखा था। उसका मन विरक्त और दृष्टि आत्म-चिन्तन से पूर्ण प्रतीत होती थी।

हिमवन्त को उद्देश्य कर उसने शान्त, गहन, विषादपूर्ण स्वर में कहा—सेनापति, भगवान तथागत ने ही कहा है कि प्रिय-से-प्रिय वस्तु का वियोग भी अवश्यम्भावी है। मुझे यह पाटलिपुत्र नगर स्वर्ग से भी अधिक प्रिय था और आज भी है। परन्तु मैं एक सप्ताह के अन्दर ही यहाँ से विदा हो जाऊँगा। मैंने तुम्हें इसी लिए बुलवाया है। मैं आज तुमसे अपने मन की कुछ बातें कहना चाहता हूँ। आज जो मगधपति हैं वे सब-के-सब मेरी गोद के खेले हुए बच्चे हैं, लेकिन मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि अब वे मेरा कहना मानेंगे नहीं। मुकुटधारी होकर भी उनमें कोई राजा नहीं है। सब-के-सब मन से भिक्खु बन गये हैं। लेकिन उनका विरोध करने की अपेक्षा तो यही अच्छा है कि मैं जलसमाधि ले लूँ। जिन्हें गोद में खिलाकर बड़ा किया उनका क्या विरोध करूँ? उन्हें अपनी मनमानी करने से अब मैं रोक नहीं सकता। इसलिए यही उचित समझता हूँ कि यहाँ से चला जाऊँ। यहाँ रहते हुए मगध

के खंडहरों को देखना मेरे बस का नहीं। वैसे मेरे दिन भी अब पूरे हुए। हिमालय पुकार रहा है। आज नहीं तो कल जाना ही होगा। तो फिर देर क्यो! क्यों न आज ही चल दूँ। मैंने यही कहने के लिए तुझे बुलवाया है। हिमवन्त, तू ब्राह्मण है, मगध का ब्राह्मण सेनापति है। अब मगध के गौरव की रक्षा और परम्परा का निर्वाह तुझे करना होगा। सभी विपदाओं के सामने दृढ़ चट्टान बनकर तुझे खड़ा रहना होगा। मगध के शिशु सम्राटों की और समस्त मगध-सम्राज्य की रक्षा का भार अब तुझ पर है।

'मैं जानता हूँ कि तू प्राण देकर भी इस दायित्व को पूरा करेगा। लेकिन मैं मगध-साम्राज्य के क्षितिज पर उठती काली बदलियों को भी देख रहा हूँ। तू भी आँखें गड़ाये देखते रहना। मेरी इस बात को गाँठ बाँध ले कि एक दिन आन्ध्र, कलिंग, सौराष्ट्र या काश्मीर या कोई और प्रदेश इस मगध-साम्राज्य को निगल जायेगा। मगध के शान्ति-सन्देशों और शान्ति-नीति के प्रयत्नो के बावजूद यह होकर रहेगा। उस समय देशपति जाये तो जाने देना, वंश-परिवर्तन हो तो होने देना; परन्तु देश को टिकाये रखना। भारत की एकता और अखंडता खंडित न होने पाये। आज की तो हवा ही कुछ और है—न सेनाएँ संगठित की जा सकती हैं, न सेनाओं का संचालन किया जा सकता है और न लोगों को युद्ध के लिए प्रेरित ही किया जा सकता है। इसका अवश्यम्भावी परिणाम यह होगा कि कोई शक्तिशाली, हिंसा का समर्थक, शान्ति की अवगणना करनेवाला देश पर आक्रमण कर देगा। उस समय सर्वस्व जा रहा हो तो जाने देना, पर देश को किसी प्रकार बचा लेना। तू अभी से उसके लिए सजग, सावधान और सन्नद्ध रहना। उस समय लोगों को मार्ग दिखाने, सेना की व्यवस्था करने, आक्रमण को निरस्त करने और देश की एकता और अखंडता को बनाये रखने का काम तेरा है। कौन राजा होता है, इसकी चिन्ता मत करना। देश की रक्षा के लिए स्वयं तुझे भी राजा बनना पड़े तो पाँव पीछे मत हटाना। एक ही बात याद रखना, देश बना रहा तो सब-कुछ बना रहेगा—देश पहले है, शेष सब उसके बाद।

'हो सकता है कि तू न रहे। परन्तु हमारा यह स्वप्न तो रहना ही चाहिए। इसलिए अपने उत्तराधिकारी सेनापति को यह स्वप्न देते जाना और कह देना

कि वह अपने उत्तराधिकारी को देता जाये। इस प्रकार यह परम्परा जीवित रहेगी, चलती रहेगी। हो सकता है कि तेरे ही वंश में कोई ऐसा नरनाहर निकल आये जो संकट की घड़ी में देश की रक्षा कर सके, उसे नये मार्ग की ओर ले जा सके, आक्रमण और अराजकता को निरस्त कर अखंड भारत की परम्परा को जीवित रख सके।

'सिद्धान्त भी तभी टिकते और काम देते हैं हिमवन्त, जब प्रजा शक्तिशाली हो। निर्बलों के लिए तो सिद्धान्त भी वितंडा बन जाते हैं। दुर्बलों के हाथ में सिद्धान्त ऐसी तलवार की भाँति हैं जो अपना ही शीश काट लेती है। ऐसी स्थिति में सिद्धान्त सर्वनाश का कारण हो जाते हैं। कोई भी प्रजा सिद्धान्तों के सहारे नहीं जी सकती; सच तो यह है कि सिद्धान्त ही प्रजा के सहारे जीवित रहते हैं और वही सच्चा जीवन होता है। प्रायः अवसरवादी सिद्धान्तों की दुहाई देने लगते हैं। बौद्ध-संघ में तूने अपनी आँखों से देखा है। महाराज अशोक को कितने हजार अवसरवादियों को संघ में से निकाल बाहर करना पड़ा। जो धर्मनीति में हुआ वही राजनीति में भी हो सकता है और होता ही है। इसलिए तू सिद्धान्तों के पचड़े में ज्यादा मत पड़ना। व्यावहारिक राजनीति को ही अपना अभीष्ट समझना। देखना, कहीं यह महान देश छिन्न-भिन्न न हो जाये। टूटना तो सरल है हिमवन्त, बनाने में, जोड़ने में हजारों वर्ष लग जायेंगे और फिर भी जोड़ा न जा सकेगा, एक न किया जा सकेगा। देश का विभाजन हृदयों का विभाजन है हिमवन्त, और विभक्त हृदय कभी जुड़ते देखे नहीं गये, इसलिए हर मूल्य पर देश की एकता की रक्षा करना।'

कहते-कहते राधागुप्त का स्वर गद्गद हो उठा। उसने और भी मन्द स्वर में कहा—अभी महाराज अशोक से विदा लेने जाऊँगा, फिर चन्द्रगुप्त-सभा से विदा लूँगा, उसके बाद पाटलिपुत्र नगर से विदा हो जाऊँगा। अखंड सार्वभौम भारतवर्ष की जय हो! हिमवन्त, अभी इस बात को अपने मन में ही रखना। किसी के आगे कहना मत।

हिमवन्त ने अश्रुप्लावित कंठ-स्वर में कहा—लेकिन प्रभु....

'मैंने सब सोच लिया है हिमवन्त। खूब-खूब सोचने-विचारने के बाद ही इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ। जाने की घड़ी आ जाने पर भी जो नहीं जाते उन्हें

बाद में पछतावा ही मिलता है।' राधागुप्त खड़ा हो गया और हिमवन्त के कन्धे पर प्रेमपूर्वक हाथ रखकर बोला, 'ब्राह्मण-श्रेष्ठ ! मुझे देश में अभिनव प्रकाश आता दिखाई दे रहा है। उसमें तू अपना कर्तव्य निभाना। तू युवक है, मैं वृद्ध हुआ।'

यह कहकर राधागुप्त ने हिमवन्त को विदा किया और स्वयं महाराज अशोक से मिलने के लिए अशोकाराम पहुँचा। वहाँ का दृश्य देखकर तो वह चकित ही रह गया।

महाराज अशोक शय्या पर लेटे हुए थे। वह रुग्ण नहीं प्रतीत होते थे, परन्तु चेहरे पर अत्यधिक खिन्नता थी। उनके सामने दस-पन्द्रह पीत चीवर-धारी भिक्खु खड़े थे, जो कहीं जाने के लिए अनुज्ञा प्राप्त करने आये हुए थे। रंग-ढंग से वे महाराज के धर्म-महामात्य मालूम पड़ते थे। उनके नेत्रों में प्रेम की विमल ज्योति थी, मुखमंडल पर विश्व-शान्ति की आभा थी। वे शान्ति के प्रचारार्थ देश-देशान्तरों, वन-कान्तारों और नदी-समुद्रों के पार भी जाने को प्रस्तुत थे। कितनी तेजस्वी मुखमुद्रा थी, कितना अनुकरणीय त्याग था ! उनके सान्निध्य में आते ही राधागुप्त को अपार शान्ति का अनुभव हुआ। उसने ध्यान से देखा तो उन पीत चीवरधारियों में उसे साधुरक्षित, महाधर्मरक्षित, माध्यमिक, महारक्षित, काश्यप और दूसरे कई श्रेष्ठ भिक्खु दिखाई दिये। उनमें से प्रत्येक के हाथ में एक-एक आँवला (आमलक) था। यह देखकर राधागुप्त को बड़ा आश्चर्य हुआ। आमलक क्यों ? आमलक तो असफलता का सूचक है !

इतने में काश्मीर की ओर जानेवाले माध्यमिक ने कह—महाराज, खिन्नता और ग्लानि को अब महाराज अपने हृदय से निर्वासित करें। प्रत्येक आरम्भ का अन्त होता है; प्रत्येक समृद्धि की सीमा होती है। महाराज ने आज खिन्नतापूर्वक भिक्खु-संघ को 'शतकोटि कार्षापण के बदले अर्द्ध आमलक भेजता हूँ, कहकर जो आधा आँवला दिया है उसने तो सहस्रकोटि कार्षापण के दान को भी फीका कर दिया। हमें तो वह असफलतासूचक लगा ही नहीं। उसे प्राप्त करके हम धर्म-विजय के लिए नये उत्साह से अनुप्राणित हो उठे हैं। भदन्त मोगलिपुत्त तिस्स ने ठीक ही कहा है, 'चलनेवाले भिक्खु का स्वागत

करने के लिए समस्त विश्व बाँहें फैलाये खड़ा है; महाराज का विश्व-शान्ति का सन्देश हिमवन्त के पार, समुद्र और वन-जंगलों के पार ले चलो। आमलक को सिर-आँखों पर चढ़ाओ! आमलक को ही स्वीकार करो!' और हम विश्व-शान्ति के सन्देश का घर-घर प्रचार करने के लिए निकल पड़े हैं। आपका अर्द्ध आमलक हमारे मन स्वर्ण मेरु के तुल्य है। महाराज की खिन्नता मिटे। ग्लानि दूर हो। महाराज का वचन परिपूर्ण हो! विश्व-शान्ति की जय हो!

'महोदयस्यापि जिनस कड्ढनं,
विहाय पत्तं अमतं सुखम्पि ते,
करिसु लोकस्स हितं तहिं तहिं
भवेय्य को लोकहिते पमादवा।'

लोक-कल्याण के लिए समस्त व्यक्तिगत सुख-साधनों का परित्याग करने की जिस महान भावना का उपदेश भगवान तथागत ने दिया था उसी महान भावना का 'धम्म मंगल' दशों दिशाओं में ले जाने की धर्म-घोषणा से भिक्खुओं ने वातावरण को गुंजारित कर दिया।

दूसरे ही क्षण समस्त भिक्खु सम्प्रदाय वहाँ आ उपस्थित हुआ और उद्घोष कर उठा:

'भगवान तथागत की जय!'

'विश्व-शान्ति विधायक महाराज प्रियदर्शी अशोक की जय!'

'संघपति साधु अशोक की जय!'

'नस्ति हि कम्मतर सब्ब लोकहितेन!'

—:०:—